हिन्दी का गद्य-साहित्य

रामचन्द्र तिवारी,
प्राध्यापक,
महाराणा प्रताप कालेज, गोरखपुर

प्रकाशक
पुरुषोत्तम मोदी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
नखास चौक, गोरखपुर

मूल्य
अजिल्द : ५॥)
सजिल्द : ६)
अप्रैल : १९५५

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस
त्रिलोचन, बनारस

दूर्वा-दलों

को

दो पृष्ठ

हिन्दी-गद्य आज, प्रौढ़ परिमार्जित और सशक्त हो गया है। उसकी विविध विधाएँ—निबन्ध, आलोचना, कहानी, उपन्यास, नाटक, एकांकी, रेखाचित्र आदि—जीवन के बहुविध रूपों को अभिव्यक्ति दे रही हैं। अन्य भारतीय तथा अभारतीय भाषाओं के सम्पर्क ने उसके अन्तर् एवं बाह्य नित नूतन रूप में ढलता जा रहा है। ज्ञान की अनेक धाराओं को समेटने की शक्ति उसमें आ रही है। अनेक पंडित, विचारक, सुधारक, तथा कलाकार उसे संवार-सुधार रहे हैं, उसमें प्राण और चेतना फूंक रहे हैं। यह सब कुछ हुआ है पिछले ५० वर्षों की अल्प अवधि में। किसी भी भाषा के इतिहास में प्रगति का यह क्रम गर्व की वस्तु हो सकता है। हमें हिन्दी-गद्य की इस प्रगति पर सन्तोष है।

हिन्दी-गद्य का यह विकास हिन्दी-प्रदेश की जन-चेतना का इतिहास है। आज हमारी चेतना, प्रान्त या देश विशेष की चिन्ता-धारा को ही नहीं समग्र विश्व की विचार-धाराओं को आत्मसात् कर रही है। अस्तु, हिन्दी-गद्य का दायित्व बढ़ गया है। उसे जीवित रहने के लिए जन-चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनना ही होगा। हमारे गद्यकार इस महान् दायित्व के प्रति सचेष्ट हैं।

गद्य-साहित्य के विकास, महत्त्व तथा दायित्व-वृद्धि के साथ उसके गम्भीर अध्ययन की आवश्यकताएँ भी बढ़ती जा रही हैं। प्रस्तुत प्रयास अध्ययन की इस आवश्यकता-पूर्ति की विनम्र चेष्टा है। इसमें क्रमशः हिन्दी-गद्य के स्वरूप-विकास तथा शिल्प-विकास के अध्ययन के साथ ही प्रमुख गद्यकारों की विचार-धाराओं को समझने की चेष्टा भी की गई है। प्रथम दो खंडों के अध्ययन का आधार प्रस्तुत विभिन्न विद्वानों की खोजपूर्ण कृतियाँ रही हैं। साथ ही ऐसी अन्य कृतियों का उपयोग भी हुआ है जिनकी प्रामाणिकता पर लेखक को पूर्ण विश्वास रहा है। तीसरे खंड में प्रमुख गद्यकारों की विचार-धाराओं का अध्ययन स्वयं उन्हीं की कृतियों के माध्यम पर हुआ है। यहाँ भी पूर्व अध्येताओं की उपलब्ध अध्ययन-सामग्री का उपयोग हुआ है। यह परिपाटी नई नहीं है। विधि को भी 'रवि-मुख' के लिए 'शशि' का 'सार-भाग' लेना ही पड़ा था।

अध्ययन को प्रस्तुत करने में जिन विद्वानों की कृतियों का आधार लेखक ने लिया है, उनका वह हृदय से आभारी है।

हिन्दी-गद्य के स्वरूप-विकास के अध्ययन में डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के 'आधुनिक साहित्य की भूमिका' तथा 'फोर्ट विलियम कालेज' का विशेष आधार

भूमिका

प्रसिद्ध फ्रांसीसी नाटककार मौलियर ने अपने एक नाटक 'Le Bourgeo Gentilhomme' ('ल बूर्ज्वा जांतीलोम') में लिखा है कि Mow, Jourdain (श्री जूर्दें) नामक एक मध्यवर्गीय व्यक्ति और सीधा-सच्चा नागरिक अपने को शिक्षित बनाने में संलग्न था। उसके गुरु ने उसे गद्य और पद्य का अंतर बताया। उसे यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि जीवन भर गद्य का प्रयोग करते रहने पर भी वह यह बात जान न सका था।

इसी प्रकार हिन्दी-गद्य की क्रमबद्ध परंपरा यद्यपि ईसा की उन्नीसवी शताब्दी से प्रारंभ होती है, तो भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे पूर्व हिन्दी-भाषा-भाषी गद्य का प्रयोग करना ही नहीं जानते थे। अपने व्यावहारिक दैनिक जीवन में वे अवश्य गद्य के माध्यम द्वारा अपने विचार और अपनी भावनाएँ व्यक्त करते रहे होंगे। मानव-जाति को समग्र रूप से देखने पर भी यही बात कही जा सकती है। वास्तव में मानव-जाति ने गद्य बोलना तो संभवतः प्रारंभ ही से सीख लिया था; हाँ, गद्य लिखना उसने बहुत बाद में सीखा। गद्य लिखना सीखने से बहुत पहले मानव-जाति गीतों का सर्जन और उन्हें कण्ठस्थ करती आई है। गीत या कविता मनुष्य की रागात्मिकावृत्ति की बोधक है और द्य उसकी व्यावहारिकता और तार्किकता का प्रतीक है। एक अँगरेज लेखक लिखा है—'A man feels before he reasons.' यही कथन मानव-ति के साहित्य में पद्य और गद्य के पूर्वापर क्रम के संबंध में लागू हो सकता इसलिए संसार का सर्वप्रथम साहित्यिक कवि रहा होगा, न कि गद्य-लेखक। ने युद्ध-क्षेत्र में उत्साह प्रदान करने के लिए, अथवा धर्म के लिए उत्साहित के लिए, अथवा नृत्योत्सवों पर रस-सृष्टि की दृष्टि से गीतों और गायकों न्म दिया होगा। वह यह चाहता रहा होगा कि जो कुछ वह लिखे उसे ोग याद रखें। और पद्य का याद रखना गद्य से सरल है। प्रत्येक जाति हित्य ने काव्य के रूप में जन्म लिया है, विश्व-साहित्य का इतिहास इस ा साक्षी है। भारतवर्ष, यूनान, चीन आदि सभी प्राचीन सभ्यताओं की अवस्था में पद्य का प्राधान्य पाया जाता है। और लगभग सभी सभ्यताओं न काव्यात्मक संपत्ति महाकाव्यों और वीरगाथाओं के रूप में है जो सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही है।

ाहित्य के इस विकास-क्रम में हिन्दी साहित्य अपवाद स्वरूप नहीं का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी-साहित्य का सूत्रपात किसी

सभ्यता के जन्म की सूचना देता है। किन्तु उससे पूर्व संस्कृत में काव्य ही लोकोत्तर आनन्द प्रदान करनेवाला माना गया है। हिन्दी-साहित्य ने अपने जन्म-काल में उस परंपरा का निर्वाह किया। ईसा की नवीं-दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश-परंपरा टूट जाने के बाद लगभग सभी भारतीय भाषाओं के साहित्यों ने संस्कृत के आदर्शों का पालन किया। अरबी-फ़ारसी साहित्यों के साथ संपर्क स्थापित हो जाने पर भी गद्य-रचना को कोई प्रोत्साहन न मिल सका। वैसे भी समस्त एशियाई जातियों की भाव-भूमि में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं मिलता। अतएव हिन्दी-गद्य की दृष्टि से ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उससे पहले भी गद्य मिलता है, किन्तु कम और स्फुट रूप में। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वह साहित्य का प्रधान अंग न बन पाया था। ऐतिहासिक घटना-चक्र के अनुसार उन्नीसवीं शताब्दी के भारतवर्ष में एक नवीन युग की अवतारणा हुई। उस नवीन युग का वाहन गद्य बना। सच बात तो यह है कि हिन्दी-साहित्य में गद्य नवीनता, आधुनिकता और वैज्ञानिक तथा एक दुरूह सभ्यता का प्रतीक है।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी-भाषा-भाषियों का पश्चिम की एक सजीव और उन्नतिशील जाति के साथ संपर्क स्थापित हुआ। यह जाति अपने साथ यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति के बाद की सभ्यता और उसकी दुरूहताओं एवं जटिलताओं को लेकर आई थी। उसके द्वारा प्रचलित नवीन शिक्षा-पद्धति, वैज्ञानिक आविष्कारों और प्रवृत्तियों से हिन्दी-साहित्य अछूता न रह सका। शासन संबंधी आवश्यकताओं तथा जीवन की नवीन परिस्थितियों के कारण गद्य-जैसे नवीन साहित्यिक माध्यम की आवश्यकता हुई। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आधुनिकता का बीजारोपण काव्य द्वारा, और भारतेन्दु-युग में, बताया जाता है। जब तक सामग्री अनुपलब्ध थी, तब तक तो यह मत ग्राह्य रहा जो स्वाभाविक भी है। किन्तु आधुनिकतम खोजों के प्रकाश में यह मत अवैज्ञानिक सिद्ध होता है। वास्तव में गद्य के द्वारा ही हिन्दी में आधुनिकता का बीजारोपण हुआ (उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में) न कि काव्य द्वारा। एक नवीन युग में एक नवीन शिक्षा-पद्धति में पालित-पोषित शिक्षित समुदाय के आविर्भाव के कारण हिन्दी में गद्य-परंपरा के क्रमबद्ध इतिहास का सूत्रपात पहले-पहल उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व हिन्दी में गद्य का पूर्ण अभाव नहीं था। पश्चिम
[illegible] विकास के लिए एक से अधिक परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने के
का विकास अधिक तीव्र गति से हो गया था। हिन्दी-साहित्य के
[illegible]यों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के हिन्दी-गद्य के स्फुट उदाहरण
हो चुके हैं, यद्यपि अभी बहुत-कुछ कार्य शेष है। अनुसन्धानात्मक
[illegible] द्वारा नवीन सामग्री प्रकाश में आ रही है। जो सामग्री अभी तक उप-

प्रस्तुत हुई है वह दान-पत्रों, पट्टों-परवानों, सनदों, वार्ताओं, टीकाओं आदि के रूप में है। और क्योंकि उस समय हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक चेतना के प्रधान केन्द्र ब्रज और राजस्थान में थे, इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व के गद्य के स्फुट उदाहरण भी ब्रजभाषा और राजस्थानी में मिलते हैं। मुसलमानी शासन-काल में खड़ीबोली का प्रचार समस्त उत्तर भारत में हो गया था और उसके अरबी-फारसीमय रूप ने मुस्लिम राज-दरबारों में अपना स्थान बना लिया था। उसका प्रभाव हिन्दी-कवियों पर पड़े बिना न रह सका। किन्तु परंपरा के अनुसार ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य-भाषाएँ बनी रहीं और जब किसी ने भूले-भटके गद्य-रचना प्रस्तुत की तो इन्हीं दो भाषाओं का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में ज्यों-ज्यों परिस्थिति बदलती गई, सर जॉर्ज ग्रियर्सन के शब्दों में, ज्यों-ज्यों 'कलकत्ता सिविलाइजेशन' का प्रचार एवं प्रसार होता गया, त्यों-त्यों साहित्य तथा व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में खड़ीबोली प्रधानता ग्रहण करती गई। सच बात तो यह है कि खड़ीबोली को उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ या उससे कुछ पहले से नवीन शासकों और प्रेस जैसे वैज्ञानिक आविष्कार का आश्रय प्राप्त हुआ और कलकत्ता उसका विकासकेन्द्र बना। इस प्रकार उसमें एक नवीन युग की नवीन चेतना एवं प्रेरणा के फलस्वरूप गद्य का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों में हिन्दी-साहित्य काव्य के क्षेत्र में परंपरा और रूढ़ि का अनुसरण कर रहा था। नवीनता यदि मिलती है तो वह केवल खड़ीबोली-गद्य के रूप में—नवीन इस अर्थ में कि इसी समय वह साहित्य का एक प्रमुख और स्थायी अंग बना। साथ ही उसमें अनेक विविध आधुनिक विषयों से संबंधित छोटे-बड़े ग्रन्थों का निर्माण हुआ जिन्होंने हिन्दी-भाषा-भाषियों के जीवन में नवीन भावों और बोधवृत्ति को जन्म एवं प्रेरणा दी। वास्तव में यदि खड़ीबोली-गद्य के इतिहास को हिन्दी-प्रदेश के जीवन में बढ़ते हुए पाश्चात्य प्रभाव और उसके फलस्वरूप उत्पन्न विविध विचारों, आदर्शों और आन्दोलनों का इतिहास कहें तो अनुचित न होगा। हिन्दी-प्रदेश को उन्नीसवीं शताब्दीय कूप-मण्डूकता से बाहर निकालने का श्रेय खड़ीबोली-गद्य को ही है।

खड़ीबोली-गद्य के संबंध में यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि उसके विकास में देशी-विदेशी दोनों प्रकार के लेखकों और विद्वानों का हाथ रहा है। ऐसे लेखकों में अध्यापक, चिकित्सक, धर्म-प्रचारक, संपादक, समाज-सुधारक, कथा-वाचक, शिक्षाशास्त्री, मुंशी आदि सभी सम्मिलित हैं; उन सब की सम्मिलित प्रतिभा ने उसका स्वरूपांकन किया। कोश, व्याकरण, विराम-चिह्न आदि के द्वारा उसमें वैज्ञानिकता और स्थायित्व का जन्म हुआ। ब्रजभाषा और संस्कृ-

स्थानीय साहित्य सामन्तों और धर्म-गुरुओं एवं महन्तों के आश्रय में पनपकर बड़े हुए थे। खड़ीबोली अँगरेजी राज्य के अन्तर्गत उत्पन्न सामाजिक व्यवस्था की देन मध्यम वर्ग की विशेषताएँ लेकर अवतरित हुई और देशीय जीवन का पुनःसंस्कार किया। वह उसके दिल और दिमाग की धड़कन बनी। उसने समूचे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधा और सच्चे अर्थों में लोकवाणी बनी। स्वतंत्र देश की राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर आज वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी है। *यह भारत की सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक परंपरा और अणु-युग की उच्चतम विज्ञान-साधना का समन्वय उपस्थित कर मनुष्य के मनुष्यत्व की विवृति का माध्यम बन विश्व-कल्याण-प्रसू बन सकेगी, ऐसी आशा है।*

साहित्य के भारतेन्दु तथा आगामी युगों में जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य और भाषा की गतिविधि परंपरा छोड़कर नवदिशोन्मुख हुई। हिन्दी-प्रदेश की नवीन चेतनाओं, आकांक्षाओं और विषमताओं का भार गद्य-साहित्य को वहन करना पड़ा। उनकी अभिव्यक्ति नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि विविध साहित्यिक रूपों द्वारा हुई और हो रही है। काव्य की गतिशीलता से कोई इन्कार नहीं कर सकता, किन्तु आज के युग में गद्य ही जीवन का संस्कार करने में सबसे अधिक रत है, यह तथ्य भी स्वतः स्पष्ट है।

प्रस्तुत पुस्तक के विद्वान् लेखक श्री रामचन्द्र तिवारी ने अपनी इस कृति में गद्य की इसी परंपरा का अध्ययन किया है। उन्होंने थीसिसों के रूप में प्रकाशित आधुनिकतम खोजों का सार हिन्दी के पाठकों को बड़े सुलझे हुए रूप में सुलभकर अपने निष्कर्ष निकाले हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनके सभी निष्कर्षों से सहमत हुआ जाय। निबंध-साहित्य का विश्लेषण अथवा 'प्रसाद' के नाटकों में अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाएँ और संधियों की योजना आदि ऐसे विषय हैं जिनके संबंध में मतभेद हो सकता है। किन्तु उनके निष्कर्ष तब भी विचारणीय हैं। श्री रामचन्द्र तिवारी की यह पुस्तक निस्सन्देह एक महत्वपूर्ण कृति है। आशा है हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी इस उपयोगी ग्रन्थ का सहर्ष स्वागत करेंगे।

हिन्दी-विभाग,
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी,
९-२-१९५५.

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विषय-सूची

खण्ड : एक—हिन्दी-गद्य का स्वरूप-विकास

खण्ड : दो—हिन्दी-गद्य की विधाओं का विकास

खण्ड : तीन—मूल्यांकन

खण्ड : एक

हिन्दी-गद्य का स्वरूप-विकास

साहित्य मानव-चेतना की अभिव्यक्ति है। चेतना अनुभूति की सघनता तथा चिन्तन की सूक्ष्मता के समन्वित आधार पर स्वरूप ग्रहण करती है। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय की सम्वेदनशीलता से है और चिन्तन वस्तु-तत्व की स्थितिअवधारणा के लिये उठनेवाली शंकाओं, जिज्ञासाओं तथा प्रश्नों के बौद्धिक समाधान का दूसरा नाम है। मानव-जीवन के विकास-क्रम में हृदय के सम्वेदनशील तत्त्वों की क्रियाशीलता पहले देखी जाती है। प्रकृति की भयंकरता देखकर आदिमानव के हृदय में भय का संचार हुआ होगा। प्राकृतिक उपकरणों की क्षण-क्षण परिवर्तित रमणीयता ने मानव-हृदय में रागात्मक वृत्तियों को उद्भूत किया होगा और प्रकृति की पोषकता के सतत अनुभव के उपरान्त ही मानव-मन में उसके प्रति पूज्य-वृत्ति जागी होगी। जीवन-विकास के द्वितीय चरण में मानव ने चिन्तन का आधार लिया होगा। उसने व्यक्त जगत् के जटिल रहस्यमय रूपों का बौद्धिक समाधान किया होगा। तर्कों की शृंखला ने विचारों को क्रम दिया होगा। नीतियों और सूक्तियों ने इन्हें सीमाओं में बाँधा होगा, और चिन्तन अपनी सूक्ष्मताओं में साकार हुआ होगा।

साहित्य में गद्य और पद्य की स्थिति

अनुभूति और चिन्तन, चेतना की ये दोनों सीमायें, सत्तागत भेद के कारण अभिव्यक्तिगत शैली-भेद भी स्थापित कर लेती हैं। ... की सम्वेदनशील वृत्तियाँ विशिष्ट स्वर, लय, गति, प्रवाह तथा ... पर मूर्त होकर पद-रचना में सौष्ठव ला देती हैं। ... हैं। वे कोमलता,

मधुरता, सरलता और कभी परलता में बँधकर विरक्त उठते हैं। सम्वेदनात्मक वृत्तियों की यह अभिव्यक्ति-शैली सामान्यतः 'पद्य' कही गई है। दूसरी ओर चिन्तन, जटिल समस्याओंके बौद्धिक समाधान, तर्कों की शृंखला, विचारों के क्रम, नियमों की मर्यादा तथा सूक्ष्मताओं की सीमाओं में बँधकर मूर्त होता है। शब्द-रूपों में संयम आ जाता है। पद-रचना में अर्थ-तत्वों के स्थिति-बोध के लिये सम्बन्ध-तत्वों की परम्परा-विहित प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। चिन्तन की अभिव्यक्ति की इस शैली को सामान्यतः गद्य कहा गया है।

मानवता के इतिहास में जीवन-विकास अपने प्रथम चरण में हृदय की सम्वेदनात्मक रागमूलक वृत्तियों का प्राधान्य लेकर चलता है। फलस्वरूप अनुभूति-प्रधान चेतना पद्यात्मक शैली में ही अभिव्यक्त होती है। ज्यों-ज्यों जीवन सरलता और भावुकता त्यागकर जटिलता की ओर बढ़ता है, ज्यों-ज्यों जीवन में विचार-तत्वों का प्राधान्य होता है त्यों-त्यों चिन्तन-प्रधान चेतना गद्यात्मक शैली में अभिव्यक्त होती है। पद्य का सम्बन्ध सम्वेदना, भाव, रागपरकता, एवं कल्पना से है और गद्य मूलतः विचार, तर्क, चिन्तन तथा प्रत्यक्ष जटिल जगत् से सम्बद्ध है। यही कारण है कि संसार के साहित्य में 'पद्य' की स्थिति पहले और 'गद्य' का विकास बाद को देखा जाता है। हिन्दी-साहित्य भी उपर्युक्त नियम का अपवाद नहीं है।

मानवता अनागत भविष्य में कौनसा रूप ग्रहण करेगी इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह तो स्पष्ट है कि उसका अतीत रागतत्व प्रधान रहा है। उसका पथ हृदय के आग्रह से निर्दिष्ट होता रहा है और आज यह भी प्रत्यक्ष है कि वह बुद्धि-तत्त्व का आधार लेकर अपना पथ प्रशस्त कर रही है। आज के मनीषी जीवन के सन्तुलित विकास के लिये दोनों के समन्वय की आवश्यकता की ओर भी निर्देश कर रहे हैं। यदि यह सम्भव हुआ तो गद्य और पद्य का सीमान्त पार्थक्य मिट सकता है। दोनों एकाकार हो सकते हैं। हिन्दी का मुक्तक छन्द अपने स्वरूप में भविष्य का यह रूप छिपाये हुये है। 'वस्तु' और 'ध्वनि' के समन्वय पर बल देनेवाले विविध कवि-प्रयोग भी आज इसी दिशा की ओर संकेत कर रहे हैं।

हिन्दी गद्य का क्रम-बद्ध इतिहास उन्नीसवीं शती से प्राप्त होता है। इसके पहले भी ब्रजभाषा-गद्य, राजस्थानी-गद्य तथा खड़ीबोली-गद्य की परम्परायें क्षीण, मन्द एवं शिथिल गति से चल रही थीं। हिन्दी-गद्य के उपर्युक्त तीनों रूपों में राजस्थानी गद्य प्राचीनतम माना गया है। इसका सूत्रपात दसवीं शताब्दी के आसपास माना जाता है।[1] ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग अनुमानतः संवत् १४०० के आसपास से स्वीकार किया गया है।[2] हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि विषयों से

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २३०

२. शुक्लजी का इतिहास, पृष्ठ ४०३

सम्बन्धित कुछ गोरखपन्थी गद्य-पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इनमें राजस्थानी और खड़ीबोली मिश्रित गद्य का प्रयोग किया गया है। ब्रजभाषा-गद्य के इस रूप का सूत्रपात कब हुआ था? इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। खड़ीबोली का प्रयोग यों तो अमीर खुसरो, सन्त कवियों तथा दक्खिनी हिन्दी के कवियों में स्फुट रूप से बराबर होता रहा है किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर खड़ीबोली गद्य की परम्परा पटियाला के रामप्रसाद निरंजनी कृत 'भाषा योगवासिष्ठ' (१७४१) से ही प्रारम्भ मानी जा सकती है।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व प्राप्त हिन्दी-गद्य के उपर्युक्त तीनों रूप अशक्त थे। उनमें जीवन की व्यावहारिक समस्याओं से सम्बन्धित तर्क-पुष्ट प्रौढ़ विचारों को वहन करने की क्षमता न थी। राजस्थानी-गद्य अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध अवश्य कहा जाता है किन्तु उसकी समृद्धि भी विवेचन, तर्क, युक्ति, चिन्तन तथा मनन से पुष्ट सूक्ष्म विचारों की सीमा का स्पर्श नहीं कर सकी थी। हिन्दी-गद्य की इस अप्रौढ़ता के पर्याप्त कारण थे।

अपभ्रंश के ध्वंसावशेषों से निकलकर जब हिन्दी-साहित्य अपना स्वरूप निर्माण कर रहा था उस समय मुख्यतः उसे बौद्ध सिद्धों और जैन आचार्यों का ही आश्रय मिला था। बौद्ध सिद्धों (७००–११४३) तथा जैन आचार्यों (६४३–११४३) दोनों का सम्बन्ध जन-जीवन से केवल धार्मिक दृष्टि से ही था। धार्मिक उपदेशों को जनता तक पहुँचाने के लिये इन दोनों ने पद्यात्मक अभिव्यक्तियों को ही मान्यता दी। बौद्ध सिद्धों ने जातक-कथाओं के द्वारा भी धर्म-प्रचार किया था जिनमें कहीं-कहीं गद्य-प्रयोग भी मिल जाते हैं किन्तु केवल उपदेशात्मक कथाओं की अभिव्यक्ति में गद्य को प्रौढ़ता कैसे मिल सकती थी?

चारण कवियों द्वारा रचित 'रासो' ग्रन्थों में 'वीरत्व' और 'प्रेम' की ही अभिव्यंजना प्रधानतः स्वीकृत थी। काव्य की इस विशिष्ट आख्यानक परम्परा को स्वीकार करके चलनेवाले कवि आश्रयदाताओं के चरित्रों को व्यापकत्व और अमरत्व दोनों प्रदान करना चाहते थे। फलतः गद्य की ओर उनका ध्यान कैसे जाता?

भक्ति-काल में भी गद्य-साहित्य अपनी उपादेयता न सिद्ध कर सका। न तो यह इष्ट-देवों के आदर्श चरित्र की प्रतिष्ठा के लिये ही उपयुक्त माना गया और न आराध्य के प्रति आत्म-निवेदन के लिये ही। लीलामय भगवान की आनन्द-उद्भाविका सगुण-लीला के गान के लिये भी यह सर्वथा अनुपम था और 'रहस्य' के प्रति व्यक्तिगत निगूढ़ रागात्मक सम्बन्ध भी इसके माध्यम से कैसे स्थापित होता? भक्तों से सम्बन्धित वार्ताओं के आधार पर प्रौढ़ता का स्वप्न ही देखा जा सकता था। अरबी और फारसी साहित्यों से सम्पर्क होने पर भी गद्य-साहित्य प्रौढ़ न हो सका क्योंकि जन-जीवन की दैनिक गति-विधि से इसका सम्बन्ध भी नहीं के बराबर था।

---

१. आधुनिक हिन्दी [illegible]

रीतिकालीन साहित्य भी सामन्तीय शैलियों में ही पोषित एवं पल्लवित हुआ। अतः गद्य के लिये अनुकूल वातावरण इस काल में भी उत्पन्न न हुआ। कविता, कल्पना, चमत्कार, ऊहा, अतिरंजित तथा वासनात्मक शृंगार के इस युग में जन-जीवन की चेतना की ओर ध्यान ही नहीं गया। उपयोगी साहित्य भी पद्य में ही रचा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेशीय जन-जीवन अंग्रेजों के सम्पर्क से नवीन दिशा की ओर मुड़ा। जीवन में बौद्धिकता का प्रवेश हुआ। सामाजिक चेतना परिलक्षित हुई। जनता जागी। और एक ऐसी युग-चेतना का प्रवाह फूट पड़ा जिसके लिये गद्य की स्थिति अनिवार्य थी। युग की इस नवीन चेतना का भार लेकर खड़ी-बोली-गद्य विकसित होने लगा। खड़ीबोली गद्य के इस विकास-क्रम की सम्यक् अवधारणा के लिए हिन्दी के अन्य प्राचीन गद्य-रूपों का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा।

राजस्थानी-गद्य

राजस्थानी-गद्य का सूत्रपात दसवीं शताब्दी से ही हो गया था।[1] इसका स्वरूप अपेक्षाकृत प्रौढ़ था। इसमें दान-पत्र, पट्टे-परवाने, जैनियों के धार्मिक उपदेश, राजनीति, गणित-इतिहास, काव्यशास्त्र आदि विविध विषय उपलब्ध होते हैं। टीकाओं और अनुवाद-ग्रन्थों की परम्परा भी इसमें सुरक्षित है। स्वरूप-विकास की दृष्टि से राजस्थानी-गद्य प्रारम्भ में संस्कृत की समास-शैली और भाषा के अपभ्रंश-रूपों से प्रभावित रहा है। बाद में ब्रजभाषा गद्य का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। खड़ी-बोली के रूपों से भी उसने कुछ-न-कुछ अवश्य उधार लिया। राजस्थानी-गद्य के ये रूप तीन प्रकार की साहित्यिक रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

(क) स्वतन्त्र रूप से लिखे गये मौलिक और अनूदित ग्रन्थों में।

(ख) टीकाओं में।

(ग) कवियों की निजी रचनाओं में बीच-बीच में टीकाओं के रूप में।

स्वतन्त्र रूप से लिखे गये ग्रन्थों में गद्य का रूप अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। संस्कृत की समासशैली तथा अपभ्रंश प्रभावित सं० १३३० के ताड़पत्रों पर लिखित गद्य का उदाहरण देखिये—"परमेश्वर अरहंत सरणि, सकल कर्म निर्मुक्त सिद्ध सरणि, संसार-परिवार-समुत्तरण-यान-पात्र महा-सत्त्व साधु सरणि, सकल-पाप-पटल कवल नकला-कलितु-केवलि-प्रणीतु धम्मु सरणि।"[2]

सवत् १३५८ के आस- पास के गद्य का एक अन्य उदाहरण इस प्रकार है—"पहिलउ त्रिकालु अतीत अनागत वर्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपाप क्षयंकर हउं

---

1. पं० मोतीलाल मेनारिया अनुमानतः राजस्थानी-गद्य का प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी के मध्य से मानते हैं।
2. हिन्दी-जैन-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ५६

नमस्करउं।"[1] संवत् १६८३ के राजस्थानी-गद्य का एक सुन्दर उदाहरण इस प्रकार है— "बलि को बंधणहारा सब ही बात सामर्थ। श्री कृष्ण रुकमणीजी बाँह पकड़ि रथ उपरि बैसाणी। तबै बाहर बाहर हुई। कहण लागा जु कोई होय सु दौड़िज्यो। हरणायो कहतां रुकमणीजी हरि कहतां कृष्ण हरि ले गयो।"[2]

सन् १८४७ के फतहराम वैरागी कृत 'पंचाख्यान' में राजस्थानी गद्य का परवर्ती स्वरूप अधिक परिमार्जितरूप में देखा जा सकता है।

"वारता॥ एक गाँव में रास मंडवा लागो। जाजम बिछाई। झालर बजाई। तर मरदंग्या ने तस लागी तर गाँव का छोरा नैं पूछे। अरे डावड़ा पाणी री जुगत बताओ। तब छोरा कीयो। ऊ कूड़ो आंवा फारुख हेटे छै। तब मरदंग्यो कूड़े गीयो। आगे देखे तो ऐक अस्त्री पांणी के किनारे रुठी बैठी छै।"[3]

उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी संस्कृति के प्रभाव से परिवर्तित जन-चेतना की अभिव्यक्ति के लिये राजस्थानी गद्य उपयुक्त सिद्ध न हो सका। एक तो यह नव-चेतना सुदूर-पूर्व (कलकत्ते से) में उदय होकर हिन्दी-प्रदेश में व्याप्त हुई। अत. राजस्थान इस चेतना के प्रभाव से प्रायः दूर रहा दूसरे राजस्थानी गद्य को न तो प्रेस का आश्रय मिला और न किसी राजसत्ता का आधार ही उपलब्ध हुआ। फलस्वरूप जीवन के प्रगतिशील सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों से सर्वथा पृथक् रहकर इसने अपनी गतिमयता ही खो दी।

ब्रजभाषा-गद्य

ब्रजभाषा-गद्य का प्राचीनतम रूप शुक्लजी के अनुमान के आधार पर स० १४०० (सन् १४५७) तक का ही उपलब्ध होता है। इस गद्य का प्रयोग गोरख-पन्थी योगियों ने अपने धार्मिक उपदेशों में किया है। इसकी प्राचीनता के विषय में आचार्य शुक्ल का निश्चित मत है कि "चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के ब्रजभाषा-गद्य का नमूना।"[4] डॉ० वार्ष्णेय ने, इसकी प्राचीनता के विषय में मौन रहकर भी, अपना सन्देह प्रकट कर दिया है।[5] वे कहते हैं—"इस सम्बन्ध में कुछ गोरखपन्थी रचनाओं के नाम लिये जाते हैं। जिनमें राजस्थानी और खड़ी-बोली मिश्रित ब्रजभाषा-गद्य के उदाहरण मिलते हैं। किन्तु इन रचनाओं के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।" शुक्लजी जिसे स० १४०० के आसपास का गद्य मानते हैं उसका स्वरूप इस प्रकार का है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दस्वरूप हैं

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह, पृष्ठ ८६–८८
२. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १६२
३. आ० हि० सा० की भू०, पृष्ठ २७१
४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ४०४
५. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ २३६

जैसें पद्मन की नारी। मांग मोतियन तें सँवारी....वाके मुखचंद कों देखि पूर्णमा को चन्द्र कलंकी भयो।"

ब्रजभाषा-गद्य में लिखी हुई टीकायें अनेक हैं। इनमें हरिचरणदास कृत 'बिहारी सतसई की टीका' (१७७७ सन्) और 'कविप्रिया की टीका' (१७७८), अयोध्या के महन्त रामचरणकृत 'रामायणसटीक' (१७८४–१७८७) असनी के ठाकुर द्वितीय कृत देवकीनन्दन टीका के नाम से प्रसिद्ध 'बिहारी सतसई की टीका' (१८०४), जानकीप्रसाद कृत 'रामचन्द्रिका की टीका' (१८१५), रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'बीजक' पर 'टीका', काशीराज ईश्वरीप्रसाद नारायणकृत 'मानस परिचर्या परिशिष्ट' (१८५५) प्रतापसाहि कृत 'रसराज की टीका' (१८३९) सरदार कविकृत 'रसिकप्रिया की टीका' (१८४६) सूरदास के दृष्टिकूट (१८४७) और 'कविप्रिया की टीका' (१८५४) प्रसिद्ध हैं। इन टीकाओं की भाषा परिष्कृत नहीं है। अर्थों को सम्बद्ध रूप में व्यक्त करने में ये टीकायें सर्वथा असमर्थ हैं। सन् १८१५ में लिखी जानकी प्रसादजी की रामचन्द्रिका की टीका के गद्य का एक नमूना देखिये—

"राघव शर लाघव गति छत्र मुकुट यों हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो।"

टीका—"सबल कहें अनेक अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य्य हैं तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग तें हंस कहें हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषय एक बचन है। हंसन के सदृश श्वेत-छत्र है औ सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट है।" ऐसी ही स्थिति प्राय: सभी टीकाओं की है।

काव्य-संग्रहों के बीच-बीच में आनेवाले टीका-गद्यों या कवियों द्वारा अपनी ही रचनाओं में प्रयुक्त व्याख्या-गद्यों में भी ब्रज-भाषा का ही प्रयोग किया गया है। ये टीका और व्याख्या-गद्य, शुजाउद्दौला के दरबारी श्री हरिनाथ गुजराती के 'संग्रह-कवित्त' (१७६४ ई०), रामसनेही सम्प्रदाय के संस्थापक स्वामी रामचरणदास के 'अणभौविलास' (१७८८), रसिक गोविन्द के 'रसिक गोविन्दानन्दघन' (१८०१), प्रतापसाहि के रीति ग्रंथ 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' (१८२५), रामराज के रीति-ग्रन्थ 'काव्य प्रभाकर' (१८४७) तथा सरदार कवि के 'मानस-रहस्य' (१८४७) आदि ग्रंथों में बीच-बीच में प्रयुक्त हुये हैं। दो-एक उदाहरण यहाँ अप्रासंगिक न होंगे।

हरिनाथ गुजराती के 'संग्रहकवित' (१७६४ ई०) में प्रयुक्त गद्य का रूप इस प्रकार है—"एक मर्द ने एक चिरिया पकरी या चिरिया ने पूँछयो जो तूं मों कों पकरि ल्यायो अब मों कों तूं कहा करेगो तब वाने कही जो मैं तों कों मारि कै खाऊँगो।"[1]

---

1. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ २६६

ब्रजभाषा-गद्य भी जीवन की नवीन आवश्यकताओं के साथ अपने को सशक्त न बना सका। अंग्रेजों ने राजकीय कार्यों में प्रारंभ से ही खड़ीबोली का प्रयोग किया। ब्रजप्रदेशमें इस समय कोई सामाजिक आन्दोलन ऐसा नहीं हुआ जो ब्रजभाषा-गद्य को प्राणवान करता। सामाजिक चेतना के नवीन गतिशील क्षेत्र बंगाल से इसकी सीमायें भी दूर पड़ती थीं। फलतः राजस्थानी गद्य की भाँति ब्रज-गद्य भी अपना विकास न कर सका।

खड़ीबोली-गद्य

खड़ीबोली गद्य के उद्भव के विषय में पण्डितों की दो रायें हैं। जॉर्ज ग्रियर्सन, आर० डब्लू० फ्रेजर, नलिनीमोहन सान्याल प्रभृति विद्वान आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली का आविष्कार सर्वप्रथम गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में लल्लूलाल तथा सदल मिश्र द्वारा बताते हैं।[1] आचार्य शुक्ल तथा डा० वार्ष्णेय इस मत को भ्रामक सिद्ध करते हैं। शुक्लजी ने खड़ीबोली गद्य का प्रारम्भ अकबर के समय में गंगकवि द्वारा 'चंद-छंद बरनन की महिमा' से माना है। इस पुस्तक में प्रयुक्त खड़ी बोली का स्वरूप इस प्रकार है—

'सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अक्बर साहि जी आम-खास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा हैं जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें, अपनी-अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।'

अंग्रेजों के प्रभाव से सर्वथा पृथक् फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पहले भी पटियाला के रामप्रसाद निरंजनीकृत 'योगवासिष्ठ' (सन् १७४१) में, बसवा (मध्य प्रदेश) निवासी पं० दौलतराम कृत जैन पद्मपुराण के भाषानुवाद में (१७६१), जन प्रह्लाद के 'नृसिंह तापनी उपनिषद' (१७१९) के हिन्दी *(खड़ी बोली) अनुवाद में, मथुरानाथ शुक्ल के 'पंचांग दर्शन' (१८००)* नामक ज्योतिष ग्रन्थ की रचना में और इसी परम्परा में आगे चलकर मुंशी सदासुख लाल के विष्णुपुराण के आधार पर रचित 'सुखसागर' में खड़ी बोली गद्य की अखण्ड परम्परा परिलक्षित होती है। इनमें भी *श्री रामप्रसाद निरंजनी कृत योग वासिष्ठ'* की भाषा तो पर्याप्त परिमार्जित है। शुक्लजी ने इसे ही परिमार्जित खड़ीबोली गद्य की प्रथम पुस्तक माना है।[2] इसकी भाषा का संक्षिप्त नमूना इस प्रकार है—

"हे रामजी! जो पुरुष अभिमानी नहीं हैं वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में राग-द्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। ×　　× मलीन वासना

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ४१०

२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ४११

जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित होगे।"

पद्मपुराण की भाषा इतनी सुष्ठु और शृङ्खलाबद्ध नहीं है। मुंशी सदासुखलाल 'नियाज' की भाषा अवश्य 'योगवासिष्ठ' की ही शैली लेकर चली है। इसमें भी स्थल-स्थल पर संस्कृत के तत्सम रूप मिल जाते हैं।

उपर्युक्त खड़ीबोली के गद्य-ग्रन्थों के अतिरिक्त इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' भी अंग्रेजी प्रभाव से दूर (सन् १८००—१८०८) लखनऊ में लिखी गई। खड़ीबोली गद्य के विकास में इंशा का वही स्थान है जो हिन्दी खड़ीबोली-काव्य के इतिहास में अमीर खुसरो का। प्रारम्भ में ही लेखक अपनी भाषा-नीति के विषय में स्पष्ट घोषणा कर देता है—

'यह वह कहानी है कि जिसमें हिन्दी छुट।
और न किसी बोली का मेल है न पुट॥'

विषय की दृष्टि से भी इस कृति का महत्त्व स्मरणीय है। इसके माध्यम से सर्व प्रथम खड़ीबोली गद्य-साहित्य में लौकिक शृंगार मय प्रेमाख्यानक परम्परा का सूत्रपात हुआ। इसी परम्परा में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों की सृष्टि हुई।

शैली की दृष्टि से 'रानी केतकी की कहानी' हास्य-प्रधान है। इसमें गाम्भीर्य नहीं फुरक है। भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिये लेखक ने मुहावरों का खूब प्रयोग किया है। वस्तु-वर्णन में पर्याप्त विस्तार लक्षित होता है। लेखक की वर्णन-शक्ति अद्भुत है। उसने दृश्यों को शब्द-चित्रों में सजीव कर दिया है। वातावरण को प्रभावात्मक बनाने के लिये बीच-बीच में पद्य का प्रयोग भी किया गया है। इस कहानी में इंशा के व्यापक अनुभव एवं गम्भीर ज्ञान की सूचना भी मिलती है। वेश्याओं के हाव-भाव, राग-रागिनियों के प्रकार, शृंगार के प्रसाधन, नावों के विविध रूप, हिन्दुओं की पौराणिक कथायें, विवाह की रस्में आदि जीवन के विविध पक्षों से सम्बन्धित अनेक विषयों का समावेश इस कहानी में किया गया है।

इंशा की भाषा की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि उसमें प्राचीन उर्दू गद्य के अनुसार कृदन्तों, क्रियाओं तथा विशेषणों में भी वचन-सूचक चिह्न लगाये गये हैं।" निवाड़ी, फूलनी, बजरी, लचकी, मोरपंखी, श्यामसुन्दर, रामसुन्दर और जितनी ढब की नावें थीं सुनहरी, रुपहरी, किसी किसी में सौ-सौ लचकें खातियाँ, आतियाँ, जातियाँ, ठहरातियाँ, फिरतियाँ थीं।'

भाषा का यह प्रयोग उपर्युक्त विशेषता का पूर्ण परिचायक है। वाक्य-विन्यास में फारसीपन भी आ गया है, जैसे—सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ, अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।' किन्तु इस प्रकार के प्रयोग

कम है। इंशा के गद्य में सानुप्रास विराम की प्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है—'जब दोनों महाराजों में लड़ाई होने लगी, रानी केतकी सावन-भादों के रूप रोने लगी।' इस प्रकार के वाक्य इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। 'रानी केतकी की कहानी' में प्रयुक्त गद्य का नमूना देखिये—

"एक दिन बैठे-बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने-धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए सिर हिलाकर मुँह थुथाकर, नाक भौंह चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो।"

वस्तुतः इंशा की भाषा हल्के चलताऊ तथा मनोरंजक विषयों के अनुकूल थी। इसके विपरीत रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल आदि लेखकों की भाषा धार्मिक गम्भीर एवं सांस्कृतिक विषयों के अनुकूल थी। इस प्रकार हिन्दी-खड़ीबोली-गद्य की दो शैलियों का सूत्रपात फोर्टविलियम कालेज की स्थापना के बहुत पहले अंग्रेजी प्रभाव से सर्वथा पृथक् हो गया था। अतएव अंग्रेज विद्वानों—ग्रियर्सन, फ्रेजर आदि—का यह कथन कि अंगरेजों द्वारा हिन्दी भाषा का आविष्कार हुआ और सर्वप्रथम गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में 'प्रेमसागर' के लेखक लल्लूलाल तथा 'सुखसागर' के रचयिता सदलमिश्र की कृतियों में उसका प्रयोग किया गया, सर्वथा भ्रान्त है।[1]

हिन्दी खड़ीबोली के विकास में अंग्रेजों का योग अवश्य ही मान्य है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ में शासन सूत्र आने पर राज्य व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालित होने के लिये यह अनिवार्य था कि शासितों से सम्पर्क स्थापित किया जाय। इस सम्पर्क के लिये किसी-न-किसी भाषा का माध्यम आवश्यक था। अंग्रेजों के सामने तीन प्रमुख भाषायें थीं जिनके माध्यम से वे कार्य संचालन करते।

खड़ीबोली-गद्य का विकास

१—अंग्रेजी भाषा।
२—संस्कृत अरबी और फारसी भाषायें।
३—लोक भाषायें।

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ २८८

२. देखिये A Literary History of India (1915), पृष्ठ २०१ और ग्रियर्सन : The Modern Vernacular Literature of Hindustan (1889), पृष्ठ २२ और १०७

यह तो निर्विवाद था कि कम्पनी अंग्रेजी भाषा का अधिकाधिक प्रचार करना चाहती थी किन्तु सामान्य जनता इससे सर्वथा अपरिचित थी। संस्कृत का प्रचार हिन्दुओं के उच्च वर्ग में था। वह सांस्कृतिक भाषा थी। उसमें नवीन ज्ञान-विज्ञान की विशिष्ट शब्दावली का भी प्रचलन न था। अरबी और फारसी का प्रयोग मुगल शासनकाल में कचहरियों में अवश्य होता था, शासक वर्ग भी इससे परिचित था किन्तु जन-साधारण में इसका भी अधिक प्रचार न था। इन कारणों से कम्पनी की भाषा-नीति बहुत दिनों तक चपल रही। स्वयं अंग्रेजों में ही इस नीति को लेकर दो पक्ष हो गये थे। एक ओर अंग्रेजी के समर्थक उसके प्रचार-प्रसार का अथक प्रयत्न करते रहे। दूसरी ओर लोक-भाषाओं के समर्थक उनकी अनिवार्यता का अनुभव करते हुये उनके प्रचार पर बल देते रहे।

सन् १८१६ में अंग्रेजी के समर्थक डेविड हेअर ने राजा राममोहनराय की सहायता से कलकत्ते में एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की। १८३० में एलेक्जेण्डर डफ ने कलकत्ते में ही एक कालेज की नींव डाली। १८३२ के आस-पास कम्पनी के अंग्रेज कर्मचारियों ने स्पष्टतया अंग्रेजी का प्रचार करना प्रारम्भ किया। १८३४ में लार्ड मेकाले के आने पर अंग्रेजी-प्रचार को बहुत बल मिला। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने अंग्रेजी पढ़े लोगों को सरकारी नौकरियाँ देने की घोषणा की। इस प्रकार १८५३ तक अंग्रेजी का प्रचार तीव्रता से होने लगा।

दूसरी ओर देशी-भाषाओं के समर्थकों ने उनके प्रचार का कार्य भी तत्परता पूर्वक किया। वारेन हेस्टिग्ज (१७७४–८५) और जॉनेथन डंकन (१७९५–१८११) ने मिशनरियों के आग्रह पर हिन्दुओं और मुसलमानों को क्रमशः संस्कृत और फारसी के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। किन्तु इन भाषाओं का जनसाधारण से सीधा सम्बन्ध न था। फलतः इनके स्थान पर लोक भाषाओं का प्रचलन अनिवार्य माना गया। ऑनरेबुल फ्रेडरिक जॉन शोर तथा डुनेंड साहब ने अंग्रेजी के स्थान पर लोक-भाषाओं का पक्ष लिया। इस दिशा में सार्वजनिक शिक्षा-समिति के अन्तर्गत कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी (१८१७) और मिशनरियों द्वारा संचालित आगरा स्कूल बुक सोसाइटी (१८३३) ने अंग्रेजी ग्रंथों का लोक-भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करके बड़ा ही स्तुत्य कार्य किया। १८३७ के रेग्यूलेशन के अनुसार अदालतों से फारसी को हटाकर लोक-भाषाओं को स्थान दिया गया। १८३४ में कम्पनी का ध्यान भी फारसी की अव्यवहारिकता तथा लोक-भाषाओं की उपादेयता की ओर गया।

संक्षेप में कम्पनी की भाषा-नीति इस प्रकार थी—

कम्पनी अंगरेजी का अत्यधिक प्रचार करके उसे राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहती थी। अदालतों में फारसी के प्रचलन तथा दिल्ली दरबार में उसकी मान्यता के कारण कम्पनी को फारसी भी अपनानी पड़ी। अन्ततः फारसी की अव्यवहारिकता के कारण १८३७ में उसके स्थान पर लोक-भाषाओं की

वारंद मंजूर बाशत:। सिवाए आं जबान हिंदवी कि आँरा भाखा गोयंद मौकूफ़ करद:।"[1]

सारांश यह कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपनाई जानेवाली भाषा जन-साधारण में प्रचलित खड़ीबोली से सर्वथा भिन्न थी। 'रानी केतकी की कहानी' में प्रयुक्त खड़ीबोली से भी वह बहुत दूर पड़ती थी। यह शाहजहाँनाबाद से चली थी। यह वास्तविक अर्थ में हिन्दी न होकर उर्दू थी। इसे 'हिन्दी' 'उर्दू' 'उर्दूई', 'रेख्ता', 'हिन्दुस्तानी', आदि नामों से भी पुकारा जाता था। इसके विपरीत जन-साधारण में प्रचलित खड़ीबोली को 'हिन्दुई', 'हिन्दवी', 'हिन्दी' आदि नामों से अभिहित किया जाता था।

ईस्ट इंडिया की लिपि सम्बन्धी नीति भी पर्याप्त चंचल रही है। जॉन गिल-क्राइस्ट महोदय 'रोमन' लिपि के पक्षपाती थे। वे हिन्दुस्तानी के लिये भी रोमन लिपि का ही प्रयोग उचित मानते थे। उन्होंने 'फारसी' और 'नागरी' दोनों लिपियों को त्रुटिपूर्ण बतलाया। 'रोमन' के बाद वे 'फारसी' का समर्थन करते थे। वस्तुत: 'रोमन' और 'फारसी' दोनों लिपियाँ भारतीय ध्वनियों को व्यक्त करने में समर्थ न थीं। इसलिये बाध्य होकर कम्पनी को नागरी लिपि अपनानी पड़ी। साथ-साथ सन् १८३७ तक फारसी लिपि भी चलती रही। सन् १८४० के लगभग पुन: फारसी लिपि को मान्यता दी गई और १८५० तक फारसी लिपि का ही प्रचलन हो गया।

हिन्दी-खड़ीबोली और फोर्ट विलियम कालेज

हिन्दी खड़ी बोली के विकास में फोर्टविलियम कालेज का बहुत बड़ा स्थान है। इस कालेज की भाषा-नीति ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा-नीति से अभिन्न रही है। सन् १८०० में मार्क्विस वेलेज़्ली ने इस कालेज की स्थापना की। स्थापना का दृष्टिकोण राजनैतिक था। कालेज में ईस्ट इंडिया कम्पनी के सिविल कर्मचारी शिक्षा प्राप्त करते थे। कालेज में विविध विषयों की शिक्षा दी जाती थी। अरबी, फारसी, संस्कृत, हिन्दुस्तानी, बँगला, तेलगू, मराठी, तामिल, कन्नड़, शरअ मुहम्मदी, हिन्दू कानून, नीति-विज्ञान, न्याय पद्धति, अन्तर्राष्ट्रीय कानून, अंग्रेजी कानून, फोर्ट सेंट जार्ज तथा बम्बई के गवर्नरों द्वारा अंग्रेजी राज्य संचालन के लिये बनाए गए नियम, अर्थशास्त्र, भूगोल, गणित, यूरोप की आधुनिक भाषायें, प्रकृति-विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, नक्षत्र-विज्ञान आदि अनेक विषयों की उचित शिक्षा की व्यवस्था कालेज में की गई थी। १८ अगस्त सन् १८०० के पत्रानुसार डॉ० जॉन बोर्थविक् गिलक्राइस्ट को हिन्दुस्तानी भाषा का प्रोफेसर बनाया गया। जॉन गिलक्राइस्ट महोदय ने

---

१. 'हिन्दुस्तानी का उद्गम,' आचार्यशुक्ल।

छोटे बड़े उन्नीस ग्रंथों की रचना की। कालेज की भाषा-नीति समझने के लिये इनके कुछ ग्रन्थों की भूमिकायें द्रष्टव्य हैं। इनके द्वारा सम्पादित 'दि ऑरिएंटल फैब्यूलिस्ट' की भूमिका में लिखा है—

'I very much regret, that along with the Brij-Bhasha, the Khuree-Bolee was omitted, since this particular idiom or style of the Hindoostanee, would have proved highly useful to the students of that language. The real Khuree-Bolee is distinguished by the general observance of Hindoostanee Grammar and nearly a tolal exclusion of Arabic and Persian words.'

उपर्युक्त कथन से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथम तो यह कि उस समय खड़ीबोली और हिन्दुस्तानी में भेद था। हिन्दुस्तानी उर्दू से अभिन्न थी। दूसरे यह कि अरबी-फारसी शब्दों से रहित खड़ीबोली का एक रूप फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के पहले से चला आ रहा था। गिलक्राइस्ट महोदय ने अपनी प्रथम कृति 'ए डिक्शनरी इंगलिश ऍंड हिन्दुस्तानी' की विस्तृत भूमिका में भी अपनी भाषा-नीति प्रकट की है। इस वृहत कोश में हिन्दुस्तानी कहे जानेवाले शब्द अधिकांशतः अरबी और फारसी भाषाओं से लिये गये हैं। कोश में लिपि भी फारसी ही रखी गई है। गिलक्राइस्ट महोदय की एक अन्य कृति 'ए ग्रामर ऑव दि हिन्दुस्तानी लेंग्वेज' में व्याकरण के नियम तो 'हिन्दवी' के आधार पर निर्धारित किये गये हैं किन्तु छन्द, लिपि, उद्धरण आदि सभी कुछ उर्दू के आधार पर हैं। गिलक्राइस्ट महोदय की इन कृतियों के अध्ययन से प्रकट होता है कि 'हिन्दुस्तानी' से उनका तात्पर्य उस भाषा से था जिसका व्याकरण तो उन्हीं के शब्दों में 'हिन्दवी' या 'वृजभाषा' से लिया गया था किन्तु संज्ञा शब्द अरबी-फारसी से लिये गये थे। उन्होंने 'हिन्दी' 'उर्दू', 'उर्दूवी', 'रेख्ता', और 'हिन्दुस्तानी' को समानार्थी माना है। 'हिन्दी' का अर्थ उनकी दृष्टि में 'हिन्द की' था। 'हिन्दवी' को वे केवल हिन्दुओं की भाषा मानते थे। गिलक्राइस्ट ने खड़ीबोली की कुल तीन शैलियाँ निर्धारित कीं। (क) दरबारी या फारसी शैली, (ख) हिन्दुस्तानी शैली, (ग) हिन्दवी शैली। इनमें फारसी शैली सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य न थी। हिन्दवी शैली को वे गँवारू समझते थे। हिन्दुस्तानी शैली उन्हें सर्वप्रिय थी। इसे वे 'दि ग्रैंड पाप्युलर स्पीच ऑव हिन्दुस्तान' कहते थे।

गिलक्राइस्ट महोदय 'हिन्दुस्तानी' (अरबी-फारसी मिश्रित) के समर्थक होने पर भी 'हिन्दी' की पूर्ण अवहेलना न कर सके। इसीलिये उन्हें सन् १८०२में लल्लूलालजी की स्थायी नियुक्ति करानी पड़ी थी। जॉन गिलक्राइस्ट साहब द्वारा पोषित हिन्दुस्तानी न तो सिपाहियों की समझ में आती थी और न जन-साधारण के लिये ही वह बोधगम्य थी। फलतः कालेज की भाषा-नीति में परिवर्तन अनिवार्य हो गया।

२५ जुलाई सन् १८१५ में वार्षिकोत्सव के समय ऑनरेबुल एन० बी० एडमॉन्स्टन ने इस आवश्यकता की ओर अध्यापकों तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित किया। १८२३में विलियम प्राइस महोदय हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुये। उनके समय में कालेज की भाषा-नीति में महान् अन्तर लक्षित होता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी के स्थान पर 'हिन्दी खड़ी बोली' (आधुनिक अर्थ में) को मान्यता दी। उनके समय में ही कालेज कौंसिल के मंत्री रडेल साहब ने सरकारी मन्त्री सी० लशिंगटन को एक पत्र लिखा था। इस पत्र से कालेज की परिवर्तित भाषा-नीति का ज्ञान भली भांति हो जाता है। रडेल महोदय ने लिखा है।

"फारसी और अरबी से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण यह स्पष्ट है कि प्रत्येक विद्यार्थी कालेज में विद्याध्ययन की अवधि कम करने की दृष्टि से फारसी और हिन्दुस्तानी भाषायें ले लेते हैं। फारसी के साधारण ज्ञान से वे शीघ्र ही हिन्दुस्तानी में आवश्यक दक्षता प्राप्त करने योग्य हो जाते हैं। किन्तु भारत की कम-से-कम तीन चौथाई जनता के लिए उनकी अरबी फारसी शब्दावली उतनी ही दुरूह सिद्ध होती है जितनी स्वयं उनके लिए संस्कृत, जो समस्त हिन्दू-बोलियों की जननी है।"[1]

२८ अक्टूबर, १८२४को गवर्नर जनरल ने कालेज के नव-विधान को मान्यता दी। इस नव-विधान के साथ कालेज की भाषा-नीति भी बदली। कालेज में विलियम प्राइस महोदय की नीति ही अब प्रधान हो गई। जब कालेज ने अपना नव विधान गवर्नर जनरल के पास स्वीकृति के लिये भेजा था तब साथ में प्राइस साहब का एक पत्र भी भेजा गया था। इस पत्र में उन्होंने जॉन गिलक्राइस्ट से अपनी भाषा-नीति सर्वथा पृथक् कर ली है। उन्होंने लिखा था।

"हिन्दी और हिन्दुस्तानी में सबसे बड़ा अन्तर शब्दों का है। हिन्दी के लगभग सभी शब्द संस्कृत के हैं। हिन्दुस्तानी के अधिकांश शब्द अरबी और फारसी के हैं। × × × हिन्दी के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण विषय यह है कि वह नागरी अक्षरों में लिखी जानी चाहिए। × × × नई लिपि और नये शब्द सीखने में विद्यार्थियों को कठिनाई होगी किन्तु इससे उनके ज्ञान की वास्तविक वृद्धि होगी। उनका हिन्दुस्तानी-ज्ञान थोड़े परिवर्तन के साथ फारसी-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इससे वे न तो भाषा और न देश के विचारों के साथ ही परिचित हो पाते हैं।"[2]

संक्षेप में कालेज की भाषा-नीति के दो मोड़ है। सन् १८०० से लेकर १८१५ तक जॉन गिलक्राइस्ट द्वारा निर्धारित 'हिन्दुस्तानी' ही कालेज की मान्य

१. फोर्ट विलियम कालेज, पृष्ठ ११५

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ३७२

भाषा रही। १८१५ के बाद 'हिन्दी' (आधुनिक अर्थ में) के अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया गया। १८२४ में कालेज के नव-विधान के साथ भाषा-नीति में परिवर्तन हुआ। विलियम प्राइस के विचार मान्य हुये। अधिकारियों ने हिन्दी का महत्व समझकर उसे कालेज के पाठ्य-क्रम में स्थान दिया। दिसम्बर १८३१ में प्राइस साहब पदत्याग कर विलायत चले गये। २४ जनवरी १८५४ के सरकारी आज्ञापत्र के अनुसार कालेज तोड़ दिया गया।

कालेज की भाषा-नीति का प्रभाव पंडितों की नियुक्ति पर पड़ना स्वाभाविक था। फलतः प्रारम्भ में हिन्दुई या ठेठ हिन्दी के किसी अध्यापक की नियुक्ति का उल्लेख नहीं मिलता। हिन्दुस्तानी विभाग में ४ मई, १८०१ को मीर बहादुर अली को प्रधान मुंशी, तारिणी मिश्र को उप-प्रधान मुंशी तथा अन्य बारह सहायक मुंशियों की नियुक्ति की गई। कार्य के आधार पर इन मुंशियों की कई कोटियां थीं। सर्टिफिकेट मुंशी, मुलेखक, किस्सा ख्वाँ, तथा भाखा-मुंशी। इन चार प्रकार के मुंशियों का उल्लेख मिलता है। 'भाखा मुंशी', 'हिन्दी पण्डित' या 'हिन्दी मुंशी' के रूप में भी स्मरण किये जाते थे।

कालेज के पण्डितों का खड़ीबोली के विकास में योग

हिन्दी खड़ीबोली के विकास में जिन पंडितों ने सर्वाधिक योग दिया है उनमें लल्लूलाल, सदलमिश्र तथा गंगाप्रसाद शुक्ल का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त इन्द्रेश्वर (१८१५–१८१६), नरसिंह (१८१८–२१), दयालीराम (१८२७–२६), ब्रह्म सच्चिदानन्द (१८३२-३८), मधुसूदन तर्कालंकार, (१८३८-४१), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८४१), दीनबंधु (१८४०–?) तथा शेष शास्त्री आदि पण्डितों ने भी अपनी कृतियों से हिन्दी खड़ीबोली के विकास में पर्याप्त योग दिया है। कालेज में इन सभी पंडितों की नियुक्ति का उल्लेख मिलता है।

लल्लूलाल—लल्लूलालजी द्वारा 'लाल चन्द्रिका' (१८१८) में दिये गये आत्म-विवरण से सूचना मिलती है कि उनकी नियुक्ति १८०० ई० में कालेज में हो गई थी। प्रारम्भ में वे सर्टिफिकेट-मुंशी के रूप में कार्य करते रहे। सरकारी पत्रों में उनकी नियुक्ति की मूल तिथि फरवरी, १८०२ मिलती है। ६ मई १८०४ को इन्हें आवश्यकता न होने के कारण कालेज से अलग कर दिया गया। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद उन्हें पुनः रख लिया गया। १६ सितम्बर, १८०५ को इन्हें पुनः भाखा-मुंशी के पद से हटना पड़ा और वे हिन्दुस्तानी अनुवादकों के साथ कार्य करते रहे। कुछ दिनों के बाद सम्भवतः उन्हें पुनः अपना पद प्राप्त हो गया। १ मई, १८२३ को अध्यापक के वेतन सम्बन्धी विवरण पत्र में इनका नाम अन्तिम बार मिलता है।

लल्लूलालजी की लगभग ग्यारह कृतियों का उल्लेख मिलता है

रचनायें तथा उनकी भाषा का स्वरूप

(१) सिंहासन बत्तीसी (१८०१), (२) बैताल पच्चीसी (१८०१), (३) शकुंतला नाटक (१८०१), (४) माधोनल (१८०१), (५) राजनीति (१८०२), प्रेमसागर (१८१०) (७) लतायफ-इ हिंदी (१८१०), (८) ब्रजभाषा-व्याकरण (१८११), (९) सभाविलास (१८१५), (१०) माधव विलास (१८१७), (११) लाल-चन्द्रिका (१८१८)। इनमें ब्रजभाषा व्याकरण को छोड़कर प्राय सभी कृतियाँ किसी-न-किसी अन्य लेखक की रचना का आधार लेकर प्रस्तुत की गई है। यह होते हुए भी ब्रजभाषा-गद्य तथा खड़ीबोली-गद्य दोनों के विकास में लल्लूलालजी का योग महत्वपूर्ण है। उपर्युक्त कृतियो में 'राजनीति', 'माधव विलास', तथा 'लाल चन्द्रिका', ब्रजभाषा-गद्य में हैं। शेष रचनाओं का सम्बन्ध खड़ीबोली-गद्य से है।' 'सिंहासन बत्तीसी', बैताल पच्चीसी, शकुन्तला नाटक, और माधोनल ये चारो कृतियाँ स्वयं लल्लूलालजी के ही साक्ष्य के अनुसार उन्ही के द्वारा विरचित मानी जा सकती हैं किन्तु ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित इन कृतियो की हस्तलिखित प्रतियो के साक्ष्य पर तथा गार्सा द तासी के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ के विवरण के अनुसार यह सिद्ध होता है कि लल्लूलाल केवल ब्रजभाषा-गद्य में लिखी हुई मूल कथा से परिचय कराने वाले थे। खड़ीबोली गद्य में रूपान्तर करते समय जवाँ और विला ने (जो लल्लूलालजी के सहायक नियुक्त हुये थे) अपनी भाषा का प्रयोग किया था। फोर्ट विलियम कालेज के विवरणो में भी इन चारो ग्रन्थों की भाषा को 'हिन्दुस्तानी' कहा गया है। भूलना न होगा कि गिलक्राइस्ट महोदय ने 'हिन्दुस्तानी', 'उर्दू', और 'रेख्ता' को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। निश्चय ही 'हिन्दवी' या 'ठेठ हिन्दी' से इनका स्वरूप भिन्न है। अतएव 'बैताल पच्चीसी' 'सिंहासन बत्तीसी', 'माधोनल', और 'शकुंतला नाटक' के आधार पर हिन्दी खड़ीबोली गद्य के तत्कालीन वास्तविक स्वरूप को नहीं समझा जा सकता। 'बैताल पच्चीसी', और 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा प्राय. एक-सी है। उसमें संस्कृत, अरबी-फारसी तथा ब्रजभाषा के शब्दों एवं रूपो का अद्भुत सम्मिश्रण है। संस्कृत शब्दों में तत्सम और अर्द्ध तत्सम दोनो प्रकार के शब्द पाये जाते है। एक ओर 'अतिथि', 'पितृघातक', 'समर्पण', 'व्यर्थ', 'धर्मात्मा', 'नैवेद्य', 'तपस्या', जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है तो दूसरी ओर 'मूरख', जात्रा, 'रावस', 'जतन', सराप, 'बरनन' 'जोतषी' जैसे शब्द भी कम संख्या में नहीं है। अरबी-फारसी के शब्दों की तो भरमार है। 'आईन', 'अहवाल', 'खिलअत', 'गफलत', 'अलकिस्सह', 'नज्जार', 'मुअय्यन', 'साखावत', 'मज़दूर,' 'वकूअ' आदि शब्द इतस्तत. बिखरे हुये हैं। भाषा में स्थल-स्थल पर पंडिताऊपन भी है। तुकान्तयुक्त वाक्यो का प्रयोग भी किया गया है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि संस्कृत या हिन्दी (आधुनिक अर्थ में) के शब्दों का प्रयोग वहीं किया गया है जहाँ अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग हो

हो नहीं सकता था। [illegible] संस्कृत के तत्सम [illegible] और [illegible] शब्दों की [illegible] भी [illegible] है। इसमें अरबी और फ़ारसी के [illegible] का [illegible] प्रयोग किया गया है। भाषा के प्रयोग में [illegible] भी वे [illegible] होती है [illegible] खड़ीबोली और [illegible] में है।

लल्लूलालजी की सबसे अधिक प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। फोर्ट विलियम कालेज के विवरण में इसकी भाषा 'हिन्दवी' हेतु हिन्दी या खड़ीबोली न होकर भी कही गई है। वस्तुतः यही हिन्दवी थी जो मुसलमानी आगमन के पहले समस्त हिन्दुस्तान में शिष्ट लोगों द्वारा में प्रचलित थी और जो सदा प्राकृत तथा अपभ्रंश की परम्पराओं को लेकर भारतीय जन-जीवन के साथ चली आ रही थी। इसीलिए लल्लूलालजी ने इसकी रचना करते समय 'यामिनी भाषा' छोड़ने की बात कही थी। इसकी रचना का उद्देश्य सिविलियन विद्यार्थियों को हिन्दुस्तानी की आधारभूत भाषा—हिन्दवी—का ज्ञान कराना था।

प्रेमसागर की भाषा में ब्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव है। सम्भवतः आगरा निवासी होने के कारण लल्लूलालजी इससे बच नहीं सकते थे। गद्य है इसमें कवित्व भी पर्याप्त मात्रा में है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास आदि अलंकारों से यह सुसज्जित है। ब्रजभाषा के व्याकरणिक प्रयोग भी मिलते हैं सामान्य कहावतें और मुहावरे भी कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। बीच-बीच में पद्य का प्रयोग भी किया गया है। ये पद सामान्यतः ब्रजभाषा में है। राजा शिवप्रसाद ने इसमें कुछ ऐसे शब्दों की ओर भी संकेत किया है जो बाद की साहित्यिक भाषा में प्रयुक्त नहीं हुये हैं। जैसे सोहीं (सामने), भया (हुआ), अब हूँ (अभी), धाया (दौड़ा), बिरियाँ (समय), तभी (तभी), दीसे (दीखे), इत्यादि किन्तु इस प्रकार के प्रयोग तत्कालीन सभी गद्य लेखकों में मिल जाते हैं।

संक्षेप में लल्लूलालजी ने भाषा में माधुर्य, सरलता, सरसता, अभिव्यंजना एवं काव्यात्मकता लाने का प्रयत्न किया है। प्रेमसागर की भाषा का प्रभाव आगे चलकर ईसाई-धर्म-प्रचारकों की भाषा पर भी लक्षित होता है किन्तु भाषा का यह रूप आगे चलकर अधिक मान्यता न प्राप्त कर सका। वस्तुतः हिन्दी खड़ीबोली के विकास में 'प्रेमसागर' का स्थायी ऐतिहासिक महत्व है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भाषा की दृष्टि से लल्लूलाल जी की विचारणीय रचना 'लतायफ़-इ-हिन्दी' है। कालेज के विवरण में इसे 'उर्दू' और 'हिन्दवी' में कहानियों का संग्रह कहा गया है। वस्तुतः इसकी भाषा सरल हिन्दुस्तानी है। इसमें 'हिन्दवी' का रूप नहीं दृष्टिगत होता। स्वयं लल्लूलालजी ने इसे 'ज़बान-इ रेख़्ता' कहा है। इस पुस्तक में कहानियों के साथ स्थल-स्थल पर ब्रजभाषा के दोहे तथा फ़ारसी पद भी उद्धृत किये गये हैं। सब मिलाकर इसमें भी अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों

का प्रयोग अधिक किया गया है और वाक्य-विन्यास प्राय: सर्वत्र उर्दू-शैली जैसा ही है। ठेठ और तद्भव शब्द वे ही रखे गये हैं जो सर्वाधिक लोक प्रचलित होने के कारण (अपनी अभिव्यंजना शक्ति के कारण) कहानियों से बहिष्कृत हो ही नहीं सकते थे। अतः यह रचना 'हिन्दवी' की परम्परा में नहीं रखी जा सकती। कदाचित् इसीलिये डॉ० वार्ष्णेय ने इसे खड़ी बोली हिन्दी गद्य के विकास में सहायक नहीं माना है।

सदलमिश्र—कालेज से सम्बन्धित हिन्दी-गद्यकारों में सदलमिश्र का स्थान भी महत्त्वपूर्ण है। कालेज के विवरणों के सूक्ष्मावलोकन से यह निर्विवाद है कि १८०३ में सदलमिश्र कालेज के हिन्दुस्तानी विभाग से सम्बन्धित थे। १८०८ में लल्लूलालजी के साथ इन्हें भी कालेज से अलग कर दिया गया किन्तु उसी वर्ष १७ अक्टूबर को कालेज-कौंसिल के एक प्रस्ताव के अनुसार उन्हें पुन: नियुक्त कर लिया गया।

रचनायें—सदलमिश्र की साहित्यिक कृतियों में 'चन्द्रावती' (१८०३) 'रामचरित' (अध्यात्म रामायण का अनुवाद) (१८०६) तथा 'हिन्दी-पर्शियन वाकेबुलरी' (१८०९) उल्लेखनीय हैं। इनमें प्रथम दो हिन्दी-गद्य के विकास में विशिष्ट स्थान रखती हैं।

'चन्द्रावती' या 'नासिकेतोपाख्यान' वस्तुतः यजुर्वेद के आधार पर कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता की कथा का ही खड़ीबोली गद्य में रूपान्तर है। सदलमिश्र ने ब्रह्मज्ञान के स्थान पर पात्रों और घटनाओं को ही अधिक प्राधान्य दिया है।

'रामचरित' ३२० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें कुल सात काण्ड हैं। अध्यात्म रामायण का आधार होने पर भी सदलमिश्र ने सर्गों के क्रम में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर दिया है। कथा की दृष्टि से कोई परिवर्तन नहीं लक्षित होता।

रचनाओं की भाषा—सदलमिश्र आरा जिला के निवासी थे। अतः उनकी भाषा पर बिहारी का स्पष्ट प्रभाव है। कुछ बँगला प्रभाव भी है। उनका व्यक्तिगत प्रयत्न खड़ीबोली के प्रयोग का ही रहा है किन्तु वे ब्रजभाषा के प्रभाव से अपने को अलग नहीं रख सके हैं। यह ब्रजभाषा भी बिहारी प्रयोगों से मिलकर अपना मूलरूप खो बैठी है। सदलमिश्र की भाषा में भी पण्डिताऊपन है। पूरबी शब्दों और प्रयोगों से भी वे अपना पीछा नहीं छुड़ा सके हैं। यह होते हुये भी उनकी भाषा गद्य की विशिष्टताओं को अधिक आत्मसात कर सकी है। प्रेमसागरी भाषा से उसमें अधिक प्रौढ़ता है।

'रामचरित्र' एक प्रकार से अनुवाद है। इसकी भाषा खड़ी बोली है। अरबी-फारसी के शब्द भी बीच-बीच में आ गये हैं। 'ब्रजभाषा', 'बिहारी' और 'बँगला' के अतिरिक्त इसमें 'अवधी' के शब्द भी आ गये हैं। एक संस्कृत ग्रंथ का अनुवाद होने के कारण 'रामचरित्र' की भाषा संस्कृत शब्दों को अधिक पचा सकी है।

गंगाप्रसाद शुक्ल—गंगाप्रसाद शुक्ल हिन्दी खड़ीबोली गद्य के विकास में अपनी प्रतिभा का पूर्ण योग न दे सके। कालेज के विवरण के अनुसार १८२६

में उन्होंने एक हिन्दी (हिन्दुई) इंगलिश डिक्शनरी बनाना प्रारम्भ किया था। अभाग्यवश बीमार हो जाने के कारण वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। इसी बीमारी में उनकी मृत्यु भी हो गई और उनकी किसी अन्य साहित्यिक रचना का उल्लेख नहीं मिलता।

उपसंहार

उपर्युक्त समस्त विवरण पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि हिन्दी-खड़ीबोली-गद्य के विकास में दो परम्परायें कार्य करती रही हैं। एक परम्परा अंग्रेजी के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रही है और दूसरी उनके प्रभाव में रहकर ही आगे बढ़ सकी है। प्रथम परम्परा में रामदास निरञ्जनी, दौलतराम, सदासुखलाल तथा इंशा अल्ला खाँ को रखा जा सकता है। दूसरी परम्परा में लल्लूलाल और सदलमिश्र उल्लेखनीय है। अंग्रेजों की भाषानीति सब मिलाकर (हिन्दुई) हिन्दी गद्य के अनुकूल नहीं थी। फलतः लल्लूलाल और सदलमिश्र की सभी कृतियों में हिन्दुई का समावेश न हो सका। तुलनात्मक दृष्टि से इन सभी गद्य-लेखकों में प्रवाह, सुसम्बद्धता तथा एकरूपता की दृष्टि से इंशा की भाषा अधिक महत्वपूर्ण है। यह होते हुये भी यह न समझ लेना चाहिये कि उपर्युक्त लेखकों ने हिन्दी-गद्य को निश्चित रूप देने में सफलता प्राप्त कर ली थी। यह कार्य तो आगे चलकर भारतेन्दु के हाथों सम्पन्न हुआ। इनकी कृतियों का महत्व मूलतः ऐतिहासिक ही है।

ईसाई धर्म-प्रचारक और उनकी खड़ी बोली

हिन्दी-प्रदेश में ईसाई धर्म-प्रचारकों का प्रवेश अंगरेजी शासन स्थापित होने के बहुत पहले ही हो चुका था। सन् १५७९ और १५६१ के बीच टॉमस स्टीवेन्स, जॉन न्यूबेरी, मास्टर जॉन एल्ड्रेड और रैल्फ़ फ़िच आदि अनेक अँगरेज उत्तर भारत में प्रवेश कर चुके थे। यद्यपि ये धर्म-प्रचारक नहीं थे फिर भी इनके व्यक्तित्व द्वारा मानो ईसाई धर्म की सहिष्णुता हिन्दी भाषी जन-समुदाय के बीच अपना स्थान बनाने का प्रयत्न करने लगी थी। अकबर के राजत्व काल में तो न केवल अँगरेज वरन पोर्चुगीज ईसाइयों ने भी आगरे में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। जहाँगीर के समय में भी इन धर्म-प्रचारकों को कुछ सफलता मिली। शाहजहाँ और औरंगजेब के शासन में इनको सुविधायें नहीं प्राप्त हुईं। कम्पनी की नीति उस समय तक ईसाई-धर्म-प्रचारकों के अनुकूल रही जब तक उसका शासन सम्बन्धी उत्तरदायित्व अपेक्षाकृत कम रहा। शासन-सूत्र हाथ में आने पर उसे भारतीयों में असन्तोष फैलने की आशंका बराबर बनी रही। इसीलिये धर्म-प्रचारकों के साथ कम्पनी पूर्ण सहयोग न कर सकी। यह सब होने पर भी ईसाई-धर्म-प्रचार बराबर आगे बढ़ता रहा। १७९३ ई० में केरे महोदय ने कलकत्ते के निकट श्रीरामपुर में अपना केन्द्र स्थापित किया। १८०९ ई० में मूर साहब ने पटना के पास एक मिशन स्थापित किया। १८१० ई० में आगरे में

बॉपटिस्ट मिशन की स्थापना हुई। १८१४ में दो अन्य मिशन आगरा और इलाहाबाद में स्थापित हुये। बॉपटिस्ट, चर्च मिशनरी सोसाइटी और लन्दन मिशनरी सोसाइटी ने क्रमशः १८१६, १८१८ और १८२० में बनारस को अपना प्रचार-क्षेत्र बनाया। इस प्रकार उन्नीसवीं शती इस्वी के पूर्वार्द्ध में ही पटना, मुंगेर, भागलपुर, छपरा, लखनऊ, कानपुर, मेरठ, अलीगढ़, आगरा, इटावा, झाँसी, अलमोड़ा, रानीखेत, नैनीताल, देहरादून, गाजीपुर, मिर्जापुर बनारस, बक्सर, चुनार, इलाहाबाद, सहारनपुर, बरेली, फतेहपुर, फतेहगढ़, दिल्ली, जबलपुर, अम्बाला, जयपुर, अजमेर, नागपुर आदि उत्तरी भारत के अनेक नगरों में ईसाई धर्म प्रचारकों का कार्य फैल गया।[१]

इन धर्म प्रचारकों को सामान्य जनता की बोली म ही अपने धर्म के तत्त्वों की व्याख्या करनी पड़ती थी। फलस्वरूप इन्होंने 'हिन्दवी' की उस परम्परा को ही ग्रहण किया जो दौलतराम, रामदास निरजनी, सदासुखलाल और लल्लूलाल (प्रेमसागरी) द्वार व्यवहृत होती हुई विकसित हुई थी। और जो जॉन गिलक्राइस्ट की हिन्दुस्तानी से सर्वथा भिन्न थी। इस तथ्य पर विचार करते हुये आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है।

"इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुखलाल और लल्लूलाल को विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिल्कुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी-अरबी मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था।"[२]

धर्म प्रचार के लिये मिशनरियों ने बाइबिल का अनुवाद कराया। १८०९ ई० में हेनरी मार्टिन ने बाइबिल का हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में अनुवाद किया। उनके इस अनुवाद का ऐतिहासिक महत्व है। कहा जाता है कि मार्टिन साहब का अनुवाद ही अन्य सभी अनुवादों का आधार है। बाइबिल के अतिरिक्त ईसाइयों द्वारा अन्य अनेक छोटी-छोटी धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित की गईं। भाषा की दृष्टि से इन सभी पुस्तकों का महत्वपूर्ण, स्थान है। इन पुस्तकों में जे० टी० टॉमसन का 'दाऊद के गीत' (१८३६) जॉन म्योर द्वारा विरचित 'ईश्वरोक्त शास्त्रधारा' (१८४६) तथा 'सतमत निरुपण' (१८४८), जे० ए० शरमन कृत 'दि प्रॉपर नेम्स इन दि ओल्ड ऐंड न्यू टेस्टामेंट्स, रेन्डर्ड इन्टु उर्दू ऐंड हिन्दी', (१८५०) 'फूलों का हार' (१८५०), पॉल का चरित्र' (१८५२)' वेदान्तमत विचार' (१८५३) आदि पुस्तकें उल्लेखनीय है।[३] इन पुस्तकों की भाषा 'बाइबिल' की भाषा के सर्वथा निकट है। ईसाई मिशनरियों द्वारा प्रयुक्त हिन्दी-खड़ीबोली के

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ ४५८
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल—पृष्ठ ४२३
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृष्ठ ४७६

स्वरूप की सम्यक् अवधारणा के लिये दो एक उदाहरण अनिवार्य हैं। सन् १८? में छपी हुई बाइबिल की भाषा का एक नमूना देखिये।

"लोन अच्छा है परंतु यदि लोन अपनी लोनाई को खोवे तो तुम उसको किससे स्वादित करोगे आप में लोन रखो और आपुस में मिले रहो।"

"आरम्भ में वचन था और वुह वचन ईश्वर के संग था और वुह वचन ईश्वर था।"[1]

जनता के मानसिक धरातल के अत्यन्त सन्निकट आने के प्रयत्न में इन धर्म प्रचारकों ने जनपदीय बोलियों की सम्पूर्ण अभिव्यंजना शक्ति को समेटना चाहा। फलस्वरूप उनकी भाषा विचित्र शब्दों, वाक्य-विन्यासों तथा व्याकरण सम्बन्धी *प्रयोगों से भरी हुई है। उदाहरण के लिये कुछ प्रयोग देखिये– 'अवतार धारण* हो', 'बाँसली बजाये किये', 'पिता से बाचा पाके', 'बटुरी बैठी थीं', अर्पित करने चाहा', 'पुलूस को सैन किया', 'अपनी आखें मूंद लियी हैं', 'परमेश्वर ने हम को डरपोकना आत्मा नहीं दिया', 'वैद्य का आवश्यक नहीं", इत्यादि।

श्रीरामपुर मिशनरियों ने 'न्यू टेस्टामेंट, (नये धर्म नियम) का अनुवाद न केवल हिन्दी-खड़ीबोली में प्रस्तुत किया वरन् भारत की अनेक बोलियों में भी उसे अनूदित किया। 'जयपुरी' 'मेवाड़ी', 'अवधी', 'बघेली', 'कनौजी', 'मारवाड़ी', 'व्रजभाषा', 'मालवी', आदि अनेक बोलियों में इसके संस्करण उपलब्ध हैं।

मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत बाइबिल के ये हिंदी-अनुवाद खड़ी बोली गद्य को किसी प्रकार की सुसंगठित एवं प्रौढ़ शैली न दे सके। भाषा को सरलतम रूप देने के प्रयत्न में वे साहित्यिकता से दूर हो गये। उनकी भाषा अधिक ग्रामीण हो गई। रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम, सदासुखलाल एवं सदलमिश्र की भाषा का आदर्श रूप भी ये ग्रहण न कर सके। इन गद्य-लेखकों की भाषामें साहित्यिकता है। साथ ही मिशनरियों की भाषा की तुलना में इनकी भाषा अधिक परिमार्जित है। ये धर्मप्रचारक अरबी-फारसी युक्त हिन्दुस्तानी से अपनी भाषा को अलग तो रख सके किन्तु उसे साहित्यिक स्वरूप देकर हिन्दीगद्य की किसी प्रौढ़ शैली के जन्मदाता न बन सके।

आर्यसमाज-आन्दोलन

हिन्दी-गद्य को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करनेवाला दूसरा धार्मिक आन्दोलन आर्यसमाज का था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८७४ ई० में 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वारा अपने विचारों को हिन्दी-गद्य में प्रस्तुत किया। यद्यपि इसके कुछ पूर्व भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भाषा विषयक आदर्श अपनी रचनाओं के माध्यम से गद्य-लेखकों के सम्मुख उपस्थित किया था किन्तु दयानन्दजी की प्रवृत्ति [illegible] की ओर अधिक झुकी होने के कारण वे उस आदर्श पर नहीं चल सके। इनके गद्य में व्रजभाषा के प्रयोग भी मिलते हैं और पण्डिताऊपन भी कम

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ४६५

नहीं है। इस गद्य की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें गहन विषयों की अभिव्यक्ति की क्षमता आ गई। तर्क शैली का प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। व्यंग और कटाक्ष की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इसके अतिरिक्त अभिव्यक्ति में विस्तार की प्रवृत्ति भी परिलक्षित होती है। हिन्दी-गद्य-शैली के विकास पर आर्य समाजी आन्दोलन के प्रभाव को निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हुये डॉ० वार्ष्णेय ने लिखा है—

'इस प्रकार आर्य समाज तथा अन्य धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी भाषा तथा गद्य-शैली का विकास हुआ, यह निर्विवाद है।'[1]

हिन्दी-गद्य-शैली में युगान्तर

अभी तक हिन्दी-गद्य के स्वरूप निर्माण एवं विकास के दो ही प्रमुख स्रोत थे। एक तो **धार्मिक संस्थायें** और दूसरा **फोर्ट विलियम कालेज**। इन दोनों में अंगरेजों की प्रतिकूलता के कारण फोर्ट विलियम कालेज के पंडितों से हिन्दी गद्य को अपेक्षित शक्ति न मिल सकी। धार्मिक संस्थाओं को जनता के निकट पहुँचना था। अतः उन्हें 'हिन्दुई' का आधार लेना पड़ा था किन्तु उनके द्वारा भी हिन्दी-गद्य को न तो प्रौढ़ता मिली न स्थिरता। ईसाई-प्रचारक अधिक ग्रामीण शैली लेकर चले थे, दूसरी ओर ब्रह्मसमाज एवं आर्य समाज के ग्रंथों में संस्कृत-निष्ठ-गद्य का प्रयोग था। अंग्रेजी प्रभाव से पृथक हिन्दी-गद्य की स्वतन्त्र परम्परा के पोषक रामदास निरंजनी, दौलतराम तथा सदासुखलाल आदि गद्य लेखकों की शैली अपना स्वरूप विकास अनुकूल वातावरण के अभाव में न कर सकी। इसी समय हिन्दी-गद्य के सामने संघर्ष एवं विषम गत्यावरोध की स्थिति आई। अब समस्त उत्तरी भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया था। वे अपनी भाषा एवं साहित्य का प्रचार चाहते थे। मुसलमानी जनता उर्दू एवं अरबी-फारसी के पक्ष में थी। हिन्दी-गद्य को जनबल के अतिरिक्त अन्य किसी का सहारा नहीं था इस समय भाषा के विकास में तीन प्रमुख माध्यम कार्य कर रहे थे। (क) शिक्षा संस्थायें, (ख) समाचार पत्र, (ग) कचहरियाँ।

शिक्षा-संस्थाएँ

कम्पनी सरकार के समय में भी शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। देशी जनता को यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराने की आवश्यकता कम्पनी सरकार को भी महसूस हुई थी और उसने जनता की भाषा में ही इस ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का प्रारम्भ किया था। कलकत्ता बुक सोसाइटी (१८१७), कमिटी ऑव पब्लिक इन्स्ट्रक्शन (१८२३), आगरा कालेज (१८२३), दिल्ली कालेज, बरेली कालेज, आगरा नार्मल स्कूल, आदि की स्थापना कम्पनी की इसी नीति के आधार पर हुई थी। सन् १८३८ और १८५० के बीच इन शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्य

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १४०

पुराणों की रचना के लिये हिन्दी गद्य का प्रयोग हुआ। यह गद्य और लिण्डाइन्ट द्वारा पोषित फोर्ट विलियम कालेज के गद्य से सर्वथा भिन्न है। आरम्भिक एवं शिथिल होने पर भी उसे हम हिन्दी-गद्य के विकास का अग्रिम कदम अवश्य मान सकते हैं। उदाहरण के लिये आगरा कालेज के अध्यापक जवाहरलाल जी भाषा का नमूना देखिये—

'जब सारी यूरप में नेपोलियन बोनापार्ट के अधीन होने से क्षीण हो गयी तब बैलजियमवाले हालैण्ड देश में इस आशय से इकट्ठे हुए कि हमारे साथी होने से नीदरलैण्ड के राज्य में आगे के लिए फ्रान्सवालों को सम्पूर्ण रूप से रोक होवे।'[1]

इस गद्य में अंग्रेजी के शब्दों का प्रवेश भी धीरे-धीरे होने लगा जो हिन्दी-गद्य के जीवन एवं शक्ति-विकास का द्योतक है। सन् १८३५ में लार्ड मैकाले की शिक्षानीति से हिन्दी-गद्य को थोड़ा धक्का लगा किन्तु सन् १८५४ में चार्ल्स वुड की शिक्षायोजना के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा-सम्बन्धी पाठ्य पुस्तकों का फिर से निर्माण हुआ। उच्च शिक्षा का माध्यम अंगरेजी होने के कारण हिन्दी को अधिक प्रश्रय नहीं मिला। इसी समय हिन्दी-गद्य के क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद (१८२३–१८९५) का पदार्पण हुआ। हिन्दी की रक्षा के लिये प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उन्होंने जो कुछ किया उसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

कचहरियों की भाषा

सन् १८३७ के बाद सरकारी दफ्तरों और कचहरियों से नागरी का प्रायः बहिष्कार-सा हो गया। इन दफ्तरों में उर्दू (अरबी-फारसी मिश्रित) का ही प्राधान्य रहा। इसी ओर लक्ष्य करते हुये राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने कहा था।

"शुद्ध हिन्दी चाहनेवालों को हम यकीन दिला सकते हैं कि जब तक कचहरी में फारसी हरफ़ जारी हैं इस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफ़ायदा होगी।"[2]

श्री बालमुकुन्द गुप्त और वीरेश्वर चक्रवर्ती जैसे अन्य हिन्दी प्रेमियों ने भी हिन्दी-गद्य की इस हीन स्थिति की ओर संकेत किया है।

समाचार पत्रों के प्रकाशन से हिन्दी-गद्य को बल प्राप्त हुआ। सन् १८२६ में पं० जुगुल किशोर ने कलकत्ते से 'उदन्तमार्तंड' नामक हिन्दी का प्रथम समाचार पत्र प्रकाशित किया था। यह एक वर्ष बाद ही समाप्त हो गया। इसमें प्रयुक्त हिन्दी-गद्य वस्तुतः व्यावहारिक हिन्दी-गद्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। १८२९ में 'बंगदूत' नामक पत्र निकला। यह हिन्दी के अतिरिक्त 'अँगरेजी', 'फारसी' और 'बँगला' में भी प्रकाशित होता था। १८४४ में बनारस से राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की प्रेरणा से 'बनारस अखबार' प्रकाशित

समाचारपत्र

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ४६

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ ११५

हुआ। इसकी भाषा का झुकाव पूर्णतः उर्दू की ओर था। सन् १८५० ई० में इसके विरोध में बनारस से ही तारा मोहन मैत्र के सम्पादकत्व में 'सुधाकर' का जन्म हुआ। इसके थोड़े ही दिनों बाद कलकत्ते से ही सन् १८५४ में हिन्दी का सर्वप्रथम दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' श्यामसुन्दर सेन के सम्पादकत्व में निकला। दैनिक जीवन के अधिक निकट होने के कारण इसकी भाषा विचारणीय है। इसमें प्रयुक्त भाषा का उदाहरण देखिये—

'फिर जब हम लोग अपनी आँखों से प्रत्यक्ष महाजनों की कोठियों में देखते हैं कि एक की लिखी हुई चिट्ठी दूसरा उसको बाँच सकता नहीं। चार पाँच आदमी लोग इकट्ठा होके सब टटा बटा पता हरा कहिके फेर चिट्ठी का पढ़ा बोल के निश्चय करते हैं। क्या दुख की बात है। कहिये तो अपने पास से द्रव्य खर्च करके विद्यादान देने की कौन सो दूर रही अपने विद्या सीखना बड़ा कसरत है। सब अक्षरों से देवनागर अक्षर अति उत्तम सहज और सर्वदेश में प्रचलित हैं। इसको प्रथम सीखना।'[1]

उपर्युक्त गद्य निश्चय ही अपरिष्कृत है किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि जनता देवनागरी लिपि एवं सरल व्यावहारिक हिन्दी को ही अपनी वस्तु समझती थी। भारतेन्दु के आगमन के पूर्व हिन्दी-गद्य के विकास में उपर्युक्त सभी पत्रिकायें कार्य करती रहीं। किन्तु भाषा विषयक नीति निर्धारण में एवं उसके स्वरूप पर स्थायी प्रभाव डालने में जिन व्यक्तियों का अधिक हाथ रहा उनमें राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, और राजा लक्ष्मणसिंह प्रमुख हैं। यहाँ इन दोनों व्यक्तियों की भाषा-नीति पर विस्तार से विचार करना अनावश्यक न होगा।

राजा शिवप्रसाद—राजासाहब, जहाँ तक लिपि का प्रश्न था, देवनागरी पसन्द करते थे किन्तु भाषा के सम्बन्ध में उनका मत कुछ दूसरा ही था। वे हिन्दी को उर्दू बना देना चाहते थे। उन्होंने सदैव शिष्ट जन-समुदाय को दृष्टि में रखना उचित समझा। इसीलिये हिन्दी के गँवारूपन को निकालने के लिये उसमें अरबी-फारसी शब्दों का समावेश उन्हें उचित प्रतीत हुआ।[2] ऐसा करने के लिये वे बहुत कुछ बाध्य भी थे। सरकारी नीति से अलग भाषा के विषय में उनकी

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १६२

२. 'I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words even those which have become our house hold words from our Hindi books, and use in their stead Sanskrit words, quite out of place and fashion, or those coarse expressions which can be tolerated only among a rustic population'.

—इतिहास ति[illegible] १ की [illegible] से।

अपनी नीति हो भी नहीं सकती थी। अंगरेजी सरकार का झुकाव प्रारम्भ से उर्दू की ओर था। राजा साहब को स्कूलों में पढ़नेवाले हिन्दू और मुसल विद्यार्थियों का भी ध्यान रखना पड़ता था। वे उनकी भाषाओं में एकरू लाना चाहते थे। इन कारणों से उन्हें उर्दू की ओर झुकना पड़ा; किन्तु झुकाव सहसा नहीं हुआ था। उनकी प्रारंभिक कृतियों में उर्दूपन अपेक्षाकृत है परवर्ती रचनाओं में उर्दूपन अधिक आता गया है। उनकी रचनाओं पर ध्य देने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।

रचनायें 'आलसियों का कोड़ा', 'वर्णमाला', 'स्वयबोध उर्दू', 'वामामनरंजन', 'विद्यां 'राजा भोज का सपना', 'भूगोल्हस्तामलक', 'इतिहास तिमिर नाशक', 'गुटका', 'हि स्तान के पुराने राजाओं का हाल', 'मानवधर्मसार', 'सिक्ख का उदय और अस्त' 'योग वाशिष्ठ के कुछ चुने हुये श्लोक 'उपनिषद्सार' इत्यादि उनकी प्रमुख कृतियाँ है।

भाषा उपर्युक्त पुस्तकों में 'मानव धर्मसार', 'उपनिषदसार' तथा 'योग-वाशिष्ठ के कुछ चुने हुये श्लोक' की भाषा संस्कृत निष्ठ है। ये पुस्तकें स्कूली विद्यार्थियों के लिये नहीं लिखी गई थी। इनकी रचना में राजा साहब का दृष्टिकोण बहुत कुछ स्वतन्त्र था। इनकी भाषा का एक नमूना देखिये।

'पुरुषों के यौवन रूपी शरदऋतु में शोभा के उज्ज्वल गुण सुगन्धादिक सो वृद्धा रूपी हेमन्त में नष्ट होते हैं चित्त की समाधीनता और आस्था भी अति दूर चली जाती है जैसे हिम ऋतु में कमलों की'।[1]

'जो सम्पूर्ण भूतों में रहकर सम्पूर्ण भूतों से अन्तर जिसको सम्पूर्ण भूतों को भीतर होके यम (प्रेरणा) करता है सो आत्मा अन्तर्यामी भी अमृत है।'[2]

उपर्युक्त पुस्तकों की भाषा में ब्रजभाषा के प्रयोग भी कहीं-कहीं आ गये हैं। व्यक्तिगत रूप से राजासाहब ऐसे प्रयोगों को दूर रखना चाहते थे किन्तु धार्मिक एवं सांस्कृतिक विषयों में इस प्रकार की भाषा का कुछ ऐसा गठबन्धन था कि वे उसे तोड़ने में पूर्णतः सफल न हो सकें। विचित्र बात तो यह है कि इन रचनाओं में भी जहाँ-कहीं वे मूल विषय से अलग होकर स्वतन्त्र उदाहरण आदि प्रस्तुत करते हैं वहीं उनकी भाषा उर्दू (अरबी–फारसी-मिश्रित हिन्दुस्तानी) हो जाती है। इससे प्रकट है कि संस्कृतनिष्ठ भाषा से उनका आन्तरिक सम्बन्ध नहीं था।

'भूगोल हस्तामलक', 'स्वयंबोध उर्दू', 'वामामनरंजन', 'राजाभोज का सपना', 'विद्यांकुर', 'आलसियों का कोड़ा' आदि पुस्तकों की भाषा चलती हुई व्यावहारिक

---

१ योगवाशिष्ठ—पृष्ठ १२

२. उपनिषद्सार—पृष्ठ २५

किन्तु सरल हिन्दी है। इनमें अधिक उर्दूपन नहीं है। प्रारम्भ में उनकी भाषा नीति इसी प्रकार की भाषा के पक्ष में थी। इनमें विदेशी शब्दों का ठीक उसी प्रकार प्रयोग हुआ है जिस प्रकार चन्द, तुलसी, बिहारी आदि कवियों की कृतियों में। उदाहरण के लिये 'भूगोल हस्तामलक' की भाषा का एक नमूना देखिये—

'निदान यह बंगाले का मैदान नदियों से सिंचा हुआ गंगा के दोनों तरफ हिमालय और विन्ध के बीच हरिद्वार तक चला गया है, और गंगा यमुना के बीच जो देश पड़ा है उसे अन्तरवेद और पुराना दुआबा भी कहते हैं और यही दो-चार सूबे अर्थात् दिल्ली, आगरा, अवध और इलाहाबाद यथार्थ मध्यदेश अर्थात् असली हिन्दुस्तान है।'[1]

उपर्युक्त सभी कृतियों की भाषा लगभग इसी प्रकार की है। आगे चलकर उनका मोह उर्दू की ओर बढ़ता गया। 'इतिहास तिमिर नाशक' की भूमिका में वे एक स्थान पर कहते हैं—

'Our court language is Urdu, and the court language has always been regarded by all nations as the most fashionable language of the day 'Urdu' is now becoming our mother tongue and is spoken more or less, and well or badly, by all in the North-Western Provinces.'[2]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि राजासाहब हृदय से उर्दू पर मुग्ध थे।

'इतिहास तिमिरनाशक भाग तीन', 'सिक्खों का उदय और अस्त', तथा 'हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल', इन रचनाओं में राजासाहब उर्दू की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रवृत्ति विकास की चरम-स्थिति तक आ गई है। 'इतिहास तिमिर नाशक' भाग दो की भूमिका में वे लिखते हैं—'I have adopted to a certain extent the language of Baital Pachchisi'.[3] यह होते हुए भी दोनों पुस्तकों की भाषा में अन्तर स्पष्ट है। 'इतिहास तिमिर नाशक' की भाषा नागराक्षरों में लिखी हुई सरल उर्दू है जबकि बैताल पच्चीसी की भाषा को 'रेख्ता' कहा गया है 'बैताल पच्चीसी' में संस्कृत के कुछ शब्द भी हैं किन्तु 'इतिहास तिमिर नाशक' में इनकी संख्या नहीं के बराबर है। 'सिक्खों का उदय और अस्त' की भाषा तो पूर्णतः उर्दू हो गई है साथ ही इसमें अरबी-फारसी शब्दों का व्यवहार अधिक किया गया है।

'गुटका' एक संग्रह-पुस्तिका है। यह स्कूली विद्यार्थियों की शिक्षा के लिये लिखी गई थी। अतः इसमें राजासाहब की भाषा विषयक नीति के विषय में

---

१. भूगोल हस्तामलक, भाग २—पृष्ठ १५०
२. 'इतिहास तिमिर नाशक' की भूमिका भाग, १
३. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १२७

सम्भव नहीं। यह होने पर भी उनकी कृतियों का खूब स्वागत हुआ। उनका शकुन्तला का अनुवाद तो बहुत ही लोकप्रिय हुआ। 'शकुन्तला' की भाषा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच-विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो।"[1]

राजा लक्ष्मणसिंह की उपर्युक्त भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल कहते हैं—'यह भाषा ठेठ और सरल होते हुये भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिये हुये है।' निश्चय ही राजा साहब ने परम्परागत हिन्दी के विशुद्ध रूप की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया किन्तु युगानुकूल नवचेतना के वाहक लोक प्रचलित विदेशी शब्दों को भी उन्होंने हिन्दी से अलग रखा। जिन शब्दों के विषय में स्वयं राजासाहब की धारणा थी कि वे जनता में अधिक प्रचलित हैं केवल विदेशी होने के कारण उन्होंने उन्हें हिन्दी स्वीकार करने में हिचक दिखाई। फलस्वरूप 'गवाह', 'अदालत', 'कलेक्टर' जैसे शब्द भी उन्हें मान्य न हुये। विकसित होती हुई भाषा के लिये यह दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ नहीं माना जा सकता।

राजा शिवप्रसाद तथा राजा लक्ष्मणसिंह की विरोधी नीतियों का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के स्वरूप को लेकर साहित्य क्षेत्र में दो विरोधी मत उठ खड़े हुये। एक उर्दू का समर्थक हुआ तो दूसरा हिन्दी का पक्षपाती। कुछ लोगों ने मध्य का मार्ग लिया। इनके अनुसार लिपि तो नागरी ही ठीक थी किन्तु भाषा उर्दू से सुन्दर और हो ही नहीं सकती थी। उर्दू के पक्ष में प्रभावशाली मुसलमानों ने भरपूर प्रयत्न किया। कुछ अंग्रेज विद्वानों ने भी उर्दू का पक्ष लिया। उर्दू के समर्थकों में सबसे सबल व्यक्तित्व सर सैयद अहमद खाँ का था। उन्होंने अंग्रेजों को सुझाया कि हिन्दी-हिन्दुओं की जबान है जो 'बुतपरस्त' हैं और 'उर्दू' मुसलमानों की जिनके साथ अंगरेजों का मजहबी रिश्ता है—दोनों 'सामी' या पैगम्बरी मत को मानने वाले हैं।[2] प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी ने भी 'उर्दू' का खूब समर्थन किया। उन्होंने सर सैयद की हृदय से प्रशंसा की।

हिन्दी का जोरदार समर्थन आर्य समाजियों एवं ब्रह्म-समाजियों ने किया। श्री नवीनचन्द्र राय (१८६३–१८८०) ने पंजाब में हिन्दी का खूब प्रचार किया। आप 'ब्रह्म-समाज' के सिद्धान्तों के पोषक थे और हिन्दी-भाषा के कट्टर समर्थक।

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल—पृष्ठ ४४०
२. हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल—पृष्ठ ४३४

लगभग इसी समय पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी (१८५३) ने भी घूम-घूमकर पंजाब में हिन्दी का प्रचार किया साथ ही वर्णाश्रम धर्म की शिक्षा भी दी।

इस खींचतान में भी हिन्दी अपना स्वाभाविक विकास करती रही। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने संस्कृत निष्ठ एवं फारसी-अरबी मिश्रित भाषा सम्बन्धी इन दोनों अतिवादों से दूर रहकर जनता की वाणी को पहचाना और हिन्दी के सच्चे स्वरूप को पहचाना।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—(१८५०–१८८५) भारतेन्दु ने हिन्दी गद्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये सन् १८८३–८४ के लगभग 'हिन्दी भाषा' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की। इसमें शुद्ध हिन्दी के रूप में उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

'पर मेरे प्रीतम अब तक घर न आये क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फन्द में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गये। कहाँ (तो) वह प्यार की बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हा! मैं कहाँ जाऊँ कैसी करूँ मेरी तो ऐसी कोई मुँह बोली सहेली भी नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ कुछ इधर-उधर की बातों ही से जी बहलाऊँ।'[1]

भारतेन्दु ने अपने नाटकों में इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया। एक ओर तो इसमें तद्भव एवं देशज शब्दों एवं मुहावरों का प्राधान्य है और दूसरी ओर जनजीवन में घुले हुये विदेशी शब्दो से कोई खास परहेज भी नहीं किया गया है। भारतेन्दु के समसामयिक अधिकांश लेखकों ने इसी शैली को अपनाया किन्तु खेद है कि आगे चलकर बंगला के अनुवादो तथा आर्य समाज की एकान्त संस्कृत निष्ठा के कारण भाषा का यह रूप अधिक मान्य न हो सका। भाषा के आदर्श रूप की प्रतिष्ठा करने पर भी भारतेन्दु उसका पूर्ण परिमार्जन न कर सके। वे भी पंडिताऊपन से पीछा न छुड़ा सके। ब्रज का प्रभाव बना रहा। पूरबी प्रयोग होते रहे। यहाँ तक कि शब्दों के अशुद्ध वर्ण-विन्यासों—'व' के स्थान पर 'ब', मध्य तथा अन्त में 'ए' के स्थान पर 'ऐ'—से भी मुक्ति न मिली। वाक्य-विन्यासों एवं पद-योजनाओं में भी पूर्ण परिष्कार न हो सका। 'किसी पदार्थों में', 'हर एक आनन्दों के लिये', 'सूचना किया जाता', आदि प्रयोग भी चलते रहे।[2] यह परिमार्जन आगे चलकर आचार्य द्विवेदी के हाथों सम्पन्न हुआ। यह सब होने पर भी हमें भारतेन्दु के इस कथन को स्वीकार करना होगा कि 'हिन्दी नए चाल में ढली' (हरिश्चन्द्र मैगजीन १८७३)। हिन्दी की यह नई चाल उसे व्यावहारिक रूप देने में समर्थ हुई। हिन्दी में शब्द ग्रहण करने की अद्भुत

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १३८

२. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—शिवनाथ—पृष्ठ ११२

समता दृष्टिगत हुई। एक सजीव भाषा की भाँति उसने अंग्रेजी और बंगला से अनेक शब्द ग्रहण किये। आगे चलकर तो यह शब्द-ग्रहण बड़ी ही तीव्रता से होने लगा। भारतेन्दु के समय में ही अंगरेजी के अनेक शब्द हिन्दी में आ गए थे। उदाहरण के लिये शासन सम्बन्धी शब्दों में—'म्युनिसिपैल्टी', 'हाईकोर्ट', 'कलक्टर', 'पुलिस', 'जज', 'गवर्नर', 'वाइसराय', 'लार्ड', आदि का प्रयोग धड़ल्ले से होने लगा था। इसी प्रकार वस्त्र एवं वेश-भूषा सम्बन्धी शब्दों—'कोट', 'पेंट', 'शर्ट', 'शू', 'टाई', 'बूट', 'कॉलर', का भी प्रयोग चल पड़ा था। इसी प्रकार नित्य-प्रति के जीवन में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों—'स्टेशन', 'पोस्टमैन', 'रेल', 'एडीटर', 'कॉपी', 'ब्रैंडी'—का आगमन भी तीव्रता से हो रहा था।[1] शब्द भाण्डार के साथ-साथ हिन्दी गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति भी बढ़ने लगी थी। उसमें नवीन विचारों के धारण की शक्ति आ रही थी। निश्चय ही भारते-भारतेन्दु-युग तक आते-आते हिन्दी गद्य में युगान्तर उपस्थित हो गया था और हिन्दी नये चाल में ढलने लगी थी।

भारतेन्दु के सम-सामायिक लेखकों का योग

भारतेन्दु की प्रेरणा से उनके जीवन-काल में ही अनेक गद्य-लेखकों एवं कवियों का अच्छा मण्डल बन गया था। गद्य-लेखकों में पं० प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह तथा पं० बालकृष्ण भट्ट प्रमुख थे। इन सभी लेखकों को अपनी परम्परागत भाषा की प्रवृत्ति का पूरा परिचय था। संस्कृत के अप्रचलित शब्दों का प्रयोग ये लोग नहीं करते थे। साथ ही अन्य भाषाओं से आवश्यकतानुसार शब्द लेने में भी इन्हें हिचक न थी। लोक-जीवन में प्रचलित सुन्दर अभिव्यंजनापूर्ण शब्दों का ग्रहण करने में भी ये लोग हिन्दी का हित मानते थे। यह होने पर भी इनकी निजी विशेषतायें थीं, और इन विशेषताओं ने हिन्दी-गद्य के तत्कालीन स्वरूप को बहुत दूर तक प्रभावित भी किया।

पं० प्रतापनारायण मिश्र—मिश्र जी का भाषा विषयक आदर्श लगभग वैसा ही था जैसा भारतेन्दु का। ऊपरी दृष्टि से दोनों में अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होता। किन्तु मिश्र जी की भाषा अधिक चलती हुई है। इनके लेख प्रायः आत्माभिव्यंजक हैं फलतः उनमें मनोरंजन की प्रवृत्ति एवं स्वच्छन्द दृष्टिकोण स्वाभाविक है। इसीलिये भाषा में भी यथावसर अरबी-फारसी और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से हुआ है। मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग इन्होंने अपेक्षाकृत अधिक किया है यहाँ तक कि फारसी की लोकोक्तियों को भी आपने उपस्थित कर दिया है। बीच-बीच में उद्धरण स्वरूप संस्कृत अरबी और

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—पृष्ठ १४२

फारसी का प्रयोग भी किया गया है। भाषा को अधिक चमत्कार पूर्ण बनाने के लिये आपने तुकदार शब्दों एवं वाक्य-खंडों का भी खूब उपयोग किया है। यह होने पर भी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई है। सब कुछ सरल एवं स्वाभाविक ढग से प्रवाहित होता हुआ चलता है। एक स्थान पर आप लिखते हैं।

'सच है! भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान् के बनाये हुए भव में जो कुछ है भ्रम ही है।' जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है।[1]

संस्कृत के ऐसे शब्दो का प्रयोग भी जो हिन्दी में अव्यय रूप में ग्रहण किये जाते हैं और जो प्राय. बने-बनाये रूप में रख दिये जाते हैं, आपने कम नहीं किया है। 'अन्ततोगत्वा', 'प्रत्यक्षतया', 'सर्वभावेन', 'न्यायेन', आदि शब्दों का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है। अंग्रेजी के शब्दों—'नेचर', 'डिग्री', 'जेंटिलमैन', 'लिबर्टी', 'डिप्टी', को भी आपने अस्वीकार नहीं किया है। पुराने और एकदेशीय प्रयोग भी भारतेन्दु की भाँति आपकी भाषा में मिल जाते हैं। जैसे—'बीस वर्ष भी नहीं भए', 'चाहो ऋषि समझो', 'चाहो राजा समझो', 'मूड़', 'गोड़', 'खूंटि', 'हई' (है ही) 'व' (और) 'काहे' (क्यों) 'परलौ' (प्रलय) 'प्रोहित' (पुरोहित) 'रिसियों' (ऋषियों) आदि प्रयोग इसी प्रकार के हैं।[2] कहीं-कहीं भाववाचक संज्ञा बनाते समय शब्दों को अधिक आडम्बर के साथ प्रयोग करने के मोह में त्रुटिपूर्ण प्रयोग भी आपकी भाषा में मिल जाते हैं। इन्होंने प्रबल से भाववाचक संज्ञा बनाते समय प्राबल्यता कर लिया है। इस प्रकार की प्रवृत्ति भारतेन्दु-युग के कुछ अन्य लेखकों में भी देखी जा सकती है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त मिश्रजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जा सकती है कि वह बोलचाल की भाषा के अति निकट है। फलस्वरूप उसमें गुदगुदा देने की अद्भुत शक्ति है। देखिये—

"यह तो समझिये यह देश कौन है? यही न? जहाँ पूज्य मूर्तियाँ भी, जो एक को छोड़, चक्र या त्रिशूल या खड्ग व धनुष से खाली नहीं हैं, जहाँ धर्मग्रंथ में भी धनुर्वेद मौजूद है, जहाँ शृंगार रस में भी भूचाल और कटाक्षबाण, तेग—अदा व चलाते अब्रू—का वर्णन होता है। यहाँ से लड़ाई भिड़ाई का सर्वथा अभाव हो जाना मानो सर्वनाश हो जाना है। अभी हिन्दुस्तान में कोई वस्तु का निरा अभाव नहीं हुआ। सब बातों की भाँति वीरता भी लस्टम पस्टम बनी ही है; पर क्या कीजिए, अवसर न मिलने ही से 'बँधे घोड़ा बदतर होते बरँ ज्वान करें मोरिचाव।"

---

1 भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ ११६

2 भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ ११६

सारांश यह कि मिश्रजी का गद्य भी पूर्ण परिमार्जित एवं परिष्कृत नहीं कहा जा सकता। परिष्कार की यह कमी भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी गद्य-लेखकों में समान रूप से परिलक्षित होती है।

श्री बालकृष्ण भट्ट—भट्टजी ने मिश्रजी की अपेक्षा अधिक शिष्ट भाषा लिखने की चेष्टा की है। किसी विशेष भाषा से शब्द-ग्रहण की उनकी प्रवृत्ति नहीं थी। फिर भी अँगरेजी के शब्द उन्होंने, भारतेन्दुयुगीन अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक लिया है। अप्रचलित अँगरेजी शब्दों का उन्होंने पर्याय भी दे दिया है। 'सरकुलेशन', 'फिलासोफी', 'कोर्ट', 'एज्यूकेशन', 'एक्सपोर्ट', 'रिलीफ', 'सोशल कानफरेंस' आदि इसी प्रकार के शब्द हैं।

मुहावरों एवं लोकोक्तियों को अधिक ग्रहण करने की प्रवृत्ति इनकी भी थी। बीच-बीच में संस्कृत से उद्धरण देने के भी आप आदी थे। कुछ निबन्ध तो आपने भी मिश्रजी की ही भाँति केवल मुहावरों के चमत्कार प्रदर्शन के लिये ही लिखा है।

भट्टजी की प्रारम्भिक कृतियों में तुकदार वाक्यांशों की झलक भी मिलती है किन्तु भाषा की प्रौढ़ता के साथ-साथ यह प्रवृत्ति समाप्त होती गई है। उदाहरण के लिए—

'यह उसी करुणा वरुणालय दीनोद्धारक दीनजनपालक दयासागर की कृपा का लेश है कि आज हम इस शून एक ऊन दो के ऊपर सुन वाली संख्या में प्रवेश कर रहे हैं।'[1]

पुराने एवं स्वयं बनाये संस्कृत शब्दों का प्रयोग आपकी भाषा में भी खूब मिलता है। 'दिमपि', 'निश्चितमेव' 'अन्ततोगत्वा', 'दैवात्' इस प्रकार के प्रयोग स्थल-स्थल पर मिल जाते हैं।

व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी आपकी भाषा में कम नहीं हैं। 'स्वामी दयानन्द ने इसकी चेष्टा किया', 'हमारा समाज जर्जरित होता जाता है', 'भूतपूर्व यहाँ के योगी और संयमी अपनी दमनशक्ति और उपदेश से पृथ्वी भर के लोगों को आमवित किये थे।'[2] इस प्रकार के वाक्य भी आपकी भाषा में देखे जा सकते हैं।

बड़े-बड़े वाक्य बनाने की प्रवृत्ति भी आप में थी कदाचित् इसीलिये वाक्यों में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है। व्याकरण सम्बन्धी छोटी-मोटी भूलों के अतिरिक्त पूरबी प्रयोग भी आपकी भाषा में मिलते हैं। 'समझा-बुझाकर' के स्थान पर 'समझाय-बुझाय' आप बिना संकोच लिख जाते थे। इनकी भाषा का एक नमूना देखिये—

---

१. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ ११८

२. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ ११८

'सभ्यता और है क्या? यही कि सभ्य जाति के एक-एक मनुष्य आचार
वनिता सबों में सभ्यता के सब लक्षण पाये जायें। जिसमें आधे या तिहाई स
हैं वह जाति अर्ध शिक्षित कहलाती है। कौमी तरक्की भी अलग-अलग एक
आदमी के परिश्रम, योग्यता सुचाल और सौजन्य का मानो टोटल है। उसी त
कौम की तनज्जुली कौम के एक-एक आदमी की सुस्ती, कमीनापन, बोदी म
स्वार्थपरता और भाँति-भाँति की बुराइयों का ग्रैंड टोटल है।'

बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन—चौधरीजी का भाषा विषयक आद
मिश्र तथा भट्टजी से थोड़ा भिन्न था। अरबी-फारसी या अंग्रेजी शब्दों के प्र
के पक्ष में आप नहीं थे। आप केवल तत्सम एवं तद्भव शब्दों के प्रयोग में
भाषा-सौंदर्य देखते थे। भाषा विषयक अपना यह दृष्टिकोण आपने स्पष्ट भी क
दिया है। आप लिखते हैं—

'अधिकांश हिन्दी के उन सुलेखकों के लेखों में जो संस्कृत के भी पण्डित
अपनी सरस नागरी भाषा को विशुद्ध हिन्दी के सरल और संस्कृत के मनोहा
शब्दों से सुसज्जित करने के स्थान पर उर्दू अर्थात् फारसी, अरबी के कठिन, दुर्बो
और अशुद्ध जो प्रायः बेढंगे रीति पर आकर न केवल उस प्रबन्ध की शोभा क
ह्रास करते, वरंच उर्दू पठित पाठकों को रचयिता के अनुचित साहस पर उपहास
का अवसर देते, न उसकी अभिज्ञता प्रमाणित कर देते हैं, अवश्य हैं।''[1]

भाषा का यह आदर्श आपने अपनी कृतियों में सर्वत्र निभाया है।

चौधरीजी की भाषा की बड़ी विशेषता उसकी कलात्मकता है। इसके लिए
आपने सानुप्रासिक पद योजना की है। तुकदार वाक्य खण्ड रखे हैं और मुहावरों
का प्रयोग भी किया है। उदाहरण के लिये—'उसे इन दोनों दलों को दलादली ने
दल-दल कर समाप्त कर डाला,' 'जहाँ कुछ कचाई है उसके अर्थ आगामि में
सुघड़ाई लखाई जाने पर ध्यान रहे', 'व्यर्थ ढिठाई से हँसाई कराना ठीक नहीं,
'किन्तु बात की बात में वह बात जाती रही'।[2]

इस प्रकार के प्रयोग आपकी भाषा में बराबर देखे जा सकते हैं।

चौधरीजी के वाक्य प्रायः बहुत बड़े-बड़े होते थे परन्तु पूरा पढ़ जाने पर
मन्तव्य समझने में कठिनाई नहीं होती थी। छूटी हुई बात को प्रधान वाक्य से
अलग करके मध्यम वाक्यों द्वारा प्रकट करना भी आपकी अपनी विशेषता थी।
जैसे—'फिर कौन जाने कि यह जोरू की गुलाम जाति उन्हीं के कहने से इस चलन
को स्वीकृत किये हो, क्योंकि मुख चुम्बन के समय—कि जो प्रथा उनके यहाँ अति
अधिकता से प्रचलित है—बहुत-सा बाल दुख का हेतु होता ही होगा।''[3]

---

१. आनन्द कादम्बिनी, माला ६, मेघ—११, १२
२. भारतेन्दु-युगीन निबन्ध—पृष्ठ ११६
३. वही—पृष्ठ १२०

भाषा के पुराने प्रयोग—सौंभी, कबी, सबी, तबी, पुस्तकं, करैं, निकालें—संस्कृत के बने बनाये शब्द रूप,—पूर्णरीत्या, हठात्, बलात्, येन-केन प्रकारेण—भाववाचक संज्ञाओं के भारी भरकम रूप—'स्वाछंद्य' आदि विशेषतायें अन्य गद्य लेखकों की भाँति आपकी भाषा में भी देखी जा सकती हैं।

आपकी कलात्मक रुचि ने आप की भाषा में रंगीनी लाकर हिन्दी-गद्य को एक कलात्मक एवं काव्यमय रूप दिया। यहाँ तक कि आनन्द कादम्बिनी में समाचार भी इसी रंगीन गद्य में ही छपते थे। आपकी भाषा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

"जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग-ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा। भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई। सुन्दर हरित पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लतायें लिपट लिपट मानों मुग्ध मयंक-मुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलाती।"[1]

ठाकुर जगमोहन सिंह—ठाकुर साहब की भाषा के विषय में आचार्य शुक्ल का यह कथन ध्यान देने योग्य है—"ठाकुर जगमोहन सिंह की शैली शब्द-शोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती-जुलती है पर उसमें लम्बे-लम्बे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रगस्थलियों को मार्मिक ढंग से हृदय में जमानेवाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग विशेषता रखता है।"[2] आपकी भाषा का एक उदाहरण देखिये—

'ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंक गृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम विषय और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।'

उपर्युक्त उदाहरण आचार्य शुक्ल के कथन की सत्यता स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निम्नलिखित तथ्यों का उद्घाटन होता है—

१. भारतेन्दु-युग के सभी गद्य-लेखक हिन्दी की परम्परागत मूल प्रवृत्ति को पहचानते थे।

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ ४७०

२. वही—पृष्ठ ४५२

२. भाषा का स्वरूप व्याकरण-सम्मत होने लगा था किन्तु ब्रजभाषा व कहीं-कहीं पूर्वी बोलियों का प्रभाव बना हुआ था।

३. दो एक को छोड़कर अधिकांश गद्य-लेखक आवश्यकतानुसार अर फारसी तथा अँगरेजी से शब्द-ग्रहण करने में संकोच नहीं करते थे।

४. हिन्दी-गद्य में मुहावरों का प्रयोग खूब किया जा रहा था।

५. अधिकांश लेखकों में सुन्दर वाक्यांशों की योजना की प्रवृत्ति कार्य रही है।

६. भावव्यंजक भाषाओं का सरल रूप प्रस्तुत न करके अधिकांश गद्य-लेख उनके भारी भरकम रूप को उपस्थित करते थे।

७. गद्य में काव्यत्व की वृद्धि होने लगी थी।

८. अन्य भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के कारण अब उसका स्वरूप ब कुछ व्यावहारिक होने लगा था और उसकी शक्ति बढ़ रही थी।

९. उर्दूवालों की ओर से हिन्दी का विरोध अब भी चल रहा था।

१०. शैली की दृष्टि से हिन्दी-गद्य बहुत कुछ बोल-चाल की शैली औ भाषण-शैली से अधिक प्रभावित हो रहा था।

द्विवेदी-पूर्व-युग में हिन्दी-गद्य की विशृंखलता

भारतेन्दु-युग के पश्चात् कुछ दिनों के लिये हिन्दी-गद्य के स्वरूप में विवि विशृंखलता के दर्शन होते हैं। इसका कारण हिन्दी-गद्य के निश्चित व्याकरण का न होना तथा उसका भारत व्यापी विस्तार कहा जा सकता है। हिन्दी-गद्य लेखक केवल हिन्दी-प्रदेश में ही नहीं वरन् पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र आदि सुदूर प्रान्तों में भी होने लगे थे। बँगला से गद्य-पुस्तकों का अनुवाद भी शीघ्रता से होने लगा था। फल यह हुआ कि प्रत्येक गद्य-लेखक अपने प्रान्तीय प्रभाव के साथ हिन्दी-गद्य में प्रवेश करने लगा था। पंजाबी गद्य-लेखकों में उर्दू और फारसी के शब्दों का बाहुल्य हो रहा था। बँगला प्रान्त के निवासी गद्य-लेखक कोमल-कान्त पदावली का अधिक प्रयोग कर रहे थे। बँगला से अनूदित हिन्दी-ग्रंथों में भी यही प्रवृत्ति कार्य कर रही थी। महाराष्ट्र प्रान्त के निवासी हिन्दी-गद्य-लेखक मराठी एवं संस्कृत शब्दों से युक्त गद्य का व्यवहार करते थे।

संयुक्त-प्रान्त में भी हिन्दी-गद्य में एकरूपता न थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'ठेठ हिन्दी का ठाट' लिखकर बनारस के आस-पास तथा अवध के समीपवर्ती गाँवों से शब्द-भाण्डार एवं पद-प्रयोग ले रहे थे। देवकीनन्दन खत्री तथा किशोरीलाल गोस्वामी सरल उर्दू मिश्रित हिन्दी में अपनी रचनायें प्रस्तुत कर रहे थे। लज्जा-राम मेहता ब्रज की बोल-चाल की भाषा मिलाकर सरल हिन्दी का प्रयोग कर ...े। काशी के कुछ पंडित संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिक से अधिक भर प्रयत्न में थे।

व्याकरण की स्थिति और भी डावाँडोल थी। अच्छे से अच्छे लेखक भी व्याकरण की सामान्य भूलें करते थे। **'वह प्रेम-सलिल में उसने स्वार्थ को बहा दिया है' × × 'पशु और पक्षियों ने रात्रि का आगमन जान अपने-अपने स्वस्थान को गमन किया',** × × इस प्रकार के प्रयोग इस समय की रचनाओं में बराबर देखे जा सकते हैं। हिन्दी-गद्य की इसी अव्यवस्थित स्थिति में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का शुभागमन हुआ।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी-गद्य—द्विवेदीजी के ऋण को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल कहते हैं—'पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिये हमारा हिन्दी-साहित्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। 'सरस्वती' के सम्पादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया। × × × गद्य की भाषा पर द्विवेदीजी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी तब तक बना रहेगा।'[1]

आचार्य द्विवेदी ने (क) भाषा की अस्थिरता की ओर लेखकों का ध्यान आकर्षित किया। (ख) विराम-चिह्नों के प्रयोग तथा लेखों को पैराबद्ध करने की आवश्यकता पर बल दिया। (ग) उन्होंने 'प्रान्तज' शब्दों के स्थान पर 'व्यापक' शब्दों के प्रयोग पर अधिक बल दिया। (घ) अश्लील शब्दों के प्रयोग का घोर विरोध किया। (ङ) और हिन्दी-गद्य को सरल तथा कहानी कहने के से ढंग में ढालकर एक निश्चित रूप देने की चेष्टा की। वस्तुतः हिन्दी-गद्य में जो कुछ भी एकरूपता आ सकी है उसका बहुत बड़ा श्रेय पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को ही है। यह होते हुए भी द्विवेदीजी का हिन्दी-गद्य सर्वथा निर्दोष नहीं है। त्रुटियाँ उनमें भी हैं। कुछ सामान्य त्रुटियाँ जिनकी ओर हमारा ध्यान शीघ्र जाता है, इस प्रकार हैं—

(क) द्विवेदीजी ने अनेक शब्दों का लिंग प्रयोग हिन्दी-व्याकरण के अनुसार न करके संस्कृत के अनुसार किया है। 'हमारा विनय', 'तेरा पराजय', 'के शोकाग्नि', 'के वृंद', 'के धातुओं', आदि प्रयोग हिन्दी-सम्मत नहीं हैं।

(ख) अनेक स्थानों पर शब्दों की स्थिति एवं उनकी आकांक्षा का ध्यान भी उन्होंने नहीं रखा है। 'मीठे-मीठे शब्द करने वाले हंस ही मानो उस भूमि रूपी कामिनी की करधनी थी।' प्रत्यक्ष है कि यहाँ हंस पुल्लिंग कर्ता है जो पुल्लिंग क्रिया 'थे' की आकांक्षा रखता है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ४६०

(ग) शब्दों की सन्निधि और क्रम में भी द्विवेदीजी ने अनेक स्थलों पर त्रुटियाँ की हैं। 'अपना महत्वपूर्ण वक्तव्य सुनावें होंगे' इस वाक्य में 'सुनावें' एक पूर्ण क्रियापद है। अतः 'गे' के पहले 'हों' की योजना त्रुटिपूर्ण है।

(घ) कहीं-कहीं अँगरेजी की अभिव्यक्ति-प्रणाली का आधार लेने के कारण भी अर्थद्योतन में असमर्थता आ गई है। 'वेणीसंहार' में एक स्थान पर उन्होंने (द्विवेदीजी ने) कर्ण के मुख से दुर्योधन के प्रति कहलवाया है—'आप अब तक यह समझते थे कि मैं शस्त्र-विद्या में बहुत ही निपुण हूँ।' इस वाक्य से तो यह अर्थ निकलता है कि दुर्योधन शस्त्र-विद्या में निपुण है।

(ङ) द्विवेदीजी की प्रारम्भिक कृतियों में कटुता, जटिलता, शिथिलता आदि अन्य भाषा-दोष भी हैं।"[1]

जो भी हो यह निर्विवाद है कि द्विवेदीजी ने दूसरों के दोषों की स्पष्ट आलोचना की, 'सरस्वती' के माध्यम से अनेक लेखकों की रचनाओं का संशोधन किया और समय-समय पर साहित्यकारों के ग्रंथों की भाषा का भी संशोधन किया। हिन्दी-गद्य में यह कार्य उस समय एकरूपता लाने के लिए अत्यन्त आवश्यक था। यह कार्य द्विवेदीजी जैसा कर्मठ विद्वान् ही कर सकता था। द्विवेदीजी की अन्तिम कृतियों में क्रमशः भाषा-विषयक प्रौढ़ता आती गई है और प्रारम्भिक दोष मिटते गये हैं।

प्रौढ़ता, परिमार्जन, एवं शैली-विकास का युग

द्विवेदी युग के पश्चात् हिन्दी-गद्य व्याकरण-बद्ध एवं परिमार्जित रूप में सामने आया। अब उसकी साधारण दुर्बलतायें समाप्त हो गई थीं, यही अवसर था जब हिन्दी-गद्य अपनी जातीय एवं व्यक्तिगत शैली का विकास करता। जहाँ तक हिन्दी की जातीय शैली का प्रश्न है, उसका निर्माण अनेक प्रभावों के समन्वय से हुआ। हिन्दी-गद्य ने अँगरेजी से स्पष्ट भावाभिव्यंजकता, बँगला से सरलता और मधुरता, मराठी से गंभीरता एवं उर्दू से प्रवाह ग्रहण किया। हिन्दी-गद्य की जातीय शैली का उत्कृष्ट उदाहरण प्रेमचन्द की कहानी 'मुक्ति-मार्ग' में देखा जा सकता है—

'अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मर कर जी उठते थे और द्विगुण शक्ति से रणोन्मत्त होकर शस्त्र-प्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह 'बुद्धू' था।"[2]

---

[1] महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग—डॉ॰ उदयभानुसिंह—पृष्ठ २०३

[2] आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—पृष्ठ १३३

कहना न होगा कि उपर्युक्त गद्य में गम्भीरता, प्रवाह, भावव्यंजना, स्पष्टता, मधुरता, सरसता, लय और संगीत सभी कुछ है। आलोचकों के अनुसार हिन्दी-गद्य की जातीय शैली की यही विशेषतायें हैं।

जातीय शैली के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य-लेखकों की व्यक्तिगत शैलियों की अनेकरूपता भी अब देखने में आई।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरल ढंग से कहानी कहने की शैली अपनाई। वे सरल शब्दों को लेकर सब कुछ इस प्रकार कह देते हैं मानो कोई कहानी कह रहे हों। कवित्वपूर्ण और गंभीर बातें भी वे अपनी इसी कला के कारण घरेलू बनाकर उपस्थित करते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता ही नहीं गम्भीरता, संयम, समासत्व, तथा शक्तिमत्ता भी प्रदान की। उनकी पंक्तियाँ ही ऐसी प्रतीत होती हैं मानो किसी अध्ययनशील व्यक्ति के गहन चिन्तन की रेखायें धीरे-धीरे उभरती आ रही हों। देखिये—'दुःख की श्रेणी में परिणाम के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है।'

इसी शुष्क किन्तु गम्भीर एवं प्रभावपूर्ण शैली में आपने साहित्य के गूढ़तम विषयों पर अपने निबन्धों में विचार प्रकट किया।.

बाबू श्यामसुन्दर दास कुशल वक्ता थे। उनका गद्य भी भाषण-कला की सम्पूर्ण विशेषताओं को लेकर सामने आया है। उसमें प्रवाह है। सरलता और स्पष्टता है किन्तु विस्तार भी है। वे अपनी सभी बातें उसी तरह समझाते चलते हैं जैसे कोई वक्ता श्रोताओं को गुदगुदाता हुआ उनकी जिज्ञासा वृत्ति को जगाकर अपना प्रभाव डालना चाहता है।

'साहित्य का विवेचन' नामक लेख में आपने लिखा है—

'हिन्दी साहित्य का इतिहास ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह विदित होता है कि हम उसे भिन्न-भिन्न कालों में ठीक-ठीक विभक्त नहीं कर सकते। उस साहित्य का इतिहास एक बड़ी नदी के प्रवाह के समान है जिसकी धारा उद्गम स्थान में तो बहुत छोटी होती है, पर आगे बढ़कर और छोटे-छोटे टीलों या पहाड़ियों के बीच में पड़ जाने पर वह अनेक धाराओं में बहने लगती है।'[1]

द्विवेदीजी के पश्चात् हिन्दी-गद्य को प्रौढ़ता एवं परिमार्जन प्रदान करनेवाले अन्य लेखकों में 'पं० चन्द्रधरशर्मा गुलेरी', 'अध्यापक पूर्ण सिंह', 'गणेश शंकर विद्यार्थी', 'शिवपूजन सहाय', 'चंडीप्रसाद हृदयेश' आदि प्रमुख हैं। इन गद्यकारों में भी व्यक्तिगत शैली की विशेषतायें देखी जा सकती हैं।

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास—पृष्ठ १८१

पं० पद्मसिंह शर्मा का गद्य वाग्वीर का गद्य है। भाषा मस्त और ओजपूर्ण है। बीच-बीच में हास्य और व्यंग भी है।

अध्यापक पूर्णसिंह में वक्तृत्व कला की सभी विशेषताएँ मिलती हैं। इनका गद्य इतना सजीव है कि मानो वर्ण्य वस्तु का बिम्ब सामने आ जाता है। प्रवाह और ओज तो इनकी पंक्तियों के साथ बहता चलता है।

गणेशशंकर विद्यार्थी के गद्य में भाषा के इसी स्वरूप का सुन्दर विकास दिखलाई पड़ता है। कर्मवीर प्रताप की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

'महान् पुरुष—निस्सन्देह महान् पुरुष! भारतीय इतिहास के किस रत्न में इतनी चमक है? स्वतन्त्रता के लिए किसने इतनी कठिन परीक्षा दी? जननी जन्म भूमि के लिये किसने इतनी तपस्या की? देश-भक्त, पर अहसान जताने वाला नहीं, पूरा राजा—लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं।' ओज और प्रवाह से पूर्ण लेखक का प्रत्येक शब्द मानो पाठक के हृदय को झकझोर कर उसमें प्रवेश कर जाना चाहता हो।

शिवपूजन सहाय तथा चंडीप्रसाद 'हृदयेश' ने हिन्दी-गद्य को अधिकाधिक अलंकृत करने का प्रयत्न किया। इनकी यह अलंकृत भाषा बहुत कुछ पद्य के निकट पहुँच गई है। आगे चलकर छायावादी कवियों का गद्य बहुत कुछ इसी शैली का विकसित रूप कहा जा सकता है।

छायावादी कवि और हिन्दी-गद्य

द्विवेदीयुग के परिमार्जन एवं प्रौढ़ता के पश्चात् हिन्दी-गद्य कलात्मकता एवं काव्यात्मकता की ओर झुकने लगा था। द्विवेदीयुग का जीवन विषयक दृष्टिकोण ही नैतिकता प्रधान था। फलतः युग-चेतना का भारवहन करनेवाले गद्य-साहित्य का गम्भीर एवं शुष्क हो जाना स्वाभाविक था। व्याकरण के नियमों से अधिक बँध जाने के कारण भी भाषा में नीरसता का आना अवश्यम्भावी था। आगे चलकर छायावादी युग में जब हृदय की निगूढ़तम सूक्ष्म वृत्तियों की अभिव्यक्ति करनेवाले छायावादी कवि गद्य के क्षेत्र में आए तो उसके स्वरूप में बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित हो गया। इन कवियों ने जिस प्रकार जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण अपनाकर सूक्ष्म, अपार्थिव, अमूर्त भावनाओं को काव्य के अन्तर्गत लाक्षणिक, प्रतीकात्मक, एवं वक्रतापूर्ण पद्धति से प्रकट किया था उसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में आने पर भी भाषा को अलंकृत, लाक्षणिक, वक्रतापूर्ण, काव्यमय और कोमल बनाने का प्रयत्न किया। एक-एक शब्द चुने हुये, वाक्य के अन्तर्गत मानो जड़ दिये गये। इन कवियों का गद्य चाहे व्यावहारिक न कहा जाय दैनिक जीवन की घटनाओं को सरल ढंग से चाहे वह उपस्थित न कर सके किन्तु जहाँ तक शब्द-शिल्पविधान का सम्बन्ध है हिन्दी-गद्य छायावादी कवियों के हाथ में विकास की चरम सीमा पर पहुँच गया।

छायावादी युग के प्रमुख कवि पन्तजी ने अपना भाषा विषयक आदर्श भी कुछ इसी प्रकार का रखा है। वे कहते हैं—

"भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झंकार है जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत विकास तथा ह्रास होता है।"[1]

वस्तुतः पन्तजी गद्य में भी अपने हृत्तन्त्री की झंकार को ही ध्वनिमय रूप देते रहे हैं। छायावादी काव्य की विशेषताओं की ओर संकेत करते हुये आप कहते हैं—

"द्विवेदी-युग के बाद छायावाद के युग का समारम्भ होता है। मन की नीरव वीथियों से निकल कर, लाज भरे सौंदर्य में लिपटी, एक नवीन काव्य-चेतना युग के निभृत प्रांगण को सहसा स्वप्न मुखर कर देती है। पिछली वास्तविकता की इतिवृत्तात्मकता नवीन कला संकेतों के अरूप सौंदर्य में तिरोहित होकर भावना के सूक्ष्म अवगुंठनों के कारण रहस्यमयी प्रतीत होने लगती है। प्रभात की अरुणिमा उषा की कनक छाया बन जाती है, दिन प्रति दिन का प्रकाश स्वप्नदेही ज्योत्सना की नवीन मौन मधुरिमा के सामने अनाकर्षक लगने लगता है।"[2]

कहीं-कहीं गद्य क्षेत्र में अधिक विचारशील हो जाने पर पन्तजी का गद्य चिन्तन के भार से बोझिल हो गया है। अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा भावुकता का एक साथ समन्वय होने के कारण गद्य का प्रवाह तो रूखा-सा जान पड़ता है किन्तु उसकी कलात्मकता ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। 'उत्तरा' की भूमिका में आप लिखते है—

"मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा उस सभ्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण-वृत्त अब समाप्त होने को है।'

ऐसे स्थानों पर पन्तजी के शब्दों के पीछे विचारों की एक पूरी परम्परा चलती है। उस पूरी विचार-परम्परा का परिचय किये बिना कथन का तात्पर्य समझ में नहीं आ सकता। ऐसी स्थिति में कहीं-कहीं पन्तजी ने शब्दों को अपने ढंग से विशिष्ट अर्थों में भी प्रयुक्त किया है।

प्रसादजी के गद्य में आवश्यकतानुसार परिवर्तन देखा जा सकता है किन्तु सामान्यतया उसके तीन रूप सामने आते हैं। छोटी-छोटी साधारण व्यक्तियों के

---

१. गद्य-पथ—पृष्ठ १४

२. गद्य-पथ—पृष्ठ १५६

जीवन से सम्बद्ध कहानियों में भाषा सरल है। वाक्य प्रायः छोटे-छोटे हैं। शब्द भी प्रायः नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाले रखे गये हैं किन्तु ऐतिहासिक एवं अतीत से सम्बद्ध कहानियों में इनका गद्य काव्यमय हो गया है। भाषा तत्सम हो गई है। वाक्य कहीं छोटे कहीं बहुत बड़े हो गये हैं। विशेषता यह है कि कहीं भी प्रवाह में कमी नहीं पड़ती। एक उदाहरण देखिए—

"क्षितिज में नील जलधि और व्योम का चुम्बन हो रहा है। शान्त प्रदेश में शोभा की लहरियाँ उठ रही हैं। गोधूली का करुण प्रतिबिम्ब, बेला की बालुकामयी भूमि पर दिगन्त की प्रतीक्षा का आवाहन कर रहा है।"[1]

प्रसादजी ने अपने नाटकों में भी इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया है। जिसके लिये आचार्य शुक्ल ने कहा है कि 'इनके कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्य-काव्य के खण्ड हो गये हैं।'[2]

विचारात्मक निबन्धों में प्रसादजी की भाषा का तीसरा रूप दृष्टिगत होता है। प्रत्येक पंक्ति विचारों के भार से दबी हुई है। शब्द-विन्यास तत्सम है। वाक्य कहीं छोटे हैं कहीं बड़े। बीच-बीच में संस्कृत के उद्धरण देकर अपने कथनों की पुष्टि की गई है। गहन विचार शृंखला के भीतर कहीं-कहीं काव्यात्मकता भी झांक रही है। शब्दों को प्रायः उनके मूल अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यथावसर अँगरेजी विचारों को सामने लाने के लिये वाक्य के वाक्य अँगरेजी में रख दिये गये हैं। अध्ययन के साथ-साथ अन्वेषण की प्रवृत्ति की प्रधानता के कारण शब्दों एवं वाक्यों में एक विचित्र प्रकार की गरिमा आ गई है। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा। 'ऊपर कहा जा चुका है कि सौन्दर्य-बोध में पाश्चात्य विवेचकों के मतानुसार मूर्त और अमूर्त भेद सम्बन्धी कल्पना-विवेचन की रीढ़ बन रहो है। जब यह अमूर्त के साथ सौंदर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ठहराती है तो दुर्बलता में ग्रस्त होने के कारण अपने को स्पष्ट नहीं कर पाती। इसका कारण यही है कि वे सद्भावनात्मक ज्ञानमय प्रतीकों को अमूर्त सौंदर्य कहकर घोषित करते है, जो सौंदर्य के द्वारा ही विवेचन किये जाने पर केवल प्रेम तक पहुँच पाते है। खैर, आत्मकल्याण कल्पना अधूरी रह जाती है।'[3]

छायावादी गद्यकारों में 'निराला' जी की भाषा काव्यात्मकता और कलात्मकता को लिये हुये भी 'प्रसाद' और पन्त से थोड़ी भिन्न है। उनका शब्द-भाण्डार इस दृष्टि से अधिक व्यापक है कि वे आवश्यकतानुसार अँगरेजी और उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी धड़ल्ले से कर देते हैं। वातावरण के अनुसार ग्रामीण

---

१. आकाशदीप—पृष्ठ १२३
२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ५५१
३. काव्य और कला तथा अन्य निबंध—पृष्ठ ३६–३७

शब्दों को ज्यों-का-त्यों ले लेने में भी वे नहीं हिचकते। यह होते हुए भी प्रयोग-वक्रता, कलात्मकता एवं काव्यात्मकता उनके गद्य में भी कम नहीं है। अनेक स्थानों पर उनका गद्य भी महादेवी की भाँति अत्यधिक अलंकृत हो गया है। शब्द-चित्रों द्वारा दृश्यों को मूर्त करने की क्षमता भी आपकी विचित्र है। शब्द-चयन की दृष्टि से छायावादी लेखकों में निराला जैसा व्यापक दृष्टिकोण कदाचित् अन्य किसी का नहीं। आपकी काव्यात्मक एवं अलंकृत भाषा का एक उदाहरण देखिये—

"फिर उसी ऊर्ध्व दृष्टि से देखने लगी, जो जल सरोवर के किनारों से बँधा हुआ सरोवर का जल कहलाता है, न बहता हुआ, वह मुक्त मेघ से युक्त होकर आया है, और तप-तपकर वाष्पाकार होता हुआ सरोवर के किनारों को छोड़कर ऊपर उठता—मुक्त होता है। सोचा, उसी जल की कुछ बूँदें नदी में डाल दी जायें तो वे नदी के जल की व्याख्या प्राप्त करती हैं, फिर समुद्र से मिलकर समुद्र के जल की—इस तरह, जल की व्याख्या विशेष भले हो जाय, है वह जल सूक्ष्म रूप में एक ही प्रकार, स्थूलरूप में कूप, सर, नदी, समुद्र का बनता हुआ, भिन्न रूप, गुण और व्याख्या प्राप्त करनेवाला।"[1]

इस काव्यात्मक भाषा में वाक्य प्राय बड़े-बड़े हो जाते हैं। ठीक इसके विपरीत ग्रामीण वातावरण का चित्रण करते समय निरालाजी की भाषा ग्रामीण जीवन से स्नात होकर प्रकट होती है। वाक्य अपेक्षाकृत छोटे हो जाते हैं। देखिये—

'नीम के नीचे बैठक है। गुरुदीन तीन बिस्वेवाले तिवारी है, सीतल पाँच बिस्वेवाले पाठक, मन्नी दो बिस्वे के सुकुल, ललई गोद लिये हुए मिसिर :—पहले पाँच बिस्वे के पांडे अब दो कट गये हैं, गाँववालों के हिसाब से, ललई पाँच ही जोड़ते हैं। सब हल जोतते और श्रद्धापूर्वक धर्म की रक्षा करते हैं।'[2]

छायावादी युग की सुप्रसिद्ध कवियत्री महादेवी वर्मा का गद्य भावों और विचारों के समिश्रण का विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। 'शृंखला की कड़ियाँ' की भूमिका में आपने लिखा है 'विचार के क्षणों में मुझे गद्य लिखना ही अच्छा लगता रहा है, क्योंकि उसमें अपनी अनुभूति ही नहीं वाह्य परिस्थितियों के विश्लेषण के लिए भी पर्याप्त अवकाश रहता है।" वस्तुत. महादेवी का गद्य उनके विचारशील व्यक्तित्व को प्रकट करने में पूर्ण सफल रहा है। एक-एक शब्द चुन-चुन कर वाक्यों में पिरोये हुये रहते हैं। भाषा तत्सम प्रधान होती है। आदि से अन्त तक एक ही प्रकार का प्रवाह दृष्टिगत होता है। कहीं भी किसी प्रकार की शिथिलता के दर्शन नहीं होते। प्रयोग-वक्रता, सूक्ष्मता, अलंकरण तथा काव्या-

१. निरुपमा—पृष्ठ ६५
२. निरुपमा—पृष्ठ ५०

रमकता ये सभी विशेषतायें आपके गद्य में देखी जा सकती है। विवेचन एवं विचार के जगत् से निकलकर जहाँ आप चित्रण के संसार में प्रवेश करती हैं, वहाँ आपका गद्य और भी अलंकृत हो जाता है। उसमें काव्यात्मकता अधिक आ जाती है किन्तु वही भी निर्झर के प्रवाह की भाँति हृदय से सीधे फूटकर आप की भाषा प्रवाहित होती हुई नहीं प्रतीत होती। उस पर संयम, शालीनता, गरिमा एवं अलंकरण की छाप लग जाती है। उनके विचार-प्रधान गद्य का एक उदाहरण देखिये—

"सत्य पर जीवन का सुन्दर ताना-बाना बुनने के लिए कला-सृष्टि ने स्थूल-सूक्ष्म सभी विषयों को अपना उपकरण बनाया। वह पाषाण की कठोर स्थूलता से रंग-रेखाओं की निश्चित सीमा, उससे ध्वनि की क्षणिक स्थिति और सब शब्द की सूक्ष्म व्यापकता तक पहुँची अथवा किसी और क्रम से यह जान लेना बहुत सहज नहीं। परन्तु शब्द के विस्तार में कला-सृजन को पाषाण की मूर्तिमत्ता, रंग-रेखा की सजीवता, स्वर का माधुर्य सब कुछ एकत्र कर लेने की सुविधा प्राप्त हो गई। काव्य में कला का उत्कर्ष एक ऐसे बिन्दु तक पहुँच गया, जहाँ से वह ज्ञान को सहायता दे सका।"[1]

गूढ़ विषयों के विवेचन से अलग होकर जहाँ महादेवी ने सामान्य जीवन के सजीव रेखाचित्र उपस्थित किये हैं वहाँ उनकी भाषा अधिक व्यावहारिक हो गई है। तत्सम प्रयोगों की कमी हो गई है। अभिव्यक्ति एवं व्यंजना को पूर्ण बनाने के लिये यहीं-वहीं अंगरेजी और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। उक्ति-वक्रता एवं व्यंग में वृद्धि हो गई है और भाषा अधिक सजीव हो गई है। काव्यात्मकता का आन्तरिक स्पर्श तो उनके गद्य में सदैव बना हुआ है। देखिये—

'रधिया को मूर्तिमती दीनता कहना चाहिए। किसी पुरानी धोती की मैली कोर फाड़कर कसे हुए रूखे उलझे बाल पर्व त्योहार पर काली मिट्टी से मल धोकर ही लिए जायें पर उन्हें कड़ुवे तेल की चिकनाहट से भी अपरिचित रहना पड़ता था। धोती और उसके किनारे को धूल एकाकार कर देती थी, उस पर उसकी जर्जरता इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि घूँघट खींचने पर किनारी ही उंगलियों के साथ नाक तक खिंची चली आती थी।'[2]

गद्य-काव्य एवं गद्यगीतों की भाषा

छायावादी युग की स्वच्छन्द रोमानी एवं भावुकतापूर्ण प्रवृत्ति ने गद्य को काव्य (कविता) के निकट ला दिया। कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के अनुवाद

१. 'दीपशिखा' की भूमिका—पृष्ठ ८
२. अतीत के चलचित्र—पृष्ठ १०१

ने इस प्रवृत्ति को और भी जागृत कर दिया। उपर्युक्त छायावादी कवियों का गद्य भी मूलतः इसी प्रवृत्ति से प्रेरित था किन्तु व्यक्तिगत अध्ययन एवं चिन्तन के कारण उनके गद्य में गहराई एवं शालीनता आ गई। वह अधिक सूक्ष्म भावनाओं को अलंकृत शैली में व्यक्त करने में समर्थ हुआ किन्तु कुछ ऐसे कलाकार जो अधिक भावुक थे उन्होंने गद्य-काव्य एवं गद्यगीत लिखना प्रारम्भ किया।

'गद्य' में काव्य का-सा आनन्द तो प्रसाद के नाटकों में ही आने लगा था किन्तु स्वतन्त्ररूप से गद्यकाव्य लिखनेवालों में श्री वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, मदनमोहन मिहिर, बाबू रायकृष्णदास, श्री तेजनारायण 'काक', श्रीमती शबनम्, श्रीमती दिनेश-नंदिनी डालमियाँ आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसिद्ध कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी का गद्य भी मूलतः गद्यकाव्य ही है। भावना, प्रवाह, शब्द-चयन, अनुभूति, तन्मयता, शब्दों की एकरूपता आदि सभी दृष्टियों से इनके गद्य-काव्यखण्ड (कविता) के निकट है।

गद्यगीतों में मूल भावना आदि से अन्त तक एक ही रहती है। किन्तु गद्य-काव्य में यह आवश्यक नहीं है। माखनलालजी के निबन्धों की भाषा भी गद्य-काव्य ही बन गई है। एक उदाहरण देखिये—

"कौन-सा आकार दूँ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो। चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त 'जाग्रत' आत्माओं के ऊँचे, पर गहरे 'स्वप्न' जो हो! मेरी काली कलम का बल, समेटे नहीं सिमटता! तुम, कल्पनाओं के मन्दिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के और लड़ाके सिपाही के रक्त बिन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं? तुम तो वाणी के सरोवर में अन्तरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पक्षियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रूपहलेपन में नहलाये हुए।"

माखनलालजी के शब्द निर्झर की भाँति उनके हृदय के भावकोश से फूट पड़ते हैं। उनमें किसी प्रकार की काँट-छाँट नहीं की जाती। इसीलिये भावानुकूल विदेशी शब्द भी प्रयुक्त होते रहते हैं।

रायकृष्ण दास के एक गद्यगीत की भाषा का नमूना देखिये—

"मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूलक, इस विश्ववल्लरी में मुझे आनन्द का अणु मात्र भी न मिले। हा! आनन्द के बदले में रुदन और शोच को परितोष कर रहा था। अन्त को मुझ से न रहा गया। मैं चिल्ला उठा! आनन्द! आनन्द! कहाँ हैं आनन्द? हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया"।

छायावादी आलोचकों का गद्य

छायावादी युग में कुछ आलोचकों की भाषा भी काव्यात्मक होकर सामने आई। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, विनोदशंकर व्यास तथा कहीं-कहीं नन्ददुलारे वाज-

शैली की आलोचनाओं में काव्यात्मक गद्य का रूप देखा जा सकता है। वाजपेयी जी में भी छायावादी कवियों के गद्य की सूक्ष्मता एवं अलंकारिकता भी देखी जा सकती है। गूढ़ विषयों पर विचार करते समय उनकी भाषा का रूप कुछ बदल जाता है और उसमें चिन्तन की गहराई तथा संयम आ जाता है। इस तरह काव्यात्मक गद्य लेखकों में ठाकुर रामअधार सिंह का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इनकी भाषा को श्री माखनलालजी की परम्परा में माना है किन्तु दोनों के गद्यों में स्पष्ट भेद लक्षित होता है। माखन-लालजी के शब्द जैसा कि पीछे कहा जा चुका है सीधे उनके हृदय से निकले हैं किन्तु रामअधारसिंहजी में पन्त की काव्यात्मकता, महादेवी का अलंकरण, 'प्रसाद' की चिन्तन-प्रधान तत्समता, माखनलालजी का प्रवाह तथा गणेशशंकर विद्यार्थी का मूर्तविधान एक साथ देखा जा सकता है। भाव-व्यंजना की प्रधानता स्वीकार करते हुये आप बीच-बीच में ठेठ ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी कर देते हैं। एक उदाहरण उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध कर देगा।

"महानतम आत्मा की साकार स्नेह-मूर्ति, माता, तू धन्य है! माँ, तूही आदि शक्ति के हृदय-मन्थन की शाश्वत विश्वप्राणा अमृतमयी जीवन-ज्योत्सना है! अनन्त प्राकृतिक लीलाओं के सृजन-पालनमय स्वान्तः सुखाय विलसित प्रेमाश्रम में चिरन्तन प्राण तेरा चिरन्तन शिशु हूं। सम्पूर्ण जीवन तेरा जीवन है और तू है ब्रह्माण्ड-विकसित अव्यक्त सत्ता की व्यक्त आत्म-ज्योतिमयी माँ!"[1]

प्रगतिशील लेखक और हिन्दी गद्य

छायावादी काव्यात्मक अलंकृत एवं अपेक्षाकृत सूक्ष्म भावाभिव्यक्तियों के पोषक गद्य की प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रगतिशील लेखकों ने सरल, व्यावहारिक एवं अनालंकृत गद्य को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतराय, जहूरबख्श, रांगेय राघव, डॉ० धर्मवीर भारती, प्रकाशचन्द्र गुप्त आदि ने सरल एवं व्यावहारिक भाषा को ही अधिक प्रश्रय दिया। इन लेखकों में भी प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, अमृतराय आदि जब गंभीर विषयों का विवेचन करते हैं तब उनकी सरलता भी समाप्त हो जाती है। हाँ, कहानियाँ एवं उपन्यासों की भाषा में वे अवश्य सरलता बनाये रखते हैं। ये लोग उर्दू और अंगरेजी के शब्दों को भी आवश्यकतानुसार ग्रहण करने में नहीं हिचकते।

उच्चस्तर के साहित्यिक आलोचकों में पं० परशुराम चतुर्वेदी, पं० चन्द्रबली पाण्डेय पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, डॉ० नगेन्द्र, डॉ० भगीरथ मिश्र आदि प्रायः संस्कृतनिष्ठ भाषा का ही प्रयोग करते हैं। विश्वविद्यालयों से प्रकाशित होनेवाले शोध-ग्रंथों

---

१. माटी का फूल—प्रो० रामअधार सिंह—पृष्ठ २०

ी भाषा का दृष्टिकोण अधिक व्यापक रहा है। किन्तु इनका झुकाव भी तत्सम
ान भाषा की ओर ही रहा है। हाँ, खोज की प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण
नमें अलंकरण एवं काव्यात्मकता का अभाव दृष्टिगत होता है।

इधर के लब्धप्रतिष्ठ एवं प्रौढ़ आलोचकों में भाषा की अनेकरूपता के
र्शन डॉ० हजारीप्रसाद में देखा जा सकता है। उनके निबन्धों में सरलता,
वाह, जनपदों की ताज़गी दृष्टिगत होती है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में संस्कृत-
निष्ठ कादम्बरी की-सी भाषा का आनन्द आता है। लिखित भाषण-संग्रहों में
म्भीरता के साथ-साथ बोल-चाल का चलतापन तथा कथावाचकों जैसा स्फुट
ास्य मिलता है। 'नाथ-सम्प्रदाय' जैसी खोज पूर्ण कृतियों में भाषा संस्कृत-
निष्ठ, संयत एवं गम्भीर हो गई है। सूरदास की आलोचना में काव्यात्मकता एवं
ीला की भावुकता दृष्टिगत होती है। बीच-बीच में जनपदीय प्रयोग भी आप
र देते हैं। सब मिलाकर इनका भाषा विषयक दृष्टिकोण अधिक उदार है।

अपनी दृष्टि में मर्यादाओं के भीतर से परंपराओं को प्रसृत करने वाले प्रगतिशील
और दूसरों की दृष्टि में परम अहमन्य व्यक्तिवादियों ने हिन्दी-गद्य को एक प्रकार
की बौद्धिक सूक्ष्मता प्रदान की है। इनके गद्य में तरलमता, और प्रयोगवक्रता के साथ
ही मानसिक उलझनों, गुत्थियों, घात-प्रतिघातों एवं विचारों की गहरी रेखायें को
उभार देने वाली संयमित पद-योजना भी है। इनका गद्य भावों की तरलता की
अभिव्यक्ति में सूक्ष्म नहीं हुआ है वरन विचारों की गहराई को उभारने में सूक्ष्म हो
गया है। इस वर्ग के गद्य-लेखकों में 'अज्ञेय' अग्रणी हैं।

वर्तमान स्थिति : शक्ति और दुर्बलतायें

गद्यसाहित्य की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने
लिखा है—

"आजकल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत से लोग शुद्ध भाषा लिखने का
अभ्यास होने के पहले ही बड़े-बड़े पोथे लिखने लगते हैं जिनमें व्याकरण की
भद्दी भूलें तो रहती ही हैं। कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं रहता। ×
व्याकरण की भूलों तक ही बात नहीं है, अपनी भाषा की प्रकृति को पहचान
न होने के कारण कुछ लोग उसका स्वरूप भी बिगाड़ चले हैं। वे अंगरेजी के
शब्द वाक्य और मुहावरे तक ज्यों-के-त्यों उठाकर रख देते हैं; यह नहीं देखते
जाते कि भाषा हिन्दी हुई या और कुछ।"[1]

सन् १९२६ से १९४७ तक के हिन्दी-गद्य के स्वरूप पर विचार करते हुये
डा० भोलानाथ लिखते हैं—

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृष्ठ ५१४

"यदि ध्यानपूर्वक और सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो १९२६ ई० से ई० के अन्दर लिखे गए गद्य के भी स्वरूप और परिस्थिति की लगभग यही रही है। ऊपर का खुरदुरापन मिट-सा गया है भीतरी कमजोरियाँ वैसी की वैसी ही हैं। लेखक प्रयत्नशील हैं। खामियाँ हटती-मिटती जा रही हैं। कमियाँ पूरी होती जा रही हैं। विकास होता जा रहा है। २२ वर्षों के अन्दर इससे अधि की आशा भी नहीं की जा सकती, और विशेष रूप से तब, जब हम देखते कि यह काल संक्रान्ति काल—राजनीतिक संघर्षों का काल—रहा है।"[1]

आचार्य शुक्ल और डॉ० भोलानाथ के कथनों में सत्यता की कमी नहीं और हम यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दी-गद्य में अभी उस प्रकार की एकरूप नहीं आ सकी है जैसी संस्कृत के व्याकरणबद्ध गद्य में थी किन्तु हमें स्वीकार कर होगा कि अनेक प्रभावों एवं संघर्षों के प्रतिफल स्वरूप हिन्दी-गद्य में बराबर श आती जा रही है। उसका शब्द-भाण्डार, उसकी अभिव्यक्ति-शक्ति, उस व्यंजना सभी में बड़ी तीव्रता से प्रसार होता जा रहा है। और जिस दिन हिन्दी गद्य में संस्कृत जैसी एकरूपता आ जायगी उस दिन सम्भवतः उसका विका भी रुक जायगा। पहले हम वर्तमान हिन्दी-गद्य की दुर्बलताओं पर विचार कर फिर उसकी शक्ति से परिचय प्राप्त करेंगे।

हिन्दी-गद्य की दुर्बलतायें—हिन्दी-गद्य की दुर्बलताओं को कई रूपों लक्ष्य किया जा सकता है। (क) व्याकरण की त्रुटियाँ, (ख) उच्चारण सम्बन्ध दोष, (ग) एकरूपता की कमी, (घ) अभिव्यक्ति शैथिल्य आदि।

व्याकरण की त्रुटियाँ—सबसे पहले हमारा ध्यान व्याकरण की त्रुटि की ओर जाता है। ये त्रुटियाँ भी कई प्रकार की दृष्टिगत होती हैं। वाक्य प्रयो की अशुद्धियाँ, लिंग प्रयोग में असावधानी, 'ने' का अशुद्ध प्रयोग, संयोजकों क निरर्थक प्रयोग आदि अनेक व्याकरण सम्बन्धी दोष सुशिक्षित लोगों की भा में भी पाये जाते हैं। 'ने' के प्रयोग में तो सबसे अधिक गड़बड़ी होती है 'मैंने रोटी खाई' के स्थान पर 'हम रोटी खाए' बराबर सुना जा सकता है विशेषकर भोजपुरी प्रदेश में तो इसे अशुद्ध मानते ही नहीं। इसी प्रकार "लड़ ने बड़ा करी', 'मैंने सिगरेट पिया', 'पुस्तक बनाया है', 'तबीयत मालूम होता आदि जिन दूषित वाक्य भी मुँह से निकलते ही रहते हैं।

उच्चारण-दोष अधिकतर अशिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित या हिन्दी-प्रदेश में स्थानों के निवासियों में अधिक देखा जाता है। 'मास्टर साहब', 'अस्पताल' 'हस्पताल', आदि शब्द बिना किसी हिचक के उच्चारित होते रहते हैं।

हिन्दी-गद्य में एकरूपता की कमी का कारण बाह्य-प्रभाव माना जा सकता

---

१ हिन्दी-साहित्य, डा० भोलानाथ—पृष्ठ ४३

है। आज का हिन्दी-गद्य-लेखक, अँगरेजी, बँगला, उर्दू, संस्कृत आदि किसी-न-किसी भाषा का प्रभाव लेकर हिन्दी-साहित्य में आता है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी और अरबी-फारसी के समानान्तर शब्द-निर्माण की प्रवृत्ति भी खूब चल पड़ी है। फलस्वरूप—'गोल्डेन एज' के लिये—स्वर्णयुग, 'ग्रेड सक्सेज' के लिये—शानदार सफलता, 'गोल्डेन रेज' के लिये—स्वर्ण किरण, 'वियू प्वाइन्ट' के लिए—दृष्टिकोण आदि प्रयोग देखे जाते हैं। इस प्रकार शब्द-निर्माण बुरा नहीं किन्तु कहीं-कहीं अपनी भाषा की मूल प्रवृत्ति से जब ये प्रयोग बहुत दूर पड़ जाते हैं तब हास्यास्पद बन जाते हैं।

बँगला से प्रभावित गद्य-लेखकों में अत्यधिक भावुकता देखी जाती है साथ ही उसकी भाषा में 'विचक्षण', 'प्रमथिता', 'प्रव्रजिता', 'आप्लुत', 'अवसन्न', 'वानाभिहता' आदि बंगला के बहु-प्रचलित शब्द आ ही जाते हैं।

इसी प्रकार अरबी-फारसी से प्रभावित लेखक जब यह लिखता है—"ज़रा-सा दिल और इतनी मुसीबतों का सामना। आग की भट्टी, जल की बाढ़ और आँधी का तूफान—इन सबसे बारी-बारी से गुज़रना" तो हिन्दी का एक नया रूप ही उपस्थित हो जाता है।

जो भी हो इन प्रभावों में जहाँ एक ओर अनेक-रूपता आ गई है वहाँ अभिव्यक्ति की शक्ति भी अधिक हो गई है और भाषा की प्रवृत्ति में उदारता भी आ गई है।

आज के हिन्दी-गद्य में अभिव्यक्ति शैथिल्य भी कम नहीं है। कहीं-कहीं तो एक ही वाक्य में कई अर्थ अभिव्यक्त होते हैं, जैसे—"इस दुकान पर अनार, सतरे और अंगूर का शरबत मिलता है।" इस वाक्य से यह भी अर्थ लिया जा सकता है कि इस दुकान पर अनार मिलता है, सन्तरे मिलते हैं, और अंगूर का शरबत मिलता है और यह भी अर्थ लगा सकते हैं कि इस दुकान पर अनार का शरबत मिलता है, सतरे का शरबत मिलता है और अंगूर का शरबत मिलता है। ऐसे स्थानों पर परिस्थिति को देखते हुये ही अभिप्रेत अर्थ समझा जा सकता है।

शक्ति—उपर्युक्त दुर्बलताओं के होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज हिन्दी के गद्य में शक्ति का संचार बड़ी ही तीव्रता से हो रहा है। उसका शब्द-भाण्डार बढ़ता जा रहा है। नये शब्द ढूंढ़े, गढ़े और लिये जा रहे हैं। कोश छपते जा रहे हैं। पारिभाषिक शब्दावलियाँ बनती जा रही हैं। विज्ञान, वाणिज्य, उद्योगधन्धे, चिकित्सा, राजनीति, अर्थशास्त्र, भूगोल, दर्शन, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित शब्द प्रयोग में आते जा इन शब्दों का प्रयोग भी निश्चित होता जा रहा

खण्ड : दो

हिन्दी-गद्य की विधाओं का विकास

निबन्ध
आलोचना
कहानी
उपन्यास
नाटक
अन्य विधायें

निबन्ध-साहित्य का विकास

आज 'निबन्ध' गद्य-साहित्य की एक विधा के रूप में स्वीकृत है किन्तु संस्कृत में पद्यमयी रचना भी निबन्ध के अन्तर्गत आ जाती थी।[1] इसीलिये 'सरस्वती' के सम्पादन काल तक संस्कृत से पूर्ण परिचित हिन्दी के पण्डित भी गद्य और पद्य दोनों शैलियों में लिखी गई रचनाओं को निबन्ध कहते थे।[2] आज का हिन्दी-निबन्ध-साहित्य संस्कृत की उस प्राचीन परम्परा से भिन्न है। डॉ० वार्ष्णेय के शब्दों में—

"निबन्ध रचना केवल खड़ीबोली की विशेषता है। खड़ीबोली-गद्य के लिए उन्नीसवीं शताब्दी, और उसमें भी निबन्ध रचना की दृष्टि से उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध महत्वपूर्ण है। × × इस दृष्टि से निबन्ध हिन्दी-साहित्य का नितान्त आधुनिक रूप है।"[3]

---

१. यदक्षपाद. प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद ।
   कुतार्किका ज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः ॥
   — श्री भरद्वाजोद्योत कर कृत न्याय वार्तिक, श्लोक १

२. 'उसमें ('सरस्वती' में) भिन्न-भिन्न लेखकों के हिन्दी पद्यमय अच्छे-अच्छे निबन्ध छपते हैं'—समालोचक, भाग १, अंक ४ (१९०२)

३. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—पृष्ठ १४८

निबन्ध की सीमायें

'निबन्ध', 'प्रबन्ध' और 'लेख' इन तीनों के स्वरूप पर विचार करने से 'निबन्ध' की सीमाओं की सम्यक् अवधारणा हो सकती है। 'निबन्ध' और 'प्रबन्ध' ये दोनों शब्द संस्कृत के हैं। जिस ग्रंथ में एक ही विषय के प्रतिपादनार्थ अनेक व्याख्यायें संग्रहीत होती थीं उसे निबन्ध कहते थे। 'प्रबन्ध' का क्षेत्र 'निबन्ध' की अपेक्षा अधिक व्यापक था। 'प्रबन्ध' में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित, अनेक मत संग्रहीत होते थे। शाब्दिक अर्थ के आधार पर 'कसावट' दोनों की विशेषता मानी जा सकती है। 'लेख' का सामान्य अर्थ तो 'लिखा हुआ' है किन्तु विशेषतः जब कोई लेखक किसी विषय पर अपनी प्रवृत्ति, रुचि, आदर्श तथा मनोभावों के आधार पर लिखित रूप में विचार प्रकट करता है तो उसे लेख कह सकते हैं।[१] 'निबन्ध', प्रबन्ध' और 'लेख' के लिये क्रमशः 'Essay', 'Treatise', और 'Article' शब्द प्रयुक्त होते हैं। आजकल रेडियो के विस्तार के साथ 'वार्ताओं' (Talks) का प्रचार भी बढ़ने लगा है। ये 'वार्तायें', 'लेख' की विशिष्ट परिभाषा के अधिक निकट मानी जा सकती हैं। 'लेखों' से इनकी भिन्नता इसी रूप में मानी जा सकती है कि इनमें एक विषय पर, एक समय में एक ही बात कही जाती है; लेखों में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं रहता है।

निबन्ध, परिभाषा और तत्व

'निबन्ध' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। अंग्रेजी-साहित्य के प्रथम निबन्धकार लार्ड बेकन 'निबन्ध' को 'डिस्पर्स्ड मेडिटेशन' (विक्षिप्त प्रणिधान) मानते हैं।[२] जानसन साहब 'निबन्ध' को मस्तिष्क की ढीली-ढाली उद्भावना और अव्यवस्थित तथा अपरिपक्व रचना के रूप में ग्रहण करते हैं।[३] अन्य पश्चिमी साहित्यकार मॉटेन, फ्रेंड, आदि भी इसे बुद्धि से उद्भूत अव्यवस्थित और अप्राञ्जल रचना के रूप में ही स्वीकार करते हैं।[४] ठीक इनके विपरीत आचार्य शुक्ल निबन्ध को गद्य की कसौटी मानते हैं और उनके मतानुसार 'भाषा की पूर्ण शक्ति का

---

१. आधुनिक हिन्दी-साहित्य—पृष्ठ १५०

२. 'The word essay is late, but the thing is ancient. For Seneca's Epistles to Lucilius, if one mark them well, are but essays, that is dispersed meditations.'

—भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ १६

३. 'It is a loose sally of the mind, an irregular ill-digested piece, not a regular and orderly performance.'

४. भारतेन्दुयुगीन निबंध—पृष्ठ १६

विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव होता है'।[४] प्रसिद्ध अंगरेज समीक्षक श्री जे० डब्लू मैरियट भी निबन्ध रचना को एक कठिन कार्य के रूप में स्वीकार करते हैं।[५]

उपर्युक्त सभी मतों पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि प्रायः सभी पश्चिमी विचारक और साहित्यकार निबन्ध को अव्यवस्थित और अप्रांजल विचार-शृंखला के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु हिन्दी के प्रमुख विचारक आचार्य शुक्ल इसकी गम्भीरता और व्यवस्था को ही प्रमुख मानते हैं। वस्तुतः ये परिभाषायें निबन्धकारों की निजी रचनाओं को ध्यान में रखकर की गई हैं। प्रत्येक निबन्धकार के सामने परिभाषा करते समय उसके निजी निबन्ध आ जाते रहे हैं और इसीलिये यह विभेद भी उत्पन्न हो गया है। जो भी हो, सभी प्रकार के निबन्धों को ध्यान में रखकर तथा उपर्युक्त परिभाषाओं के औचित्य पर विचार करते हुए यदि हम 'निबन्ध' के तत्वों का विवेचन करें तो निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(क) आधुनिक 'निबन्ध' गद्य की ही एक विधा है; पद्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

(ख) इसे संस्कृत-निबन्धों की प्राचीन परम्परा में नहीं रखा जा सकता।

(ग) इसका सम्बन्ध मूलतः बुद्धि से है अतः यह विचार प्रधान होता है।

(घ) विचारों की शृंखला अव्यवस्थित, शिथिल, अप्रांजल अथवा व्यवस्थित, सुगठित, गम्भीर एवं प्राञ्जल दोनों ही हो सकती है। इसका सम्बन्ध लेखक की रुचि एवं व्यक्तित्व से है।

(ङ) 'निबन्ध' में लेखक अपने व्यक्तित्व के अधिक निकट आ जाता है।

(च) लघुता, (आकार-प्रकार की) चुस्ती, स्वतः पूर्णता तथा एकतानता इसकी अन्य विशेषतायें मानी जा सकती हैं।

(छ) बुद्धि-श्रम-परिहार तथा रुक्षता निवारण के लिये निबन्ध में यत्र-तत्र हास्य, व्यंग और विनोद का संविधान भी हो सकता है।

(ज) निबन्ध-रचना के लिये भाषा की पूर्ण विकसित शक्ति अपेक्षित है।

(झ) निबन्धों के विषय सामयिक भी हो सकते हैं और चिरन्तन भी।

निबन्धों का सूत्रपात—डॉ० वार्ष्णेय लेखों से निबन्धों की भिन्नता पर बल देते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट को हिन्दी का सर्व प्रथम निबन्ध-लेखक स्वीकार

---

४. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल—पृष्ठ ६०४

५. 'The essay is a severe test of a writer and has been described as the Ulysses, bow of literature.'

—J. W. Marriott's Modern Essays and Speeches, Introduction Page X.

कहते हैं—'निबन्ध नाम से पुकारी जानेवाली अनेक रचनायें निबन्ध नहीं हैं, लेख हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, गोविन्दनारायण मिश्र आदि अनेक लेखकों की ऐसी रचनायें मिलती हैं जिनमें निबन्ध के कुछ लक्षण अवश्य मिल जाते हैं, किन्तु उन्हें निबन्ध न कहकर लेख कहना ही अधिक युक्तिसंगत होगा। अस्तु, बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के सर्वप्रथम निबन्ध लेखक माने जा सकते हैं।"[1] इसके विपरीत लाला भगवानदीन और श्रीरामदास गौड़, के शब्द पर निबन्धकार एम० ए० हिन्दी-निबन्धों का सूत्रपात श्री सदासुखलालजी से मानते हैं। उनका कहना है 'श्री सदासुखलालजी की जो दो-चार रचनायें हमारे सम्मुख हैं उनमें 'सुरासुरनिर्णय' प्रधान है। यह एक निबन्ध है। × × इस निबन्ध का रचना-काल सं० १८३६-६० के बीच माना जा सकता है। × × ऐसी स्थिति में हम हिन्दी में निबन्ध रचना का आरम्भ सं० १८३६-६० से मान सकते हैं।"[2] स्वर्गीय आचार्य शुक्ल ने निबन्धों की परम्परा का सूत्रपात भारतेन्दु-युग से स्वीकार किया है। जो भी हो, वस्तुतः साहित्य की किसी भी विधा का सूत्रपात व्यक्ति विशेष से मानना ही अनुचित है। व्यक्ति विशेष के द्वारा विधा-विशेष का उत्थान हो सकता है, उसमें नवीनतायें आ सकती हैं, उसे विस्तार मिल सकता है किन्तु यह कहना कि अमुक साहित्यकार या लेखक के द्वारा ही निबन्ध-रचना का सूत्रपात हुआ या कहानियों का जन्म हुआ या नाटकों की परम्परा सामने आई, सर्वथा उचित नहीं। ऐसी स्थिति में हमें यह स्वीकार करने में हिचक नहीं होनी चाहिये हिन्दी-निबन्धों का प्रारम्भ भी भारतेन्दु-युग से ही हुआ।

भारतेंदुयुगीन निबन्ध—भारतेन्दु-युग में अंग्रेजी-साहित्य के सम्पर्क, भारतीय जीवन में एक नवीन चेतना के उदय, पत्र-पत्रिकाओं के प्रचार तथा जनता के सम्पर्क में आने की साहित्यिकों की महती इच्छा के फलस्वरूप गद्य के एक नवीन विधान का स्वरूप सामने आया। इस नवीन विधान को 'निबन्ध' संज्ञा प्राप्त हुई।

विषय की दृष्टि से विचार करने पर इस युग में दो प्रकार के निबन्ध प्रधानतः दृष्टिगत होते हैं। (क) ऐसे निबन्ध जिनका सीधा सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं से है और जिनमें 'धर्म', 'राजनीति', 'आचार-व्यवहार', 'प्राचीन गौरव', 'वर्तमान सामाजिक पतन', आदि अनेक विषयों की चर्चा की गई है। (ख) ऐसे निबन्ध जिनमें विज्ञान, इतिहास, मनोभाव, आदि पर विचार व्यक्त किये गये हैं।

भारतेन्दु-युग के प्रमुख निबन्धकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, श्री प्रतापनारायण मिश्र, श्री बालकृष्ण भट्ट और श्रीबदरीनारायण चौधरी प्रेमघन हैं। इनके अति-

---

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ १४६

२. भारतेन्दुयुगीन निबन्ध—पृष्ठ ३०

उक्त लाला श्रीनिवासदास, श्रीराधाचरण गोस्वामी, श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, श्री काशीनाथ खत्री तथा श्री चन्द्रभूषण चातुर्वेद्य आदि लेखकों ने भी थोड़े बहुत निबन्ध लिखे हैं।

लाला श्रीनिवासदास के निबन्धों में 'भरत खण्ड की समृद्धि' बड़ा ही महत्वपूर्ण माना गया है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव एवं वर्तमान हीनावस्था का बड़ा ही विस्तृत एवं प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। इन्होंने 'सदाचरण' नामक आचार सम्बन्धी लेख भी लिखा है। वस्तुतः यह बहुश्रुत एवं बहुपठ व्यक्ति थे और इनका अंग्रेजी का अध्ययन भी अच्छा था।

श्री राधाचरण गोस्वामी के लेख प्रायः सामयिक विषयों पर ही हैं। उनके विषय भी सामाजिक हैं। यह वृन्दावन से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'भारतेंदु' (१८६० संवत्) में लेख लिखा करते थे। इनके निबन्धों में मनोरंजन का पर्याप्त पुट लक्षित होता है। इनकी भाषा भी प्रौढ एवं परिमार्जित है।

श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' के सम्पादक थे। इनके निबन्ध प्रायः इन्हीं पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं। निबन्धों का विषय प्रायः सामाजिक है। 'हम लोगों की वृद्धि किस रीति से होगी", 'बंधुत्व किसे कहते हैं', 'खुशामद', आदि निबन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं।

श्री काशीनाथ खत्री ने भी प्रायः सामाजिक विषयों पर ही लेखनी चलाई है। निबन्धों के विषय, 'स्वदेशप्रेम' 'विधवा' आदि, सामयिक हैं।

श्री चन्द्रभूषण चातुर्वेद्य के निबन्धों में विषय की दृष्टि से अधिक व्यापकता है। इन्होंने पर्व, त्योहार, धर्म, कर्तव्यपालन, स्त्री-महत्व, जाति-भेद, आदि अनेक विषयों पर लेखनी चलाई है। क्षमा, उपकार, छल आदि मनोविकारों पर भी आपने धार्मिक दृष्टि से विचार प्रकट किया है। इनके निबन्ध 'नागरीनीरद' साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित होते थे।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र का समाज सुधारक का व्यक्तित्व भी साहित्यिक व्यक्तित्व से कम महिमामय नहीं था। इसी कारण इनके लेखों में भी समाज-सुधार की समस्या ही अधिकतर सामने आई है। विशेषकर स्त्री-समाज के उत्थान की ओर आपकी दृष्टि श्लाघनीय है। इस दृष्टि से उनका 'भ्रूणहत्या', शीर्षक लेख (निबन्ध) महत्वपूर्ण है। इनके निबन्धों में राजनैतिक चेतना की झलक भी स्पष्टतया देखी जा सकती है। 'अंग्रेजों से हिन्दुस्तानियों का जी क्यों नहीं मिलता' शीर्षक निबन्ध में अंगरेजों की मनोदशा का चित्रण बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से किया गया है।

सामजिक विषयों से अलग हटकर आपने इतिहास, भाषा और साहित्य आदि पर भी विचारात्मक निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। 'हिन्दी भाषा', 'स्यापा', 'नाटकों का इतिहास' आदि निबन्ध भाषा और साहित्य से सम्बन्धित हैं। इसी

प्रकार 'अकबर और औरङ्गजेब', 'सत्रियों की उत्पत्ति', 'रामायण का समय', आदि निबन्ध ऐतिहासिक माने जा सकते हैं।

शैली की दृष्टि से आपने 'विचारात्मक', 'भावात्मक', 'आत्मव्यञ्जक', 'वर्णनात्मक', 'कथात्मक' सभी-शैलियों में निबन्ध रचना की है। 'नाटकों का इतिहास, विचारात्मक निबन्धों में महत्त्वपूर्ण है। 'सूर्योदय' भावात्मक निबन्धों में प्रसिद्ध है। 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है' आत्म-व्यंजक निबन्धों में आ जाता है। 'बसंत', 'ग्रीष्म ऋतु', 'वर्षाकाल', 'वैद्यनाथ की यात्रा आदि निबन्ध वर्णनात्मक हैं। 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' कथात्मक निबन्ध है। इस प्रकार अपने युग की सभी प्रचलित शैलियों में निबन्ध-रचना करके भारतेन्दु ने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है।

श्री प्रतापनारायण मिश्र मूलतः आत्मव्यंजक निबन्धकार हैं। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से आत्म-व्यंजक निबन्धों की भी दो कोटियाँ हैं। कुछ निबन्ध तो ऐसे हैं जिनमें आत्म-व्यंजना गम्भीरता खोकर चुलबुलेपन के रूप में सामने आ गई है। 'धोखा', 'वृद्ध', 'खुशामद', 'दाँत', 'बालक' आदि इसी कोटि के निबन्ध हैं। साथ ही कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनमें आत्म-व्यंजना की प्रधानता रहते हुए भी गाम्भीर्य बना हुआ है। 'आप' 'बात' 'भौं' ,'नारी' आदि निबन्ध इसी श्रेणी में आते हैं।

विषय की दृष्टि से आप के निबन्ध प्रायः सामाजिक ही हैं। सुधारवादी दृष्टिकोण होने के कारण आपने समाज की रूढ़ियों पर चुभता हुआ व्यंग किया है। राजनैतिक एवं आर्थिक विषयों पर भी आपने अपने ढंग से विचार किया है।

जिस प्रकार प्रतापनारायण मिश्र को आत्मव्यंजक निबन्धकार कहा जा सकता है और उसी प्रकार श्री बालकृष्ण भट्ट को मूलतः विचार प्रधान निबन्धकार माना जा सकता है। इनके निबन्धों में बराबर गम्भीरता के दर्शन होते हैं। संस्कृत एवं अँगरेजी दोनों पर अधिकार एवं अध्ययन होने के कारण यह गम्भीरता स्वाभाविक भी है।

आपने विचारात्मक निबन्धों के अतिरिक्त भावात्मक, कथात्मक और वर्णनात्मक निबन्ध भी लिखा है। भावात्मक निबन्धों में 'चन्द्रोदय' बड़ा ही प्रसिद्ध है। इसी प्रकार 'संसार महानाटयशाला' तथा 'प्रेम के बाग का सैलानी' निबन्ध वर्णनात्मक माने जा सकते हैं। 'एक अनोखा स्वप्न' नाम से आपका एक कथात्मक निबन्ध भी मिलता है।

आप के विचारात्मक निबन्ध भी प्रायः तीन श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। प्रथम कोटि उन निबन्धों की है जिनके विषय तो व्यावहारिक जीवन से से लिये गये हैं किन्तु उनका प्रतिपादन विवेचनात्मक ढंग से साहित्यिक पद्धति पर हुआ है। 'माता का स्नेह', 'आँसू', 'लक्ष्मी', 'कालचक्र का चक्कर' आदि निबन्ध सी श्रेणी के हैं।

दूसरी कोटि में वे निबन्ध आते हैं जिनके विषय साहित्य से सम्बद्ध हैं और नका प्रतिपादन भी साहित्यिक पद्धति पर ही हुआ है। 'साहित्य जन समूह के हृदय ा विकास है', 'शब्द की आकर्षण शक्ति', 'प्रतिभा', 'माधुर्य', 'साहित्य का सभ्यता घनिष्ट सम्बन्ध है', आदि निबन्ध इसी श्रेणी मे परिगणित हो सकते हैं।

तीसरी कोटि के वे निबन्ध हैं जिनका सम्बन्ध हृदय की वृत्तियों या मनो-ावों से है। 'आशा', 'आत्मगौरव', 'रुचि', 'भिक्षा वृत्ति', 'विश्वास', 'बोध', ादि निबन्ध इसी परिधि में आते हैं। यह ध्यान रखना होगा कि इन वृत्तियों ा विवेचन व्यावहारिक जीवन के अनुभवों के आधार पर ही हुआ है।

विषय की दृष्टि से, भारतेन्दुयुगीन अन्य लेखकों की भाँति आपने भी धर्म, माज, राजनीति एवं राष्ट्रीयता को ही अपना वर्ण्य एवं विवेचन विषय बनाया ा। प्राचीन संस्कारों के प्रति आपका प्रबल आकर्षण था किन्तु सामयिक विचार-ारा एवं जीवन संघर्ष से भी आप उदासीन न थे। आप में विशेषता यह थी के जोश के स्थान पर स्थिरता एवं धैर्य रखना आप अधिक श्रेयस्कर मानते थे।

श्री बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन भारतेन्दु युग के प्रमुख सामाजिक निबन्ध-कार कहे जा सकते हैं। धर्म, सभ्यता, समाज आदि पर विचार करने के साथ ही आपने अपने लेखों में समसामयिक राजनैतिक आन्दोलनों पर भी निर्भीकता के साथ लेखनी चलाई है। **नेशनल कांग्रेस की दुर्दशा, भारतीय प्रजा के दुख की दुहाई और ढिठाई पर गवर्नमेंट की कड़ाई,** आदि निबन्ध में आपने राज-नैतिक स्थिति पर प्रकाश डाला है। आपके निबन्धों का कोई संग्रह अभी उप-लब्ध नहीं है। 'नागरी-नीरद' तथा 'आनन्द-कादम्बिनी' नामक पत्रों में आपके निबन्ध बिखरे पड़े हैं।

भारतेन्दु-युगीन निबन्धों की सामान्य विशेषतायें

भारतेन्दु-युग मे गद्य की विधाओं में निबन्ध-रचना सर्वाधिक हुई। उपरो-ल्लिखित अनेक निबंधकारों ने पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक विषयों पर खूब निबन्ध लिखे। *इस युग के निबंधों में कुछ सामान्य विशेषतायें ऐसी लक्षित होती हैं* जिन पर हमारा ध्यान बरबस चला जाता है।

(क) इस युग के प्रायः सभी निबंधकार पत्रकार भी थे। अत. निबंध लिखते समय वे सदैव पाठकों का ध्यान रखते थे। फलस्वरूप इस युग के निबंधों में लेखक और पाठक के बीच में एक प्रकार की आत्मीयता के दर्शन होते हैं।

(ख) इस युग के निबन्धों में राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति का प्रकाशन सर्वाधिक हुआ है।

(ग) आत्माभिव्यक्ति की प्रधानता के कारण इस युग के निबन्धों में रोचकता अधिक आ गई है।

(घ) साहित्य को जन-जीवन के समीप लाने में इस युग के निबन्धों का बहुत बड़ा हाथ माना जा सकता है।

(ङ) विषयों की अनेकरूपता और इसके फलस्वरूप निबन्ध लेखन की विभिन्न शैलियों का उदय इस युग की एक प्रमुख विशेषता है।

(च) हिन्दी-गद्य के परिमार्जन में भारतेन्दुयुगीन-निबन्ध-साहित्य गद्य की अन्य विधाओं से कहीं अधिक आगे रहा है।

(छ) इस युग में निबन्धों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि लेखकों की दृष्टि में व्यापकता तथा उनकी वृत्तियों में संकीर्णता के स्थान पर उदारता की भावना का समावेश होने लगा था।

उपर्युक्त विशेषताओं को देखते हुये तथा निबन्ध-साहित्य की प्रचुर रचना पर ध्यान देने पर वस्तुतः डा० रामविलास शर्मा का यह कथन उपयुक्त प्रतीत होता है कि 'जितनी सफलता भारतेंदु युग के लेखकों को निबन्ध रचना में मिली उतनी कविता और नाटक में नहीं मिली।'[1]

द्विवेदी-युग का निबन्ध-साहित्य

द्विवेदी-युग के प्रमुख निबन्ध लेखक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, मिश्रबन्धु, गोपालराम गहमरी, सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू श्याम सुन्दरदास, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, रामचन्द्र शुक्ल, पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्ण बिहारी मिश्र तथा बाबू गुलाबराय हैं। इन प्रमुख लेखकों के अतिरिक्त तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में अनेक छोटे-बड़े निबन्ध-लेखकों की रचनायें बिखरी पड़ी हैं। इनमें पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री, माधवराव सप्रे, सत्यदेव, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, काशीप्रसाद जायसवाल, डॉ० बड़थ्वाल, लालताप्रसाद शर्मा, लक्ष्मण गोविन्द आठले, मन्नराम, लक्ष्मीधर वाजपेयी, जनार्दनभट्ट, बदरीनाथ भट्ट, हनुमानप्रसाद पोद्दार, रामनारायण मिश्र, वेंकटेशनारायण तिवारी, व्रजरत्नदास, बनारसीदास चतुर्वेदी, शिवपूजन सहाय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मन्नन द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदी-युग में प्रायः उन सभी भावनाओं, विचारों, शैलियों, एवं साहित्य विधाओं का विकास एवं प्रसार हुआ जिनका सूत्रपात भारतेन्दु-युग में हो चुका था। फलतः निबन्ध-साहित्य में भी विषय, शैली एवं विचारधारा की दृष्टि से विकास परिलक्षित होता है।

१- 'भारतेन्दु-युग', डॉ० रामविलास शर्मा—पृष्ठ ८१

विषयों की दृष्टि से द्विवेदी-युग के निबन्धों मे मुख्यत. सात विषयो का निपादन किया गया है।[1]

१. साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी
२. विज्ञान तथा आविष्कार सम्बन्धी
३. ऐतिहासिक एव पुरातत्त्व विषयक
४. भौगोलिक
५. जीवन चरित्र विषयक
६. आध्यात्म सम्बन्धी
७. अन्य उपयोगी विषयो से सम्बद्ध

साहित्य एवं भाषा सम्बन्धी निबन्ध भी कई प्रकार के हैं। उनका विभाजन मुख्यत. चार रूपो में किया जा सकता है—१–भाषा और व्याकरण सम्बन्धी, –लेखक तथा ग्रंथों की परिचयात्मक आलोचना सम्बन्धी, ३–साहित्य-शास्त्र सम्बद्ध विषयों पर तथा ४–सामयिक-साहित्य के प्रश्नो से सम्बद्ध।

भाषा और व्याकरण से सम्बद्ध निबन्ध मबसे अधिक द्विवेदी-युग मे ही लखे गये। गोविन्दनारायण मिश्र का 'प्राकृत विचार' तथा 'विभक्ति विचार', गन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'हिन्दीलिंग-विचार' महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'भाषा और याकरण' डा० बडथ्वाल का 'ज्ञ' का उच्चारण तथा कामताप्रसाद गुरु के सरस्वती में प्रकाशित अनेक लेख भाषा-सुधार की प्रेरणा से ही लिखे गये हैं।

लेखकों और पुस्तकों के परिचयरूप से निबन्ध लेखन परम्परा भी स्वय महावीरप्रसाद द्विवेदी से ही पोषित हुई। सरस्वती की अनेक सख्याओं में उनके इस प्रकार के निबन्ध देखे जा सकते हैं। माधवराव सप्रे, लाला भगवानदीन, काशीप्रसाद जायसवाल, मिश्रबन्धु, प० कृष्णबिहारी मिश्र, प० रामचन्द्र शुक्ल आदि अनेक लेखकों ने द्विवेदीजी का इस दिशा मे अनुसरण किया।

साहित्य-शास्त्र से सम्बद्ध निबन्धों में द्विवेदीजी का 'नाट्यशास्त्र', 'कवि और कविता', 'कवि बनने के लिये सापेक्ष साधन', 'उपन्यास रहस्य,' बाबू श्याम-सुन्दरदास का 'साहित्यालोचन', पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी का 'विश्वसाहित्य;', रामचन्द्र शुक्ल की 'रस-मीमासा' (जो उनकी मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित हुई है) आदि प्रमुख हैं।

सामयिक साहित्य से सम्बद्ध निबन्धों में मन्नन द्विवेदी का 'हिन्दी की वर्तमान दशा' बदरीनाथ भट्ट का 'वर्तमान हिन्दी-काव्य की भाषा', मैथिलीशरण गुप्त का 'हिन्दी कविता किस ढग की हो', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'हिन्दी की वर्तमान अवस्था', आदि निबन्ध महत्वपूर्ण हैं।

---

१. द्विवेदीयुगीन निबन्ध साहित्य—पृष्ठ १०८

गा। द्विवेदी-युग में इन शैलियों के अन्तर्गत अनेक सूक्ष्म रूपों का विकास देखा गया। साथ ही भारतेंदु-युग की आत्मव्यञ्जक शैली का क्रमशः ह्रास दृष्टिगत हुआ।

वर्णनात्मक शैली के भी दो रूप देखे गये। (क) यथातथ्य वर्णन (ख) कल्पना-प्रधान वर्णन। द्विवेदी-युग में यथातथ्य वर्णन के अन्तर्गत आने वाले निबंधों में 'मंसूरी की सरसरी सैर',[1] 'राजपूताना के भील',[2] 'आगरे की शाही इमारतें',[3] 'जयपुर',[4] 'उदयपुर',[5] 'नैपाल'[6] आदि उल्लेखनीय हैं। कल्पना-प्रधान वर्णन का सबसे सुन्दर उदाहरण 'इन्दु' में प्रकाशित जयशंकर प्रसाद जी का 'प्रकृति सौंदर्य' है।

जहाँ तक वर्ण्य विषयों का सम्बन्ध है द्विवेदी-युग में 'जाति', 'नगर', 'प्रदेश', 'ऋतु', 'यात्रा', 'जीवनचर्या', 'दिनचर्या', 'पर्व-त्योहार', आदि अनेक विषयो का वर्णन किया गया है।

विवरणात्मक निबंधों के भी कई रूप मिलते हैं। मुख्यतः (क) कथात्मक विवरण (ख) जीवन चरितात्मक विवरण (ग) घटनात्मक विवरण। कथात्मक विवरण की भी तीन कोटियाँ स्पष्ट लक्षित होती हैं। (क) आत्म-कथात्मक विवरण (ख) स्वप्न-कथात्मक विवरण (ग) रूपकात्मक कथा विवरण।

आत्म-कथात्मक निबन्धों में वेंकटेशनारायण तिवारी का 'एक अशरफी की आत्मकहानी', निजाम शाह का 'एक शिकारी की सच्ची कहानी', श्रीकण्ठ पाठक का 'दण्डदेव का आत्म निवेदन', जे. एन. एस गहलौत का 'जलकी आत्मकथा', विन्ध्येश्वरी प्रसाद उपाध्याय का 'जूते की आत्म कहानी' आदि निबन्ध उल्लेखनीय हैं। ये सभी निबन्ध 'सरस्वती', 'प्रभा', 'इन्दु', 'कमला' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुये हैं।

स्वप्नकथाओं का श्रीगणेश भारतेंदु-युग में ही हो गया था।

द्विवेदीयुग में भी यह निबन्ध-शैली चलती रही। यह प्रयोग अधिक प्रचलित नहीं हुआ। फिर भी लल्लीप्रसाद पाण्डेय ने 'कविता का दरबार', अवधविहारी शरण ने 'मेरा स्वप्न', लक्ष्मीधर वाजपेयी ने 'विधारण्य', कमलाप्रसाद ने 'क्या था' आदि निबन्धों को प्रस्तुत करके इस परम्परा को जीवित रखा।

रूपकों के आधार पर कथात्मक निबन्ध भी अधिक नहीं लिखे गये। केवल लक्ष्मण गोविन्द आठले का 'वर्षा-विजय' बदरीदत्त पाण्डेय का 'महाराज सूरज सिंह और बादल सिंह की लड़ाई' आदि कुछ निबन्ध दृष्टिगत होते हैं।

---

१. घुमक्कड़—'मर्यादा', जून-जुलाई, १९१३
२. गंगा सहाय—'सरस्वती' मार्च १९०७
३. महावीर प्रसाद द्विवेदी—'लेखाञ्जलि' में संग्रहीत—पृष्ठ ८१
४. महावीर प्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती' फरवरी १९०८
५. गोविन्द दास—'श्री शारदा' संवत् १९८०, वर्ष ४, खण्ड १, सं० २
६. महावीरप्रसाद द्विवेदी—'सरस्वती' १९०५

जीवन चरित सम्बन्धी निबन्ध सर्वाधिक लिखे गये। पौराणिक, माहित्यिक तथा धार्मिक सभी प्रकार के महापुरुषों का जीवन-विव के माध्यम से सामने आया। पौराणिक पुरुषों में—भीष्म पितामह, कृष्ण—ऐतिहासिक वीरों में—महारानी दुर्गावती, सिकन्दर, बाजीप्र नाना फड़नवीस, नवाब औसफउद्दौला, राजा बीरबल, साहित्यिकों गोये, से लेकर बेनी, प्रवीन तथा ग्रियर्सन से लेकर अयोध्याप्रसाद होमर से लेकर इंशाअल्ला खाँ आदि अनेक साहित्यकारों की जीव हुई। धार्मिक महापुरुषों में—शंकराचार्य, महात्मा बुद्ध, चैतन्य महाप्रभु महात्माओं का जीवन विवरण उपलब्ध हुआ।

घटनात्मक विवरणों में ऐतिहासिक, अलौकिक तथा सामान्य सभी घटनाओं का वर्णन हुआ। वर्णन की विशदता तथा चमत्कार प्रधान घटनाओं के समावेश की प्रवृत्ति इन विवरणों में स्पष्ट लक्षित होती है

द्विवेदी-युग में भावात्मक निबन्ध लेखकों में पं० माधवप्रसाद मिश्र पूर्ण सिंह, पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रधान रूप से किया जा सकता है।

भावात्मक निबन्धों की दो कोटियाँ लक्षित होती हैं कुछ निबन्धों का आधिक्य होने पर भी क्षीण विचारधारा बराबर प्रवाहित होती है निबन्ध मूलतः भाव प्रधान होते हैं। उनमें विचार तत्त्व होता ही नहीं युग में लिखे गए 'सच्ची वीरता', 'आचरण की सभ्यता', 'मजदूरी 'कन्यादान' (अध्यापक पूर्ण सिंह द्वारा लिखित) तथा 'रामलीला', 'पर (माधवप्रसाद मिश्र कृत) निबन्ध भाव प्रधान होते हुए भी विचा सर्वथा हीन नहीं है।

विशुद्ध भावात्मक लेखों में 'माधुरी',[1] 'क्यों रोते हो ?',[2] 'पवित्र प्रे तिक हृदय',[3] 'आशा',[4] 'बसन्त की हवा'[5] आदि उल्लेखनीय है।' इन्हीं निबन्धों ने आगे चलकर गद्यगीतों का रूप ले लिया है। पं० मह द्विवेदी का 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' भी भावात्मक निबंधों के अन्त जा सकता है।

---

१. शिवपूजन सहाय—'माधुरी', जुलाई-दिसम्बर १९२२
२. रोनेवाला—'मर्यादा', नवम्बर १९१५
३. तोलाराम पारणीर—'प्रभा', अक्टूबर १९१३
४. कुंज—'सरस्वती', अगस्त १९१३
५. माताशीन शुक्ल—'मर्यादा', जुलाई १९१९
६. पारसनाथ त्रिपाठी—'इन्दु', मार्च १९१४

'भाव' एवं विचार-तत्त्वों की न्यूनाधिकता के कारण स्वरूप-भेद होने से भावात्मक निबन्धों की दो प्रमुख शैलियाँ बन गईं। (क) धारा-शैली और (ख) विक्षेप-शैली। अध्यापक पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्ध—'मजदूरी और प्रेम' में धारा-शैली दृष्टिगत होती है। द्विवेदीजी के 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' में विक्षेप-शैली का सुन्दर रूप देखा जा सकता है।

द्विवेदी-युग में विचारात्मक निबन्धों का सबसे अधिक विकास हुआ। विचारात्मक निबन्धों के तीन प्रमुख रूप सामने आये। (क) विवेचनात्मक (ख) आलोचनात्मक (ग) यौक्तिक। विवेचनात्मक निबन्धों के दो रूप हो सकते हैं। सामान्य विषयों का विवेचन और गम्भीर मनोभावों का विवेचन। द्विवेदी-युग में इन दोनों प्रकार के विवेचनात्मक निबन्धों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में हुआ।

सामान्य विषयों के विवेचन से सम्बद्ध निबन्धों में 'राष्ट्रों के कर्त्तव्य',[1] 'विज्ञान का समाज पर प्रभाव',[2] 'साहित्य और समाज',[3] 'विदुषी स्त्रियों का समाज पर प्रभाव',[4] 'भारतीय समाज का आदर्श', 'व्यक्ति और समाज', 'साहित्य और विज्ञान', 'इतिहास और धर्म' आदि अनेक निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में भरे पड़े हैं।

गम्भीर मनोभावों के विवेचन में सबसे अधिक सफलता आचार्य शुक्ल को हुई। 'क्रोध', 'भय', 'घृणा', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'लोभ या प्रेम', 'श्रद्धा और भक्ति' आदि मनोभावों का जीवन के अनुभव के आधार पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन शुक्लजी ने किया। पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा, कामताप्रसाद गुरु, रामनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र प्रभृति अन्य विद्वानों ने भी इस दिशा में स्फुट प्रयोग किये। इस प्रकार गम्भीर चित्तवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से हिन्दी का द्विवेदी-युगीन-निबन्ध-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है।

आलोचनात्मक निबन्ध-लेखकों में सर्वाधिक प्रसिद्धि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्रशुक्ल, मिश्रबन्धु, बदरीनाथ भट्ट गुलाबराय, मन्नन द्विवेदी, लाला भगवानदीन, पं० कृष्णबिहारी मिश्र प्रभृति लेखकों को प्राप्त हुई। इस क्षेत्र में भी 'भ्रमरगीतसार', 'जायसी-ग्रन्थावली', तथा 'तुलसी-ग्रंथावली' की भूमिकायें प्रस्तुत करके आचार्य शुक्ल ने आलोचनात्मक निबन्धों की परम्परा में नवीन दिशा की ओर संकेत किया। हिन्दी-आलोचना के इतिहास में इन विस्तृत निबन्धों का स्थायी महत्व सदैव स्वीकृत होगा।

---

१. जनार्दन भट्ट—मर्यादा, जुलाई १६१२
२. एक दर्शक—'मर्यादा', जून-जुलाई १६१३
३. वामदेव शर्मा—'मर्यादा', सितम्बर १६१६
४. गुदड़ीलाल वर्मा—'मर्यादा', जून-जुलाई १६१३

'भाव' एवं विचार-तत्त्वों की न्यूनाधिकता' के कारण स्वरूप-भेद होने से भावात्मक निबन्धों की दो प्रमुख शैलियां बन गईं। (क) धारा-शैली और (ख) विक्षेप-शैली। अध्यापक पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्ध—'मजदूरी और प्रेम' में धारा-शैली दृष्टिगत होती है। द्विवेदीजी के 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ' में विक्षेप-शैली का सुन्दर रूप देखा जा सकता है।

द्विवेदी-युग में विचारात्मक निबन्धों का सबसे अधिक विकास हुआ। विचारात्मक निबन्धों के तीन प्रमुख रूप सामने आये। (क) विवेचनात्मक (ख) आलोचनात्मक (ग) यौक्तिक। विवेचनात्मक निबन्धों के दो रूप हो सकते हैं। सामान्य विषयों का विवेचन और गम्भीर मनोभावों का विवेचन। द्विवेदी-युग में इन दोनो प्रकार के विवेचनात्मक निबन्धों का प्रणयन पर्याप्त मात्रा में हुआ।

सामान्य विषयों के विवेचन से सम्बद्ध निबन्धों में 'राष्ट्रों के कर्त्तव्य',[1] 'विज्ञान का समाज पर प्रभाव',[2] 'साहित्य और समाज',[3] 'विदुषी स्त्रियों का समाज पर प्रभाव',[4] 'भारतीय समाज का आदर्श', 'व्यक्ति और समाज', 'साहित्य और विज्ञान', 'इतिहास और धर्म' आदि अनेक निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में भरे पड़े हैं।

गम्भीर मनोभावों के विवेचन में सबसे अधिक सफलता आचार्य शुक्ल को हुई। 'क्रोध', 'भय', 'घृणा', 'करुणा', 'ईर्ष्या', 'लोभ या प्रेम', 'श्रद्धा और भक्ति' आदि मनोभावों का जीवन के अनुभव के आधार पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन शुक्लजी ने किया। पाण्डेय लोचनप्रसाद शर्मा, कामताप्रसाद गुरु, रामनारायण मिश्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० कृष्णबिहारी मिश्र प्रभृति अन्य विद्वानों ने भी इस दिशा में स्फुट प्रयोग किये। इस प्रकार गम्भीर चित्तवृत्तियों के सूक्ष्म विवेचन की दृष्टि से हिन्दी का द्विवेदी-युगीन-निबन्ध-साहित्य सर्वाधिक समृद्ध है।

आलोचनात्मक निबन्ध-लेखकों में सर्वाधिक प्रसिद्धि आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० रामचन्द्रशुक्ल, मिश्रबन्धु, बदरीनाथ भट्ट गुलाबराय, मन्नन द्विवेदी, लाला भगवानदीन, प० कृष्णबिहारी मिश्र प्रभृति लेखकों को प्राप्त हुई। इस क्षेत्र में भी 'भ्रमरगीतसार', 'जायसी-ग्रन्थावली', तथा 'तुलसी-ग्रन्थावली' की भूमिकायें प्रस्तुत करके आचार्य शुक्ल ने आलोचनात्मक निबन्धों की परम्परा में नवीन दिशा की ओर संकेत किया। हिन्दी-आलोचना के इतिहास में इन विस्तृत निबन्धों का स्थायी महत्त्व सदैव स्वीकृत होगा।

---

१. जनार्दन भट्ट—मर्यादा, जुलाई १९१२
२. एक दर्शक—'मर्यादा', जून-जुलाई १९११
३. वामदेव शर्मा—'मर्यादा', सितम्बर १९१६
४. मुकुन्दीलाल वर्मा—'मर्यादा', जून-जुलाई १९११

यात्रा-सम्बन्धी विवरण तथा श्री श्रीराम शर्मा के शिकार-सम्बन्धी विवरण अपने ढंग के अकेले हैं।

छायावादी युग में आलोचनात्मक निबन्ध लिखनेवालो में प० नन्ददुलारे वाजपेयी तथा शान्तिप्रिय द्विवेदी विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। नन्ददुलारेजी के निबन्धों में सूक्ष्म काव्यात्मक शैली तथा गम्भीर विवेचनात्मक शैली दोनों के दर्शन होते हैं किन्तु शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्ध तो भावात्मक ही हैं। स्वय छायावादी कवियों ने भी हिन्दी-निबंध-साहित्य की भी वृद्धि की है। पत, प्रसाद, निराला, तथा महादेवी के निबन्ध, हिन्दी-साहित्य की अक्षय निधि हैं। पतजी के निबन्धों का क्षेत्र, साहित्य, कला, संस्कृति एवं भाषा है। मूलतः कवि होने के नाते इन निबन्धों में काव्यतत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। 'प्रसाद' के अधिकांश निबन्ध साहित्य के तत्त्वों एवं कला के मानदण्डों से सम्बन्धित हैं जिनमें लेखक ने व्यक्तिगत आदर्शों की स्थापना ऐतिहासिक आधार पर करनी चाही है। 'निराला' का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक है उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं पर भी विचार किया है। महादेवी के साहित्य एवं कला सम्बन्धी निबध विवेचन प्रधान होने पर भी छायावादी अलंकरणों से युक्त हैं। 'अतीत के चलचित्र', और 'स्मृति की रेखाओं' में उन्होंने समाज के अत्याचारों से जर्जरित व्यक्तियों के मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किये हैं किन्तु उनकी सहानुभूति विशेषतः नारी-वर्ग की ओर है। गद्य का स्वरूप यहाँ भी अलंकृत एवं काव्यात्मक ही है। कहीं-कहीं बड़े ही सूक्ष्म व्यंग्य किये गये हैं।

छायावादी युग के पश्चात् हिन्दी-निबध-साहित्य को नवीन पथ पर अग्रसर करनेवाले लेखकों में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सियारामशरण गुप्त, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र कुमार, सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, श्री गुलाबराय, रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रकाशचन्द्रगुप्त, यशपाल, श्री प्रभाकर माचवे, डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, अज्ञेय, नगेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, श्री रामधारी सिंह, नामवर सिंह, श्री विद्यानिवास मिश्र, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय हैं।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी को निबन्ध-शैली पर गार्डिनर तथा रवीन्द्र का प्रभाव स्पष्ट है। बख्शीजी के निबन्धों की विशेषता यह है कि उनमें नाटकीयता, रजकता तथा विवरण तीनों का अद्भुत सम्मिश्रण रहता है। साथ ही आपका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। जीवन, समाज, धर्म, साहित्य आदि सभी विषयों को आपने बड़े ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है।

सियारामशरण गुप्त ने संस्मरण एव यात्रा-विवरण, के रूप में तथा साहित्य और समाज की समस्याओं पर विचारात्मक शैली में निबन्ध रचना की है। इनके निबन्धों में सरलता, आत्मीयता, मनोरंजन एवं मार्मिकता के दर्शन एक साथ होते हैं।

इधर पुराने एवं प्रौढ़ साहित्यकारों की एक टोली भी निबन्धों के क्षेत्र में प्रविष्ट हुई है। इस टोली में पं० परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, प० ललिताप्रसाद शुक्ल, डॉ०, भगीरथ मिश्र, तथा विनयमोहन शर्मा उल्लेखनीय हैं।

पं० परशुराम चतुर्वेदी मूलतः आलोचनात्मक निबन्ध लेखक हैं। उनके 'नव-निबंध' संग्रह में संगृहीत निबंध भिन्न-भिन्न, कवियों की आलोचनात्मक चर्चायें हैं। 'मध्ययुगीन प्रेम साधना' का स्वरूप भी विवेचनात्मक ही है। अध्ययन की गम्भीरता के कारण इनके निबन्धों में तथ्यकथन एवं यौक्तिक (तर्क सभी) शैली के दर्शन होते हैं।

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रसिद्ध पुरातत्त्व वेत्ता हैं। उनके निबन्धों के मुख्य विषय इतिहास, संस्कृति एवं कला हैं। आपके निबंध अनुसन्धानात्मक अधिक हैं। इनमें तथ्यकथन की प्रवृत्ति प्रधान है। विषय के प्रतिपादन के लिये आपने तार्किक (logical) शैली का आधार लिया है।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के भाषणों का संग्रह निबंध रूप में 'साहित्य शिक्षा और संस्कृति' नाम से डॉ० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित हुआ है। इस संग्रह में भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी विविध समस्याओं पर विचार किया गया है। शिक्षा के विविध रूपों एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन किया गया है। और भारतीय संस्कृति की महत्ता का प्रतिपादन भी प्रस्तुत हुआ है। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की गद्य-शैली बड़ी ही सरल एवं प्रभावपूर्ण है।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने खोज, हिन्दी-प्रचार, साहित्यिक विवेचन, सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं के उद्घाटन आदि अनेक विषयों पर विचार किया है। 'विचारधारा' में संगृहीत आपके निबन्ध अनुसन्धानात्मक एवं तथ्यपूर्ण हैं। यौक्तिक शैली के सुन्दर उदाहरण के रूप में उन्हें ग्रहण किया जा सकता है।

पं० ललिताप्रसाद शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र एवं विनयमोहन शर्मा मुख्यतः आलोचक हैं। अतएव इनके निबन्धों में भी गम्भीर विवेचनात्मक शैली के ही दर्शन होते हैं। विषय, प्रायः साहित्यिक हैं। इन लेखकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि साहित्य के सभी अंगों तथा प्राचीन एवं नवीन रूपों पर इन्होंने समान रूप से लेखनी चलाई है। पं० ललिताप्रसाद तथा विनयमोहन शर्मा के सभी निबन्धों में समान प्रौढ़ता लक्षित होती है। डॉ० मिश्र के निबन्ध क्रमशः अधिक प्रौढ़ होते गये हैं। इनमें विषय की व्यापकता अधिक है तथा नवीन तथ्यों को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है।

हिन्दी-गद्य की भविष्य सम्बन्धी सम्भावनाओं पर विचार करते हुये श्री विजयशंकर मल्ल ने लिखा है—

"आगे साहित्य में विषय वैविध्य ज्यों-ज्यों बढ़ता जायगा
भी बढ़ते जायेंगे और विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर साहित्यिक
अलग रुचि के लोगों की गम्भीर जिज्ञासा-पूर्ति के साधन बनते
यदि एक ओर निबन्धों को गंभीर और गूढ़ बनाकर उनका
करती जायगी तो दूसरी ओर सामान्य पाठकों के थके मस्ति
करनेवाले निर्बन्ध-निबन्धों के प्रणयन और पठन में प्रेरक
प्रकार के—विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ, जिन्हें परिबन्ध-
निबन्ध कह सकते हैं—निबन्धों की आवश्यकता का अनु
और उन्हें लिखने वाले लेखक बढ़ते जायेंगे पर इस सम
भविष्य आशाजनक प्रतीत हो रहा है।"[1]

हिन्दी-आलोचना का विकास

भक्ति और रीतियुगीन समीक्षा-पद्धतियाँ—आधुनिक
के पूर्व भक्ति और रीति-युगों में भी हिन्दी-समीक्षा का
भक्ति काल में यद्यपि कवियों ने काव्यशास्त्रीय परम्परा
दुहाई दी किन्तु किसी-न-किसी रूप में अपने काव्य-तत्त्वों
दिया। अतिरिक्त, भक्तमालों और वार्ताओं में संकलित
स्फुट उल्लेख एक प्रकार से उनकी समीक्षा भी प्रस्तुत
कि वैष्णव भक्ति के आचार्यों का भक्ति-शास्त्र-निरू
मान्यताओं के आधार पर ही सम्भव हुआ है। इसी
कवि विशेष के विषय में परम्परागत सूक्तियाँ भी एक
है। अतएव यह तो निर्विवाद है कि भक्ति-काल में
किसी रूप में काव्य-रचना के समानान्तर चलती रही
रीतिकाल में समीक्षा के दो रूप स्पष्ट लक्षित
समीक्षा और (ख) व्यावहारिक समीक्षा।

सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में रीतिकालीन
काव्यशास्त्रों का ही आधार ग्रहण करते रहे। संस्
के प्रमुख सम्प्रदायों—अलंकार, रस, वक्रोक्ति, री
में केवल 'अलंकार' और 'रस' का ही हिन्दी
जैसे केशव ने 'अलंकार' के प्रति, देव, मतिरा
ने 'रस' के प्रति, तथा चिन्तामणि, सेनापति,
ने ... के प्रति अधिक आस्था प्रकट की।

रीतिकाल में व्यावहारिक आलोचना प्रायः तीन रूपों में अधिक देखी गई।

(क) स्फुट छन्दों में कवि की विशेषताओं का वर्णन।

(ख) सिद्धान्त-ग्रंथों में कवियों और काव्य-ग्रंथों की प्रासंगिक आलोचना।

(ग) टीका-पद्धति।

उपर्युक्त तीनों पद्धतिओं में टीका-पद्धति को ही व्यावहारिक आलोचना के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। रीतियुग के पर्यवसान काल में सरदार कवि कृत 'मानस-रहस्य' टीका-पद्धति का ही विकसित रूप माना जा सकता है। इसमें सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक दोनों प्रकार की समीक्षाओं का सुन्दर समन्वय किया गया है। इस कवि ने काव्यांगों के लक्षण, उन लक्षणों के अनुसार मानस से उदाहरण तथा अन्त में उन स्थलों की गद्य में व्याख्या प्रस्तुत करके रीति-कालीन समीक्षा पद्धति को कई कदम आगे बढ़ा दिया है।

आधुनिक आलोचना—गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आधुनिक आलोचना का उद्भव भी भारतेंदु-युग से ही माना जा सकता है। 'कविवचन सुधा' (१८६८) और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७३) में 'समालोचना' के नाम पर कुछ 'नोट' प्रकाशित किये जाते थे। भारतेंदु के जीवन काल में ही अन्य समसामयिक सम्पादकों ने भी इस प्रकार की आलोचना-शैली को अपने पत्रों में स्थान दिया। यह आलोचना, वस्तुतः एक प्रकार का पुस्तक-परिचय है।

भारतेंदु की मृत्यु के उपरान्त परिचयात्मक आलोचना का कुछ विकसित रूप बालकृष्ण भट्ट, तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की समीक्षा-शैली में देखा गया। इन दोनों महानुभावों ने १८८५ में प्रकाशित लाला श्री निवासदास के 'संयोगिता स्वयंवर' नाटक की विस्तृत आलोचना क्रमशः 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनन्द कादम्बिनी' में प्रस्तुत की। भट्टजी और 'प्रेमघन' की देखादेखी इसी प्रकार की आलोचनायें तत्कालीन पत्रों में बराबर प्रकाशित होती रहीं। इन आलोचनाओं में कृतियों के सामान्य गुणदोषों के अतिरिक्त और कुछ न होता था। 'हिन्दोस्थान' (१८८५) में प्रकाशित आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में भी दोष-दर्शन की प्रवृत्ति ही लक्षित होती है।

१८९७ में नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका के प्रकाशन के साथ हिन्दी-आलोचना के इतिहास में क्रान्तिकारी परिवर्तन दृष्टिगत हुये। इसमें गम्भीर अनुसन्धानात्मक लेखों के साथ ही समालोचना-सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्ध भी प्रकाशित होने लगे। सन् १८९७ ई० में गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध प्रकाशित हुआ। डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार केवल गुण-दोष-विवेचन प्रणाली से भिन्न समालोचना-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवाली प्रथा का सूत्रपात इसी निबन्ध से माना जाना चाहिये। इसी वर्ष इस दिशा में दो अन्य महत्वपूर्ण प्रयास देखे गये। बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने पोप के Essay on Criticism का पद्यबद्ध

ार 'समालोचनादर्श' नाम से प्रस्तुत किया और अन्विवाद
ा के सिद्धान्त और उनकी विशेषताओं पर विचार कर
ोमा' की रचना की। सन् १९०० में सरस्वती के प्रका
ालोचना को अधिक प्रोत्साहन मिला। 'नागरी प्रचारि
८९३ में प्राचीन साहित्यिक कृतियों की खोज की व्यवस्था
ीर गवेषणा पूर्ण अध्ययन की पुष्ट परम्परा का सूत्रपा
ानों द्वारा भारतीय साहित्य एवं भाषा की आलोचना प्र
ही के लोगों में भी अपने प्राचीन साहित्य के प्रति जिज्ञा
ोर पाश्चात्य साहित्य से भी हमारा सम्पर्क बढ़ने लगा।
े हिन्दी में आलोचना की व्याख्यात्मक शैली को जन्म दि

बीसवीं शताब्दी में समालोचना के क्षेत्र में मिश्रबन्धु
भगवानदीन, महावीरप्रसाद द्विवेदी, किशोरीलाल गोस्वामी
बाबू श्यामसुन्दरदास, पं० कृष्णबिहारी मिश्र तथा प० रा
हुआ। फलस्वरूप समालोचना के निम्नलिखित रूपों का वि

(क) रीतिकालीन सैद्धान्तिक आधार पर गुण-दोष वि
(ख) तुलनात्मक आलोचना।
(ग) साहित्य की सामान्य समीक्षा।
(घ) खोज एवं अनुसन्धानात्मक समीक्षा।
(ङ) गम्भीर व्याख्यात्मक समालोचना।
(च) समालोचना-सिद्धान्त।

रीतिकालीन सैद्धान्तिक आधार पर गुण-दोष-विवेच
की समालोचना में देखी जा सकती है। गुण, अलंकार,
इन्होंने रीतिग्रंथों का ही आधार लिया है। 'अलंका
आदि में ये किसे काव्य की आत्मा मानने के पक्ष में
है। 'मिश्रबन्धु विनोद' की भूमिका में इन काव्यतत्
उपलब्ध है उसके अनुसार इनका झुकाव 'रस' की अ
'हिन्दी नवरत्न' में आलोचना के आधुनिक स्वरू
है। संदेश और उसकी सफल अभिव्यक्ति को 'हिन्
प्रधान आधार माना गया है। साथ ही कुछ कवियों
समय तत्कालीन परिस्थितियों का भी विश्लेषण कि
कालीन काव्यादर्शों को स्वीकार करते हुये भी
...के समालोचना सम्बन्धी परिवर्तनों के प्रति उ
... प्रारम्भ प० पद्

१६०७ को 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर 'हिन्दी नवरत्न' में मिश्रबन्धुओं ने रीतिकालीन काव्यादर्शों के आधार पर हिन्दी के नौ सर्वोत्तम कवियों की तुलनात्मक आलोचना प्रस्तुत की। पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई' की तुलना 'आर्यासप्तशती' 'अमरुक शतक', 'गाथा सप्तशती' तथा हिन्दी, उर्दू, और फारसी के अन्य कवियों से की और बिहारी को शृंगार रस का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित किया। सम्भवतः इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप पं० कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' ग्रंथ में बड़ी ही विद्वत्ता के साथ यथासाध्य तटस्थ रहते हुये देव को बिहारी से बड़ा बताया। लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर किसी प्रकार 'बिहारी' को बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। इस खींच तान से निश्चय ही हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना का एक पृथक साहित्य ही बन गया। आलोचना की यह पद्धति आज भी किसी-न-किसी रूप में चल रही है।

साहित्य की सामान्य-समीक्षा वस्तुतः परिचयात्मक आलोचना का ही किंचित विकसित रूप था। पत्र-पत्रिकाओं के बढ़ते हुये प्रकाशन के साथ इस समीक्षा पद्धति का प्रचार हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में 'समालोचक' (जयपुर), 'सुदर्शन' (बनारस), 'सरस्वती' (प्रयाग), समालोचक (गंधौली), साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी प्रमुख पत्र थे। धीरे-धीरे समीक्षा का यह रूप विज्ञापन का साधन मात्र रह गया। इधर 'आलोचना' (दिल्ली) और 'अवन्तिका' (पटना) ने गम्भीर साहित्य-समीक्षायें प्रस्तुत करके इस पद्धति का पुनरुद्धार किया है।

खोज एवं अनुसन्धान सम्बन्धी आलोचना का विकास वस्तुतः 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के साथ हुआ। पत्रिका के प्रकाशन के पूर्व सरयूप्रसाद मिश्र कृत 'भारतवर्षीय संस्कृत कवियों का समय निरूपण', (बँगला से अनुवाद), गंगाप्रसाद अग्निहोत्री कृत 'संस्कृत कवि पंचक' (मराठी से अनुवाद) तथा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'नैषधचरित चर्चा' में अनुसन्धानात्मक समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट हो चुका था। 'पत्रिका' के प्रकाशन के साथ इस दिशा में आशातीत कार्य हुआ। राधाकृष्णदास का 'नागरीदास का जीवनचरित्र' तथा 'मुसलमानी दफ्तरों में हिन्दी', एडविन ग्रीव्स का 'गोसाईं तुलसीदास का चरित्र', श्यामसुन्दरदास का 'बीसलदेव रासो', किशोरीलाल गोस्वामी का 'अभिज्ञान शाकुन्तल और पद्मपुराण,' चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का 'विक्रमोर्वशी की मूल कथा' आदि अनेक गम्भीर एवं गवेषणा पूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में सन् १८६६ और १६०० के बीच प्रकाशित हुये। आगे चलकर विश्वविद्यालयों में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्बन्धी अनुसंधान कार्य इस प्रकार की समीक्षा को पूर्ण विकसित करने में सहायक सिद्ध हुये। आज भी प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'हिन्दी अनुशीलन', 'साहित्य सम्मेलन' से प्रकाशित 'सम्मेलन-पत्रिका' तथा 'सभा' से प्रकाशित 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' गवेषणात्मक आलोचना को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील हैं।

गम्भीर व्याख्यात्मक समीक्षा का प्रारम्भ पं० रामच
अभी तक कवि विशेष के प्रादुर्भाव काल की सामाजिक
पूर्व-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ एवं स्वयं उसकी आन्तरिक
में उसकी काव्य-कृतियों की समीक्षा की परम्परा हिन्दी-
यह पाश्चात्य आलोचना-प्रणाली व्याख्यात्मक आलोचना के
भारतीय आलोचना का स्वरूप बहुत कुछ गुण-दोषों के आ
करना था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने दोनों प्रणालियों में गु
किया। उनकी 'जायसी-ग्रंथावली' (१९२२) 'तुलसी-
(१९२३) तथा 'भ्रमरगीतसार' (१९२५) की भूमिका
'तुलसी' और 'सूर' सम्बन्धी समीक्षायें व्याख्यात्मक पद्धति
बाबू श्यामसुन्दरदास की आलोचना का स्वरूप भी व्याख्
उदार अधिक है, गहरी कम।

सैद्धान्तिक आलोचना के नाम पर अभी तक हिन्दी
मानदण्डों को लेकर चलनेवाले 'अलंकार' और 'रस' स
थे। पाश्चात्य समालोचना के आदर्श को सामने रखक
ने पोप के 'Essay on Criticism' का अनुवाद
प्रस्तुत किया। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने अपने
पाश्चात्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। अब साहि
देखते हुये, आवश्यकता इस बात की थी कि भारत
सिद्धान्तों के समन्वय के आधार पर हिन्दी की सैद्धा
नये साँचे में ढाला जाय। बाबू श्यामसुन्दरदास ने
लिखकर इस कमी को पूरा किया। पं० रामचन्द्र शु
समन्वय का बड़ा ही सूक्ष्म एवं सुन्दर रूप दृष्टिगत
असामयिक मृत्यु के कारण इस ग्रंथ को वह रूप न प्राप्त

हिन्दी-आलोचना का वर्तमा

वर्तमान हिन्दी-साहित्य में आलोचना की कई
उनके निम्नलिखित प्रकार माने जा सकते हैं—

(क) वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं अध्ययन।
(ख) व्याख्यात्मक समीक्षा।
(ग) स्वच्छन्दतावादी आलोचना।
(घ) मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा।

(छ) ऐतिहासिक आलोचना।
(ज) प्रभाववादी समीक्षा।
(झ) चरित मूलक समीक्षा।

वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं अध्ययन का सूत्रपात विश्वविद्यालयों में पी-एच० डी० और डी० लिट० के लिये प्रस्तुत होने वाले निबन्धों के साथ हुआ। 'हिन्दी काव्य में निर्गुणधारा', (पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल) 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास' (रामशंकर शुक्ल) 'तुलसीदर्शन' (बलदेवप्रसाद मिश्र) 'रामचरित-मानस में तुलसीदास की कला का विश्लेषण', (हरिहरनाथ हुक्कू) 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (इन्द्रनाथ मदान), 'तुलसीदास' (माताप्रसाद गुप्त), 'आधुनिक हिन्दी-काव्य-धारा' (डा० केशरीनारायण शुक्ल), 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका' (लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय), 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (श्रीकृष्णलाल), 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन' (डा० जगन्नाथ शर्मा), 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' (डा० दीनदयालुगुप्त), 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' (डा० भगीरथ मिश्र), 'आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन' (राकेश गुप्त), 'सूरदास' (ब्रजेश्वर वर्मा), 'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य' (पृथ्वीनाथ कुलश्रेष्ठ), चन्दबरदायी और उनका काव्य, (विपिनबिहारी त्रिवेदी) आदि अनेक आलोचनात्मक प्रबन्ध वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं अध्ययन पद्धति पर ही प्रस्तुत हुये हैं। इस अध्ययन-पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वयं लेखक तटस्थ रहकर आलोच्य विषय-सम्बन्धी समस्त सामग्री का वैज्ञानिक विश्लेषण करता है। उसका लक्ष्य तथ्यों का उद्घाटन रहता है। तर्कपूर्ण शैली में निश्चित मान्यताओं को सामने रखकर विचार करता हुआ वह सत्य के समीप पहुँचने की चेष्टा करता है। लेखक का वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तटस्थ व्यक्तित्व इस पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा की पूर्ण प्रतिष्ठा आचार्य शुक्ल से मानी जाती है। उनकी व्याख्यात्मक पद्धति भारतीय एवं पाश्चात्य समीक्षा-पद्धतियों के समन्वित आधार पर प्रस्तुत हुई है। शुक्लजी ने आलोचना की जिस आदर्श-पद्धति को अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में अपनाया था उसमें ऐतिहासिक अध्ययन, विवेचन एवं व्याख्या तथा तुलना एवं निर्णय इन सभी पद्धतियों को आधार रूप में ग्रहण किया गया था। वे आलोच्य कृति को तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते थे। उसके कलात्मक अंशों की सहृदयतापूर्ण विवेचना एवं व्याख्या करते थे। इस विवेचन को स्पष्ट करने के लिये जीवन से समानान्तर सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते थे। उत्कृष्टता स्पष्ट करने के लिये अन्य कृतियों से तुलना करते थे और अन्त में बड़ी ही तटस्थता दिखाते हुये निर्णय देते थे। आलोचना की यह पद्धति आज भी आदर्श रूप में स्वीकृत है। शुक्लजी के पश्चात्

के अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों का निर्माण कर सकती हैं, वे रचयिता के व्यक्तित्व पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव डाल सकती हैं और डालती भी हैं, पर इन स्वीकृतियों के साथ हम यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि काव्य और साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता है, उसकी स्वतन्त्र प्रक्रिया है और उसकी परीक्षा के स्वतन्त्र साधन हैं। काव्य तो मानव की उद्भावनात्मक या सर्जनात्मक शक्ति का परिणाम है। उसके उत्कर्ष-अपकर्ष का नियन्त्रण बाह्य स्थूल व्यापार या बाह्य बौद्धिक संस्कार और आदर्श थोड़ी ही मात्रा में कर सकते हैं।"[1]

वाजपेयीजी के अतिरिक्त प० शान्तिप्रिय द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पाण्डेय, पं० इलाचन्द्र जोशी, श्रीरामनाथ सुमन आदि समीक्षकों ने स्वच्छन्दतावादी आलोचना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा-पद्धति भी प्रचार पा रही है। समीक्षा की यह पद्धति पाश्चात्य प्रभाव के रूप में स्वीकृत एवं विकसित हुई है। फ्रायड और उनके शिष्य एडलर महोदय के मनोविश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार पर पाश्चात्य जगत में आलोचकों का एक बहुत बड़ा सम्प्रदाय, दमित वासनाओं की अनिवार्य अभिव्यक्ति को साहित्य की मूल प्रेरणा मानने लगा है। फ्रायड के अनुसार मानव की अनेक वासनायें धार्मिक, नैतिक, एवं सामाजिक प्रतिबन्धों के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती हैं। ये वासनायें उपचेतन मस्तिष्क में रहकर चेतन क्षेत्र में आने तथा अभिव्यक्त होने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं। कला और साहित्य में इन दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति सुन्दरतम रूप में सम्भव होती है क्योंकि यहाँ इनका उदात्तीकरण हो जाता है[2]। मानव के व्यक्तित्व निर्माण में उपचेतन मस्तिष्क की शक्तियाँ बहुत बड़ा प्रभाव डालती हैं, जब मनोविज्ञान के पंडितों ने इस सत्य का समर्थन काव्य और कला के आधार पर करना प्रारम्भ किया तो समीक्षा के क्षेत्र में भी 'मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा' के नाम से एक नवीन पद्धति उद्भावित हुई।

हिन्दी-साहित्य में डॉ० नगेन्द्र, प० इलाचन्द्रजी जोशी तथा श्री अज्ञेय ने मनोविश्लेषणात्मक समीक्षायें प्रस्तुत की हैं। श्री जोशी तथा अज्ञेयजी की रचनात्मक कृतियों पर भी इस मान्यता का बहुत बड़ा प्रभाव है। जोशीजी ने अपनी

१. हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी, भूमिका पृष्ठ ८

२. An unconcious mind where in lusk and moil, basic instinct of the race, also thwarted personal desires an inner censor that recognising society ban - on these impulses forcing their expression seeks to sublimate them in more allowable forms of expression (one of which is art).

उपज मान ली गई।[१] 'काडवेल' ने तो स्पष्ट शब्दों में काव्य का मूल आधार भी आर्थिक ही माना है। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पड़ता है कि कलाकार के व्यक्तित्व का निर्माण उन मान्यताओं एव परम्पराओं से भिन्न नहीं हो सकता जिनमें वह पला है। अर्थात् प्रत्येक कलाकार का व्यक्तित्व समाज के उस वर्ग-विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है जिसमें वह पला है। सामन्तशाही युग का कलाकार जाने-अनजाने सामन्तशाही विचारों का पोषण अवश्य करेगा। पूँजीवादी युग का कवि अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पूंजीवाद का समर्थन करता हुआ पाया जायगा। हो सकता है कि कभी उसकी चेतना सामाजिक कुरूपताओं एव विकृतियों से उद्वेलित होकर समसामयिक व्यवस्था का विरोध भी करे, किन्तु यह विरोध एक सीमा तक ही सम्भव हो सकेगा।

मार्क्सवादी विचारक इतिहास के साक्ष्य पर 'आदिम साम्यवाद' की परिणति 'दासप्रथा', दासप्रथा की परिणति 'सामन्तशाही', और सामन्तशाही की परिणति 'पूँजीवाद' में स्वीकार करता है। उसके अनुसार आज की पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली भी विकृत हो गई है और इसकी परिणति समाजवाद में होगी। पूंजीवाद के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग ही विनाशक तत्त्व है। इसी वर्ग का स्वाभिमान जागृत होकर पूँजीपति का विनाश करेगा। पूँजीवादी वर्ग प्रस्तुत अवस्थान (Thesis) है। सर्वहारा वर्ग प्रत्यवस्थान (Antithesis) है और इन दोनों के द्वन्द्व के पश्चात् साम्यवाद के रूप में साम्यावस्थान (Synthesis) की स्थिति अवश्यम्भावी है। अतएव आज के कवि को सर्वहारा वर्ग में प्राण फूंकने वाली कविता प्रस्तुत करनी चाहिये।

मार्क्सवादी समीक्षक जीवन एव काव्य की उपर्युक्त व्याख्या को स्वीकार करता हुआ कवियों का मूल्याकन करते समय यह देखना चाहता है कि कवि विशेष की कृति में किस वर्ग की हितचिन्तना निहित है। मार्क्सवादी समीक्षा को 'प्रगतिवादी' भी कहा जाता है। यह कदाचित् इसलिये कि मार्क्सवाद प्रतिक्रियात्मक या प्रतिगामी शक्तियों का विरोध और प्रगति एव विकासमूलक तत्त्वों का पोषण करता है।

हिन्दी के मार्क्सवादी या प्रगतिवादी आलोचकों में प्रमुख स्थान श्री शिवदान सिंह चौहान, डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त, डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, अचल एव नरेन्द्र को दिया जाता है। इन समीक्षकों के विषय में **डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र का निम्नलिखित कथन विचारणीय है—** "हिन्दी में प्रगतिवादी समालोचक अपनी प्रयोगात्मक आलोचना में अपेक्षाकृत अधिक रूढ़ और पूर्वग्रही हैं। वह बँधी हुई मार्क्सवादी विचारधारा का अपने आलोच्य

---

१. It is not the conciousness of men that determines their being but on the contrary, their social being that determines their conciousness.

(Karl Marx, Quoted by Stalin)

समीक्षा की भी एक परम्परा होती है और यह परम्परा देश-काल के अनुसार
अपना स्वरूप परिवर्तन करती रही है। युग विशेष की बाह्य परिस्थितियों के
परिधान को हटाकर यदि मानव की चित्तवृत्ति को देखा जाय तो उसके विकास में
एक परम्परागत क्रम अवश्य मिल जायगा। चित्तवृत्तियों की इस परम्परा का
साहित्य की परम्परा के साथ सामञ्जस्य दिखाना भी ऐतिहासिक समीक्षक का कार्य
है। वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यों का आकलन करते
समय तटस्थ रहता है किन्तु ऐतिहासिक समीक्षक पूर्णतः तटस्थ नहीं रहता।
इसी कारण दोनों समीक्षा पद्धतियों में विभेद हो जाता है। वर्तमान हिन्दी-
साहित्य में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं पं० परशुराम चतुर्वेदी दोनों ही ऐति-
हासिक समीक्षा के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। चतुर्वेदीजी में तटस्थता अधिक है
और इसलिये वे वैज्ञानिक अनुसन्धान शैली के निकट पहुँच जाते हैं। द्विवेदीजी तटस्थ
नहीं रह पाते साथ ही कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक भावुक भी हो जाते हैं और
उनकी संवेदनशीलता उभर आती है। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि सन्त-साहित्य
के इन दोनों मर्मज्ञों ने हिन्दी की ऐतिहासिक समीक्षा को बहुत आगे बढ़ाया है।

वर्तमान हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी (प्रभावाभिव्यञ्जक) समालोचना
भी प्रचलित है। प्रभाववादी समीक्षक साहित्यिक कृति के प्रति सहृदय की प्रति-
क्रिया को ही आलोचना मानता है[1]। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक के मनो-
भाव ही प्रधान हो जाते हैं वह आलोच्य विषय से दूर भी चला जाता है। कदाचित्
इसीलिये शुक्लजी इस प्रकार की समीक्षा को समीक्षा ही नहीं मानते। शुक्लजी
कुछ भी कहें, प्रभाववादी आलोचक को यह गर्व है कि वह कलाकृति से कला को
ही जन्म देता है। (Art Can find only its alter-ego in art) हिन्दी के
प्रभाववादी आलोचकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमुख हैं। पं० भगवतशरण उपाध्याय
ने गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' का विस्तृत अध्ययन इसी पद्धति पर प्रस्तुत किया
है। वे स्वयं कहते हैं 'नूरजहाँ के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव
पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल पड़ीं। मैं एक बात को स्पष्टतया कह
देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं प्रस्तुत सहानुभवी और
समानधर्मी का है।...मैं प्रभाववादी हूँ। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है
प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।"[2] छायावादी समीक्षकों में भी यत्र-तत्र प्रभावा-
भिव्यंजन का प्राधान्य हो गया है। स्वयं आचार्य शुक्ल तुलसी की आलोचना करते
समय कहीं-कहीं प्रभाववादी से हो गये हैं। यह होते हुये भी प्रभाववादी समीक्षा

१. "The first requisite of the critic is that he should be capable of receivinig Impressions, the second that he should be able to express import them."

२. हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास— पृष्ठ ५५१

के लिये हिन्दी का क्षेत्र सम्भवतः उपयुक्त नहीं सिद्ध हो रहा है और किसी भी समीक्षक को पूर्णतः प्रभाववादी पद्धति के अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता।

अँगरेजी समीक्षा के प्रभाव से हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में भी इधर कुछ चरितमूलक आलोचनायें (Biographical Criticism) देखी जाने लगी हैं। चरितमूलक आलोचना में उन कारणों और घटनाओं पर विचार होता है जिनसे कवि का स्वभाव और व्यक्तित्व विकसित होता है[1]। हिन्दी में पं० गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति की सुन्दर रचना है। कहीं-कहीं प्रसाद और महादेवी के व्यक्तिगत जीवन से उनकी कृति विशेष को भी सम्बद्ध किया गया है किन्तु हिन्दी में चरितमूलक समीक्षा का वस्तुतः अभाव ही है।

हिन्दी-साहित्य की वर्तमान आलोचना-पद्धतियों का उपर्युक्त वर्गीकरण सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। वस्तुतः किसी भी समीक्षक के लिये निश्चित रूप से यह कह देना कि वह अमुक समीक्षा-पद्धति से सम्बद्ध है, उचित नहीं कहा जा सकता। आज के समीक्षक का दृष्टिकोण अनेक प्रभावों की छाया में विकसित एवं पल्लवित हो रहा है। फलस्वरूप प्रत्येक समीक्षक एक से अधिक पद्धतियों का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है। एक ही आलोचक कहीं व्याख्यात्मक प्रणाली लेकर चलता है तो कहीं मनोविश्लेषण करने लगा है, कहीं उसे इतिहास का आधार लेना पड़ता है तो कहीं नैतिकता का अंचल पकड़ना पड़ता है, कहीं वह कवि की भावनाओं के साथ बहता हुआ प्रभाववादी बन जाता है तो कहीं कवि के जीवन एवं कृति में सामञ्जस्य ढूँढ़ने लगता है। हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि हिन्दी-समीक्षा आज अनेक रूपों में विकसित हो रही है और उपर्युक्त सभी पद्धतियों के दर्शन उसमें हो जाते हैं। किसी निश्चित मानदण्ड के अभाव में आलोचना का स्वरूप स्थिर नहीं हो रहा है। सम्भवतः जीवन की संक्रान्ति ने साहित्य-सृजन एवं समीक्षा-प्रस्तवन दोनों में गत्यवरोध उपस्थित कर दिया है।

हिन्दी-कहानियों का विकास

हिन्दी-कहानियों के उद्भव और विकास में भारत के प्राचीन-कथा-साहित्य, पाश्चात्य-कथा-साहित्य एवं लोक-कथा-साहित्य का सम्मिलित प्रभाव देखा जा सकता है। प्राचीन-कथा साहित्य में आधुनिक हिन्दी कहानी का लेशमात्र भी न पा सकने वाले विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि 'सरस्वती' के प्रकाशित होने के पहले ही गदाधर सिंह ने बाण रचित 'कादम्बरी' को एक बड़ी कहानी के रूप में अनुवादित किया था। आधुनिक कहानियों का प्रारम्भिक रूप इन अनु-

---

१. Biographical criticism may establish significant relations between the creator and his work, may indicate the genesis the driving force or the concious purpose of a work of art.
(Shipley, Dictionary of World Literatures, p. 139)

सीमाओं की भी एक परम्परा होती है और यह परम्परा देश-काल के अनुसार
अपना स्वरूप परिवर्तन करती रहती है। युग विशेष की बाह्य परिस्थितियों के
परिणाम को हटाकर यदि मानव की चित्तवृत्ति को देखा जाय तो उसके विकास
एक परम्परागत क्रम अवश्य मिल जायगा। चित्तवृत्तियों की इस परम्परा
साहित्य की परम्परा के साथ सामञ्जस्य दिखाना भी ऐतिहासिक समीक्षक का का
है। वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्त्ता साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यों का आकलन कर
समय तटस्थ रहता है किन्तु ऐतिहासिक समीक्षक पूर्णतः तटस्थ नहीं रहता
इसी कारण दोनों समीक्षा पद्धतियों में विभेद हो जाता है। वर्तमान हिन्
साहित्य में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं प० परशुराम चतुर्वेदी दोनों ही ऐ
हासिक समीक्षा के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं। चतुर्वेदीजी में तटस्थता अधि
और इसलिये वे वैज्ञानिक अनुसन्धान शैली के निकट पहुँच जाते हैं। द्विवेदीजी त
नहीं रह पाते साथ ही कहीं-कहीं आवश्यकता से अधिक भावुक भी हो जाते हैं
उनकी संवेदनशीलता उभर आती है। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि सन्त-सा
के इन दोनों मर्मज्ञों ने हिन्दी की ऐतिहासिक समीक्षा को बहुत आगे बढ़ाया

वर्तमान हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में प्रभाववादी (प्रभावाभिव्यंजक) समाले
भी प्रचलित है। प्रभाववादी समीक्षक साहित्यिक कृति के प्रति सहृदय की
क्रिया को ही आलोचना मानता है[1]। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक के
भाव ही प्रधान हो जाते हैं वह आलोच्य विषय से दूर भी चला जाता है। कद
इसीलिये शुक्लजी इस प्रकार की समीक्षा को समीक्षा ही नहीं मानते। शु...
कुछ भी कहें, प्रभाववादी आलोचक को यह गर्व है कि वह कलाकृति से कला को
ही जन्म देता है। (Art Can find only its alter-ego in art) हिन्दी के
प्रभाववादी आलोचकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रमुख हैं। पं० भगवतशरण उपाध्याय
ने गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' का विस्तृत अध्ययन इसी पद्धति पर प्रस्तुत किया
है। वे स्वयं कहते हैं 'नूरजहाँ के अध्ययन का मेरे ऊपर बड़ा मार्मिक प्रभाव
पड़ा। फलतः कुछ अनुकूल अन्तर्ग्रन्थियाँ खुल पड़ीं। मैं एक बात को स्पष्टतया कह
देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत प्रयास समालोचक का नहीं प्रत्युत सहानुभवी और
समानधर्मी का है।...मैं प्रभाववादी हूँ। जब अनुकूल प्रभाव का स्पर्श होता है
प्रभाववादी चुप नहीं बैठ सकता।"[2] छायावादी समीक्षकों में भी यत्र-तत्र प्रभावा-
भिव्यंजन का प्राधान्य हो गया है। स्वयं आचार्य शुक्ल तुलसी की आलोचना करते
समय कहीं-कहीं प्रभाववादी से हो गये हैं। यह होते हुये भी प्रभाववादी समीक्षा

१. "The first requisite of the critic is that he should be capable of receiving impressions, the second that he should be able to express and import them."

२. हिन्दी-आलोचना: उद्भव और विकास— पृष्ठ ५५१

के लिये हिन्दी का क्षेत्र सम्भवतः उपयुक्त नहीं सिद्ध हो रहा है और किसी भी समीक्षक को पूर्णतः प्रभाववादी पद्धति के अन्तर्गत सीमित नही किया जा सकता।

अँगरेजी समीक्षा के प्रभाव से हिन्दी-समालोचना के क्षेत्र में भी इधर कुछ चरितमूलक आलोचनायें (Biographical Criticism) देखी जाने लगी हैं। चरितमूलक आलोचना में उन कारणों और घटनाओं पर विचार होता है जिनसे कवि का स्वभाव और व्यक्तित्व विकसित होता है[1]। हिन्दी में प० गंगाप्रसाद पाण्डेय का 'महाप्राण निराला' इस पद्धति की सुन्दर रचना है। कहीं-कहीं प्रसाद और महादेवी के व्यक्तिगत जीवन से उनकी कृति विशेष को भी सम्बद्ध किया गया है किन्तु हिन्दी में चरितमूलक समीक्षा का वस्तुतः अभाव ही है।

हिन्दी-साहित्य की वर्तमान आलोचना-पद्धतियों का उपर्युक्त वर्गीकरण सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। वस्तुतः किसी भी समीक्षक के लिये निश्चित रूप से यह कह देना कि वह अमुक समीक्षा-पद्धति से सम्बद्ध है, उचित नहीं कहा जा सकता। आज के समीक्षक का दृष्टिकोण अनेक प्रभावों की छाया मे विकसित एवं पल्लवित हो रहा है। फलस्वरूप प्रत्येक समीक्षक एक से अधिक पद्धतियो का प्रयोग करता हुआ पाया जाता है। एक ही आलोचक कहीं व्याख्यात्मक प्रणाली लेकर चलता है तो कहीं मनोविश्लेषण करने लगा है, कहीं उसे इतिहास का आधार लेना पड़ता है तो कहीं नैतिकता का अचल पकडना पड़ता है, कही वह कवि की भावनाओं के साथ बहता हुआ प्रभाववादी बन जाता है तो कहीं कवि के जीवन एवं कृति में सामञ्जस्य ढूँढने लगता है। हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि हिन्दी-समीक्षा आज अनेक रूपों में विकसित हो रही है और उपर्युक्त सभी पद्धतियों के दर्शन उसमें हो जाते है। किसी निश्चित मानदण्ड के अभाव मे आलोचना का स्वरूप स्थिर नहीं हो रहा है। सम्भवतः जीवन की संक्रान्ति ने साहित्य-सृजन एवं समीक्षा-प्रस्तवन दोनों में गत्यवरोध उपस्थित कर दिया है।

हिन्दी-कहानियों का विकास

हिन्दी-कहानियों के उद्भव और विकास में भारत के प्राचीन-कथा-साहित्य, पाश्चात्य-कथा-साहित्य एवं लोक-कथा-साहित्य का सम्मिलित प्रभाव देखा जा सकता है। प्राचीन-कथा साहित्य में आधुनिक हिन्दी कहानी का लेशमात्र भी न पा सकने वाले विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि 'सरस्वती' के प्रकाशित होने के पहले ही गदाधर सिंह ने बाण रचित 'कादम्बरी' को एक बड़ी कहानी के रूप में अनुवादित किया था। आधुनिक कहानियों का प्रारम्भिक रूप इन अन-

1. Biographical criticism may establish significant relations between the creator and his work, may indicate the genesis the driving force or the concious purpose of a work of art.
(Shipley, Dictionary of World Literatures, p. 139)

[illegible] रूप से [illegible] हुआ।" यह सत्य है कि हिंदी की आधुनिक कहानियाँ [illegible] परम्पराओं से सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी विकास की दृष्टि से हिंदी कहानी [illegible] वैदिक युग के उपाख्यानों, ब्राह्मण ग्रन्थों, बौद्ध और जैन साहित्य, पौराणिक युग के उपाख्यानों, तथा संस्कृत युग के कथा-साहित्य—'बृहत्कथा', 'कथासरित्सागर', 'बेताल-पंचविंशतिका', 'शुकसप्तति', 'सिंहासनद्वात्रिंशिका', 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', 'कादम्बरी', 'वासवदत्ता', 'दशकुमारचरित'—के रूप में भारत का प्राचीन कथा-साहित्य बिखरा हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में अनेक छोटी-छोटी पद्यबद्ध कथाएँ उपलब्ध होती हैं। जैनों के साहित्य में 'इतिहास', 'कथा', 'प्रबंध' और 'चरित' आदि के रूप में कथा-साहित्य की सृष्टि की गई है। मध्ययुगीन हिंदी-साहित्य में एक ओर तो पद्यबद्ध प्रेमकथाओं—'मृगावती', 'पद्मावती', 'मधुमालती', 'चित्रावली', 'इन्द्रावती', 'पुहुपावती'—की सृष्टि हुई है और दूसरी ओर ब्रजभाषा-गद्य में वार्ता साहित्य—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'—रचा गया है। यह सारी सामग्री हिन्दी कहानीकारों को उत्तराधिकार में प्राप्त थी। उनकी कल्पना एवं विचारशक्ति निश्चय ही इस प्राचीन कथा-साहित्य से प्रभावित रही होगी।

भारत का प्राचीन कथा साहित्य

साहित्य के समानान्तर जनजीवन में भी कथाओं की विपुल सम्पत्ति मौखिक परम्पराओं में सुरक्षित रही है। लोकजीवन में प्रचलित ये कहानियाँ, प्रेम, उपदेश, हास्य एवं व्यंग्य तथा ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण अनेक रूपों में देखी जाती हैं। हिन्दी का कहानी-साहित्य इनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं माना जा सकता। हिन्दी कहानी-साहित्य पर इनके प्रभाव को स्पष्टतः स्वीकार करते हुये डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं—"इसी उद्गम-सूत्र से हिन्दी कहानियों की उत्पत्ति को सबसे अधिक प्रेरणा मिली और उस समय प्रायः समस्त हिन्दी कहानीकारों की पहली मौलिक रचनायें इन्हीं लोक कहानियों की प्रतिमायें थीं। उदाहरण स्वरूप, पहले हम 'सरस्वती' की आरम्भिक कहानियों को लेते हैं। लाला पार्वतीनन्दन की कहानियाँ 'प्रेम का फुआरा', 'भूतों वाली हवेली', 'जीवनाग्नि', 'नरक', 'गुलजार' आदि स्पष्ट रूप से इन्हीं लोक कहानियों की प्रेरणा शक्ति से लिखी गई हैं।"[१]

लोक-कथायें

पाश्चात्य साहित्य में कहानी कला का उद्भव सर्वप्रथम अमेरिका में एडगर एलन पो (१८०९-१८४९) द्वारा हुआ। अमेरिका के पश्चात् रूस में पुश्किन द्वारा सर्वप्रथम १८३० ई० में कहानी साहित्य का श्रीगणेश हुआ। फ्रांस में अमेरिका के उद्गम सूत्र से ही कहानी-कला का जन्म हुआ। अँगरेजी-साहित्य में कहानी

पाश्चात्य प्रभाव

---

१. हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, पृष्ठ ३०४

का उद्भव और विकास उपर्युक्त देशों की अपेक्षा देर में हुआ। रूस के प्रसिद्ध कहानीकार चेखव (१८६०–१९०४) की कला का उत्तराधिकार लेकर इंगलैंड में कैथराइन मैंसफील्ड (१८८८–१९२३ ई०) ने कहानी-कला का विकास किया। इस प्रकार इंगलैंड में उन्नीसवीं शती के अन्तिम दिनों में कहानी-साहित्य विकसित एवं लोकप्रिय हो सका। बीसवीं शती के प्रारम्भ में, जब हिन्दी-कहानी का उद्भव हो रहा था, हिन्दी-लेखकों के सामने केवल अँगरेजी-साहित्य था। और इसका कहानी-साहित्य भी हिन्दी-लेखकों के सामने केवल उतना ही था जितना शिक्षा-संस्थाओं में पाठ्यक्रम में निर्धारित था। उस समय की उच्च शिक्षा-केन्द्रों में निर्धारित कहानी-पुस्तकों में मैथेनियल हार्थोन की 'टैंगिलइड टेल्स', वाशिंगटन इरविंग की 'स्केच बुक', चार्ल्स किंग्स्ले की 'दी हीरोज़', चार्ल्स एन्ड मेरी लैम्ब्स की 'टेल्स फ्रॉम शेक्सपियर'। इनके अतिरिक्त सर वाल्टर स्काट, वाशिंगटन इरविंग और चार्ल्स डिकेन्स की क्रमशः 'दी टू डोवर्स', 'रिपवान विंकिल' और 'दी सेविन पुअर ट्रैवलर्स' आदि कहानियों का एक संग्रह भी 'सेलेक्टेड शार्ट स्टोरीज़' के नाम से प्रचलित था।[1] हिन्दी-कहानी के उद्भव काल में इन कहानी-पुस्तकों ने अवश्य प्रेरणा दी होगी। कम-से-कम 'टेल्स फ्रॉम शेक्सपियर' का प्रभाव तो निश्चित रूप से स्वीकार किया जायगा। इसी की प्रेरणा से हिन्दी-लेखकों द्वारा १९०० ई० के आस-पास शेक्सपियर के अनेक नाटकों के अनुवाद 'सरस्वती' में कहानी-रूप में प्रस्तुत किये गये। इसके पूर्व ईसाई मिशनरियों द्वारा 'प्रभु यीशु की कथा' (१८८३), 'केशवराम की कथा' (१८८१), 'यीशू विवरण' (१८८३), आदि छोटी-छोटी कहानियाँ हिन्दी में अनुवादित होकर प्रकाशित कराई गई थीं। 'माडर्न रिव्यू' में प्रकाशित होने वाली कहानियों से भी प्रारम्भिक हिन्दी कहानीकारों ने सामग्री ली थी। रूसी और फ्रांसीसी कहानियों का प्रभाव आगे चलकर विकास-युग की हिन्दी-कहानियों पर अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से पड़ा।

इस प्रकार जहाँ तक 'इतिवृत्त' का प्रश्न है, हिन्दी-कहानीकारों ने प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य, लोक-कथायें तथा पाश्चात्य-साहित्य इन तीनों से सामग्री ली। आगे चलकर 'प्रसाद' आदि कुछ कल्पनाशील कहानीकारों ने अवश्य कल्पना-प्रधान कहानियों की सृष्टि करके नवीन परम्परा का पोषण किया। शिल्प-विधि की दृष्टि से अवश्य ही हिन्दी-कहानी प्राचीन भारतीय कथा-साहित्य एवं लोक-कथा-साहित्य से अपने को पृथक् कर लेती है। और आज जब हम हिन्दी-कहानी को स्वतन्त्र रूप में विकसित गद्य की एक विधा के रूप में स्वीकार करते हैं तो निश्चय ही हमारा ध्यान 'कला' और 'शिल्प' की ओर ही अधिक रहता है।

---

१. English Influence on Hindi Language & Literature. by Dr. Vishwanath Mishra, Chapter ४.

हिन्दी-कहानियों का आरम्भ सभी इतिहासकारों ने एक
के प्रकाशन से ही स्वीकार किया है। 'सरस्वती' प्रकाशन
वर्षों में हिन्दी-कहानी की स्वरूप-रचना हो
रचना में कई प्रकार के प्रयोग किये जा रहे
में—शेक्सपियर के नाटकों के इतिवृत्त
वर्णनात्मक शैली में लिखी गई कहानियाँ,[1]

प्रारम्भिक हिन्दी कहानियाँ

रूप में उपस्थित कहानियाँ,[2] सुदूर देश के काल्पनिक चरित्रों
गई संवेदनात्मक कहानियाँ,[3] काल्पनिक यात्रा-वर्णन की कहानियाँ,[4]
प्रसूत कहानियाँ,[5] संस्कृत नाटकों की आख्यायिकायें,[6] घटना-प्र
संवेदनात्मक कहानियाँ[7]—प्रमुख हैं।

उपर्युक्त प्रयोगों के विषय में डा० लक्ष्मीनारायण लाल का
विचारणीय है—'यहाँ यह भी स्पष्ट है कि इन समस्त प्रयोगों से
कहानी शिल्पविधि की दृष्टि से हिन्दी की मौलिक कहानी नहीं
क्योंकि इन कहानियों में से कुछ भावपक्ष की दृष्टि से छायानुवाद
हैं और शेष कलापक्ष की दृष्टि से कहानी नहीं हैं, लेकिन यह
इन प्रयोगात्मक कहानियों में से प्रायः अधिक कहानियाँ अपने
अवश्यमेव प्रेरित हैं। यही कारण है कि वस्तुतः इन्हीं की प्रेर
शक्ति के फलस्वरूप शीघ्र ही 'सरस्वती' के तीसरे ही वर्ष मौलिक हि
आरम्भ हुआ। शिल्पविधि की दृष्टि से प्रथम हिन्दी की मौलिक कहा
शुक्ल कृत 'ग्यारह वर्ष का समय'[8]। आगे चलकर हिन्दी की अन्य मौ
की सृष्टि होती है, साथ ही बँगला-अँगरेजी आदि से अनुवाद भी

१९०६ ई० की 'सरस्वती' से हिन्दी-मौलिक कहानियों में विक
होता है। इस वर्ष पं० वेंकटेशनारायण कृत 'एक अशरफी की
लाला पार्वतीनन्दन कृत 'एक के दो दो', पं० सूर्यनारायण दीक्षित कृत
अद्भुत आख्यान' आदि कई मौलिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। स

---

१. किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' 'सरस्वती', भाग १, सं
२. केशवप्रसाद सिंह का 'आपत्तियों का पहाड़'।
३. गिरिजादत्त बाजपेयी कृत 'पति का पवित्र प्रेम'।
४. केशवप्रसाद सिंह कृत 'चन्द्रलोक की यात्रा' 'सरस्वती' भाग १,
५. कार्तिकप्रसाद खत्री की 'दामोदरराव की आत्म-कहानी' भाग
६. पं० जगन्नाथप्रसाद त्रिपाठी कृत 'रत्नावली' की आख्यायिका 'सरस
संख्या १।
७. पार्वतीनन्दनकृत 'प्रेम का फुआरा' 'सरस्वती' भाग २, संख्या ५

'सरस्वती' में बंगमहिला कृत 'दुलाई वाली' कहानी सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी गई है। कुछ आलोचकों ने इसे ही हिन्दी की आदि मौलिक कहानी के रूप में स्वीकार किया है। नवें और दसवें वर्ष की 'सरस्वती' में क्रमशः श्री वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखीबन्द भाई' तथा 'तातार और एक वीर राजपूत' कहानियाँ अधिक प्रसिद्ध हुईं।

१६०६ ई० में काशी से 'इन्दु' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ और इसी के माध्यम से 'प्रसाद' का कहानी-साहित्य में प्रवेश हुआ। 'प्रसाद' की प्रारम्भिक महत्वपूर्ण कहानियाँ—'ग्राम', 'चन्दा', 'गुल्लाम', 'चित्तौर-उद्धार' आदि 'इन्दु' के प्रारम्भिक वर्षों में ही प्रकाशित हुईं। पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की प्रथम मौलिक कहानी 'विदीर्ण हृदय' भी 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुई थी। 'इन्दु' ने कहानी क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य बँगला कहानियों के अनुवादों द्वारा किया। बँगला के प्रसिद्ध पत्र 'प्रवासी' से अनेक कहानियों का अनुवाद प० पारसनाथ त्रिपाठी ने 'इन्दु' में प्रस्तुत किया। हिन्दी-कहानी के विकास में 'प्रवासी' का प्रभाव ऐतिहासिक महत्व रखता है।

सन् १६१८ ई० में काशी से 'हिन्दी गल्पमाला' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। इस पत्र ने कहानियों के कलात्मक विकास में बड़ा योग दिया। इसके प्रथम भाग के द्वितीय अंक में श्री जी० पी० श्रीवास्तव की 'मैं न बोलूंगी' कहानी प्रकाशित हुई। शैली की दृष्टि से यह उत्तम पुरुष की शैली में लिखी गई है। कथानक की दृष्टि से यह मनोवैज्ञानिक है। इसी पत्रिका के दूसरे वर्ग के आठवें अंक में इलाचन्द्र जोशी की 'सजनवाँ' नामक प्रथम कहानी प्रकाशित हुई। इस कहानी से मनोवैज्ञानिक कहानियों के विकास की दिशा स्पष्ट हो-गई। आगे चलकर प्रसादजी की कहानियाँ नियमित रूप से इसमें प्रकाशित होने लगीं। 'पत्थर की पुकार', 'करुणा की विजय', 'उस पार का योगी', 'खंडहर की लिपि', 'प्रतिमा', 'पाप की पराजय', और 'दुखिया' आदि कहानियाँ गल्पमाला के बाद के अंकों की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं[1]।

कहानियों का विकास—हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियों में कथानक का विकास आकस्मिक एवं दैवी घटनाओं पर निर्भर करता था। विकास-युग में यह कथा-विकास चरित्रों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं द्वारा होने लगा। मनोवैज्ञानिक कथानकों का सूत्रपात प्रेमचन्द की प्रथम कहानी 'पंच परमेश्वर' से होता है। यह 'सरस्वती' में जून १६१६ में प्रकाशित हुई थी। आगे चलकर 'हिन्दी गल्पमाला' के प्रकाशन से इस प्रकार की कहानियों को विशेष प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार विकास-युग के प्रथम चरण में 'सरस्वती' के माध्यम से चन्द्रधर शर्मा

---

१ हिन्दी कहानियों की शिल्प-विधि का विकास, पृष्ठ ६८।

गुलेरी और प्रेमचन्द, 'इन्दु' के माध्यम से 'प्रसाद' तथा 'हिन्दी गल्पमाला' के माध्यम से जी० पी० श्रीवास्तव तथा इलाचन्द्र जोशी आदि प्रमुख कहानी लेखक सामने आये। सन् १९२५ ई० तक हिन्दी-कहानियों की दो स्पष्ट धाराएँ परिलक्षित होने लगीं। प्रथम धारा यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पर्श करती हुई विकसित हुई। इस धारा के अन्तर्गत प्रेमचन्द, सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा तथा चन्द्रधर शर्मा गुलेरी प्रमुख हैं। दूसरी धारा आदर्श प्रधान प्रवृत्ति से प्रेरित होकर आगे बढ़ी। इस धारा के अन्तर्गत जयशंकर 'प्रसाद,' चंडीप्रसाद 'हृदयेश' तथा राधिकारमण सिंह प्रमुख हैं।

सन् १९३० ई० तक प्रेमचन्द कथा-साहित्य के सम्राट् रूप में प्रतिष्ठित हुये। इस अवधि तक हिन्दी-कहानियों के अनेक रूप सामने आये। आलोचकों के अनुसार इन कहानियों के मुख्य प्रकार निम्नलिखित थे—

(क) चरित्र-प्रधान कहानियाँ
(ख) वातावरण-प्रधान कहानियाँ
(ग) कथानक-प्रधान कहानियाँ
(घ) कार्य-प्रधान कहानियाँ
(ङ) विविध कहानियाँ

चरित्र-प्रधान कहानियों में लेखक का प्रमुख लक्ष्य किसी चरित्र का गुण चित्रण होता है। कहानी की छोटी सीमा में चरित्र के किसी एक अंग को। कुशलता से चित्रित किया जाता है कि सारा चरित्र स्पष्ट हो जाय। चरित्र प्रधान कहानियों के सर्वश्रेष्ठ कलाकार प्रेमचन्द माने गये हैं। उनकी 'आत्माराम' 'बड़े घर की बेटी' 'बाँका गुमान', 'दफ्तरी', 'बूढ़ी काकी', 'सारंधा', 'मुक्ति-मा' 'अग्नि समाधि', आदि अनेक कहानियाँ चरित्र-प्रधान हैं।

वातावरण-प्रधान कहानी का उद्देश्य जीवन की किसी एक प्रमुख भावना। कथानक के विकास का मूलकारण बनाकर कहानी का विकास करना है। मुख्य भावना को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि भी लेखक को करनी पड़ती है। हिन्दी में वातावरण प्रधान कहानी लेखकों में 'प्रसाद', 'सुदर्शन' तथा गोविन्दवल्लभ पन्त प्रमुख हैं। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' तथा राधिकारमण सिंह ने भी अनेक वातावरण-प्रधान कहानियाँ लिखी हैं। 'प्रसाद' की 'आकाश दीप', 'प्रतिध्वनि', 'विसाती', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'हिमालय पथिक', 'समुद्र सन्तरण' आदि उच्च कोटि की वातावरण-प्रधान कहानियाँ मानी गई हैं।

कथानक-प्रधान कहानियों में चरित्रों और परिस्थितियों के सम्बन्ध पर अधिक बल देते हैं। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', ज्वालादत्त शर्मा तथा सुदर्शन

पुन्नालाल बख्शी कथानक-प्रधान कहानियाँ लिखने में सिद्धहस्त माने गये हैं। कला की दृष्टि से ये कहानियाँ अधिक उच्च नहीं मानी जाती।

कार्य-प्रधान कहानियों में लेखक की दृष्टि कार्य पर ही आदि से अन्त तक लगी रहती है। गोपालराम गहमरी की जासूसी कहानियाँ तथा दुर्गाप्रसाद खत्री की वैज्ञानिक कहानियाँ इसी कोटि की हैं। मथुराप्रसाद खत्री की 'शिखंडी' कहानी भी कार्य-प्रधान ही मानी गई है।

उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त जी० पी० श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानंद, बेढब बनारसी, उपेन्द्रनाथ अश्क, कान्तानाथ पाण्डेय, 'चोंच' की हास्य एवं व्यंग-प्रधान कहानियाँ वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री और 'प्रसाद' की ऐतिहासिक कहानियाँ बेचन शर्मा 'उग्र' की प्राकृतवादी (Naturalistic) कहानियाँ तथा राय कृष्णदास की प्रतीकवादी कहानियाँ भी ऐतिहासिक महत्व रखती हैं।

हिन्दी में उपर्युक्त कहानी-प्रकारों के विकास के साथ ही शैली-रूपों में भी विकास हुआ। धीरे-धीरे कहानी की प्रमुख पाँच शैलियाँ प्रचलित हुईं। सर्वाधिक प्रचलित वर्णनात्मक शैली है। इस शैली में स्वयं लेखक सम्पूर्ण कहानी सुना जाता है। दूसरी शैली, जिसका प्रचलन अपेक्षाकृत कम है, संलाप-शैली है। इसमें कथा और चरित्र दोनों का विकास वार्तालाप के सहारे किया जाता है। आत्म-चरित-शैली में भी कहानियाँ लिखी गई हैं। इसमें लेखक अपने को उत्तम पुरुष में रखकर सम्पूर्ण कहानी प्रस्तुत करता है। इनके अतिरिक्त पत्रशैली तथा डायरी-शैली में भी कहानियाँ रची गई हैं। किन्तु इस शैली में लिखी गई कहानियाँ अभी बहुत कम हैं।

प्रेमचन्द के निधन (१९३६) के समय तक हिन्दी-कहानियों की नई दिशा स्पष्ट होने लगी थी। प्रेमचन्द सुधारवादी युग के कलाकार थे, फलतः उनकी कृतियों में अन्त तक आदर्शवाद के प्रति मोह बना रहा। यथार्थ समस्याओं को लेकर भी उनका समाधान वे आदर्शवादी दृष्टिकोण से ही देते रहे। सुधार-वादी युग के पश्चात् संघर्ष एवं संक्रान्तियुग सामने आया। कहानियों में मध्यवर्ग की समस्यायें उठाई जाने लगीं। कला का झुकाव आदर्शवादी परम्परा से आगे बढ़कर यथार्थ एवं वैज्ञानिक यथार्थवाद की ओर उन्मुख हुआ। इन नवीन संवेदनों एवं सत्यों को लेकर कहानी क्षेत्र में नये कथाकार आगे बढ़े। प्रेमचन्द युग में ही प्रसिद्धि-प्राप्त लेखकों में जैनेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा तथा भगवतीप्रसाद वाजपेयी अपने पुराने विश्वासों को लेकर चलते रहे। शैली के क्षेत्र में इन लेखकों ने अवश्य आगे बढ़कर मनोविश्लेषणात्मकता लाने का सफल प्रयत्न किया। जीवन की संक्रान्ति ने कला के क्षेत्र में भी संक्रान्ति या अवरोध की स्थिति पैदा कर दी। परिणामस्वरूप कहानी के क्षेत्र में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हुईं। एक वर्ग ने प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना वाली परम्परा को आगे बढ़ाया। जीवन के संघर्षों

एवं समस्याओं को कहानी के माध्यम से प्रत्यक्ष किया और दूसरे वर्ग ने सामाजिक चेतना से कतराकर मनोवैज्ञानिक एवं बौद्धिक विश्लेषणों में जीवन के असन्तोष को मुखरित करने की चेष्टा की। श्री इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय इसी श्रेणी के कलाकार हैं। अज्ञेय जी ने मनोविश्लेषण की शैली को काफी विश्वास से आगे बढ़ाया है। 'पहाड़ी', 'अश्क', शम्भूनाथ सिंह तथा धर्मवीर भारती की कहानियों में रोमानी प्रवृत्ति के संस्पर्श के कारण जीवन के संघर्ष सजग होकर उपस्थित नहीं हुये हैं। इनके अतिरिक्त नये लेखकों का एक बहुत बड़ा दल नवयुग की चेतना के साथ आगे बढ़ने में अशक्त रहा है। श्रीराम शर्मा, देवीदयाल चतुर्वेदी, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, आरसीप्रसाद सिंह, बलवन्त सिंह, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र, छेदीलाल गुप्त आदि अनेक कहानी-लेखक विकास की दिशा पहचानने में असमर्थ रहे हैं।

नई चेतना को पूर्ण विश्वास के साथ अपनानेवाले कलाकारों में यशपाल अग्रणी हैं। सामाजिक दुर्बलताओं को पहचानने तथा उनपर चोट करने की आपकी क्षमता अद्भुत है। यशपाल की परम्परा में आनेवाले तरुण कहानी-कारों का एक अच्छा दल है। इसमें 'अमर', चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, राधाकृष्ण, विष्णु प्रभाकर, रहबर, भगवतशरण, रांगेय राघव, अमृतराय, गंगाप्रसाद मिश्र, मोहनसिंह सेंगर, प्रभाकर माचवे, त्रिलोचन, नरेन्द्र शर्मा, अमृतलाल नागर प्रधान हैं। इनके बाद एक पीढ़ी और बन गई है जिसमें तेजबहादुर चौधरी, [illegible] मिश्र, कृष्णा सोबती, ओंकार 'शरद', सावित्री निगम, शोभाचन्द्र जोशी, गिरीश अस्थाना, हर्षनाथ, भीष्मसाहिनी आदि उल्लेखनीय हैं।[1]

अपना निजी व्यक्तित्व रखनेवाले कलाकारों में श्री राहुल सांकृत्यायन तथा भगवतशरण ने ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी हैं। राहुलजी ने इतिहास को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। रामवृक्ष बेनीपुरी तथा नलिनविलोचन शर्मा ने भी सुन्दर कहानियाँ प्रस्तुत की हैं। श्री सुमित्रानन्दन पंत ने भी इधर कुछ अनुभूतिपूर्ण कहानियों की सृष्टि की है।

प्रेमचन्द के युग से लेकर अब तक के सम्पूर्ण कहानी-साहित्य के क्रम विकास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो स्पष्ट हुये विकास की कई स्थितियों के दर्शन होंगे।

विकास की प्रथम स्थिति में कहानी कथानक-प्रधान थी। कहानीकार सामान्य रूप से उसका विकास उपस्थित करता था।

विकास की दूसरी स्थिति में वर्णनों की अधिकता दृष्टिगत होती है और कथानक क्रमशः हल्का होने लगा है।

विकास की तीसरी स्थिति में कथानक और भी कम हो गया है और उसका स्थान रूपदर्शन, दृष्टिदर्शन, चरित्रदर्शन, मनोवैज्ञानिक चित्रण या मनोविश्लेषण

---

१. [illegible] की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ १२।

ने ले लिया है। भाषा अलंकृत हो गई है और उसमें प्रयोग-वक्रता के दर्शन होने लगे हैं।

विकास की चौथी स्थिति में कथानक नाममात्र को रह गया है। साथ ही मानव-जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य समस्याओं का सूक्ष्म बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

सब मिलाकर हिन्दी में कहानी-साहित्य का विकास आशाप्रद माना जा सकता है।

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का विकास

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का श्रीगणेश हिन्दीगद्य के अभ्युदय के साथ ही माना जाना चाहिये। गद्य के आविर्भाव के साथ उपन्यासों के श्रीगणेश का यह तात्पर्य नहीं है कि इस अभ्युदयकालीन उपन्यासों में कलात्मकता तथा साहित्यिक सौंदर्य भी है। वस्तुतः इस समय कुछ संस्कृत की पौराणिक एवं धार्मिक कथायें, कुछ उर्दू-फारसी के प्रसिद्ध आख्यान और कुछ जनता में प्रचलित सस्ती किस्म की लम्बी कहानियाँ, उपन्यासों का काम दे रही थी।[1] डॉ० वार्ष्णेय के अनुसार इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' (१८००–३) लल्लूलाल कृत 'सिंहासन बत्तीसी' (१८०१) 'बैताल पच्चीसी' (१८०१), 'माधवानल काम कन्दला', (१८०१) 'शकुन्तला' (१८०१) और 'प्रेमसागर' (१८०३–९) और सदल मिश्र कृत 'नासिकेतोपाख्यान' (१८०३) आदि में कथा-साहित्य का आभास मात्र मिलता है। इनमें उपन्यास-कला का सर्वथा अभाव है।

सर्वप्रथम भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक उपन्यासों की ओर ध्यान दिया। बाबू राधाकृष्ण दास के अनुसार भारतेंदु कृत आख्यायिका और उपन्यास निम्नलिखित हैं। 'रामलीला' (गद्य-पद्य), 'हमीरहठ' (असम्पूर्ण अप्रकाशित), 'राजसिंह' (अपूर्ण), 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' (अपूर्ण), 'सुलोचना', 'मदालसोपाख्यान', 'शीलवती' और 'सावित्री-चरित्र'। इनमें 'सुलोचना' और 'सावित्री चरित्र' के विषय में स्वयं बाबू राधाकृष्ण दास को सन्देह है। खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर द्वारा प्रकाशित 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' (१८८९) में उसे 'भारतभूषण भारतेंदु श्री हरिश्चन्द्र लिखित' माना गया है। बाबू राधाकृष्णदास ने इसे सम्पादित, संगृहीत वा उत्साह देकर बनवाये ग्रन्थों में रखा है। जो भी हो इन कृतियों में 'रामलीला' गद्य-पद्य मिश्रित सीधी-सादी रामकथा है। इसे उपन्यास नहीं कहा जा सकता। 'कुछ आप बीती कुछ

---

१. 'शुक बहत्तरी', 'सारंगा सदावृज', 'किस्सा तोता मैना', 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'चहार दर्वेश', 'बागो बहार', 'किस्सा हातिमताई', 'दास्तान-इ-अमीर हमज़ा', 'तिलस्म-इ-होशरुबा', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी' आदि कृतियाँ जनता में प्रचलित थीं।

जग बीती' उपन्यास से अधिक संस्मरण है। 'राजसिंह' में सीसोदिया कुल के अन्तिम राणा राजसिंह की वीरता का वर्णन है। 'मदालसोपाख्यान' एक पौराणिक कथा है। 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' एक सामाजिक उपन्यास है जो मराठी से अनुवादित है। इसने तत्कालीन सुधारवादी लेखकों को पर्याप्त प्रेरणा दी थी।

भारतेंदु के नेतृत्व में उपन्यास क्षेत्र में अनेक कलाकारों ने प्रवेश किया। किशोरी लाल गोस्वामी, हनुमन्तसिंह, देवीप्रसाद शर्मा, श्रीनिवासदास राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट कार्तिकप्रसाद खत्री, गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री, गोकुलनाथ शर्मा, राधाकृष्णदास आदि अनेक उपन्यास-लेखक सामने आये। इन सभी उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है। नाटक-साहित्य के उत्थान में जो स्थान भारतेंदु का है वही स्थान उपन्यास साहित्य में किशोरीलाल गोस्वामी का है।

पंडित किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा रचित उपन्यासों में—'त्रिवेणी', 'स्वर्गीय कुसुम', 'हृदयहारिणी', 'लवंगलता', 'सुखशर्वरी', 'चपला', 'लखनऊ की कब्र', 'तारा', 'रजिया बेगम', 'मल्लिका देवी', 'आदर्श सती', 'राजकुमारी', 'यमज सहोदरा', 'कटे मूड की दो-दो बातें', 'कनक कुसुम', 'सौतिया डाह', 'प्रेममयी', 'गुलबहार बहार', 'इन्दुमती', 'लावण्यमयी', 'प्रणयिनी परिचय' 'जिन्दे की लाश', 'चन्द्रावली' 'चन्द्रिका', 'हीराबाई' प्रसिद्ध है।[1] इस प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक, ऐतिहासिक तथा ऐयारी सम्बन्धी तीनों प्रकार के उपन्यासों की रचना की। वस्तुतः आपकी सबसे बड़ी विशेषता राष्ट्रीय भावना का प्रचार तथा सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न है। ऐतिहासिक उपन्यासों में आप अधिक सफल नहीं हुये हैं। हनुमन्त सिंह ने भी अपने उपन्यासों में सामाजिक चित्रण किया है। लाला श्री निवासदास का 'परीक्षा-गुरु' उपन्यास प्रसिद्ध है। स्वयं लेखक के शब्दों में 'अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी'। इसके लिखने में लेखक को "महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तां वगैरह फारसी, स्पक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखो और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों से बड़ी सहायता मिली है।"[2] लाला श्रीनिवास का जीवन अनुभव बड़ा ही गहरा था और अध्ययन भी उतना ही गम्भीर। फलस्वरूप उनका उपन्यास नैतिक उपदेशों के भार से दब गया है और उपन्यास-कला पीछे रह गई है। गोपालराम गहमरी, कार्तिक प्रसाद खत्री, तथा बालकृष्णभट्ट ने भी क्रमशः 'बड़ा भाई,' 'सास-पतोहू,' 'दीनानाथ' तथा 'सौ अजान और एक सुजान' और 'नूतन ब्रह्मचारी' में नैतिकतापूर्ण एवं शिक्षाप्रद दृष्टिकोण रखा।

---

१. हिन्दी उपन्यास—पृष्ठ ७७।
२. परीक्षा-गुरु की भूमिका।

देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र-मोहिनी' 'कुसुमकुमारी,' 'वीरेन्द्र वीर' आदि कई उपन्यास लिखे। ये सभी उपन्यास तिलस्मी हैं। इनमें ऐयारों के अद्भुत वीरतापूर्ण करिश्मों का वर्णन किया गया है। इन उपन्यासों की प्रेरणा के सम्बन्ध में प्रेमचन्दजी का अनुमान है कि खत्रीजी ने तिलिस्म-इ-होशरुबा से प्रेरणा लेकर इन उपन्यासों की सृष्टि की है। कुछ आलोचकों के अनुसार भावना और शैली दोनों ही दृष्टियों से ये उपन्यास चारण-काव्यों के अनुगामी जान पड़ते हैं। और चन्द्रकान्ता की तुलना तो लोकप्रिय चारणकाव्य आल्हखण्ड से की जा सकती है। खत्रीजी के उपन्यासों में वासनापूर्ण चित्रण नहीं मिलते। तिलस्म और ऐयारी का सिलसिला प्रारम्भ से अन्त तक बड़े ही कौशल से पूरा किया गया है। कथानकों में शैथिल्य नहीं है।

बाबू गोपालराम गहमरी जासूसी उपन्यासों की रचना में भी संलग्न हुये। ये उपन्यास निश्चय ही अँग्रेजी साहित्य के प्रभाव के प्रतिफल हैं। स्काटलेंड यार्ड की पुलिस और जासूस बड़े ही सतर्क थे। उनकी बुद्धि-चातुरी को लेकर इंगलैंड में जासूसी उपन्यासों की भरमार हो गई थी। गहमरीजी के जासूसी उपन्यासों ने जनता का खूब मनोरंजन किया।

इस युग में अनुवादों की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया। सबसे अधिक अनुवाद बँगला से हुआ। भारतेन्दु ने 'राजसिंह' (बङ्किम कृत), राधाकृष्णदास ने 'स्वर्णलता', 'पतिप्राणा अबला' (तारकचन्द्र गंगोली कृत), 'राधारानी' (बङ्किम कृत), **गदाधरसिंह** ने 'दुर्गेश नन्दिनी' (बङ्किम कृत), 'बङ्गविजेता' (रमेशचन्द्र दत्त कृत), **किशोरीलाल गोस्वामी** ने 'प्रेममयी' और 'लावण्यमयी', **राधाचरण गोस्वामी** ने 'दीप निर्वाण' और 'विरजा' (श्रीमती स्वर्णकुमारी घोषाल कृत), **प्रताप-नारायण मिश्र** ने 'युगुलाङ्गुलीय' और 'कपाल कुण्डला' (बङ्किमकृत), अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'कृष्णकान्त का दानपत्र' और 'राधारानी' और कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'कुलटा' तथा 'मधुमालती' का अनुवाद प्रस्तुत किया।

बँगला के अतिरिक्त संस्कृत, उर्दू, अँगरेजी और मराठी से भी अनुवाद किये गये।

उपर्युक्त समस्त उपन्यास-साहित्य को चार प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

प्रमुख वर्ग

(क) सामाजिक उपन्यास—इनमें सामाजिक सुधार, नैतिक आदर्श तथा प्राचीन रूढ़ियों पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष व्यंग की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। साथ ही प्रेम और शौर्य के उदाहरण भी मिलते हैं।

(ख) नैतिक और शिक्षाप्रद—इन उपन्यासों में पाप और पुण्य का संघर्ष, पारिवारिक सदस्यों के आदर्श सम्बन्ध तथा नीति एवं ज्ञान सम्बन्धी अनेक विषय समन्वित हैं। ऐसा करते समय प्रायः संस्कृत के नैतिक एवं धार्मिक कथा-साहित्य का आधार लिया गया है।

(ग) तिलस्मी और जासूसी उपन्यास—इनमें घटनाओं का प्राधान्य, प्रेम और शौर्य का प्रदर्शन, तथा सामान्य जीवन से हटकर रहस्यमय कार्नातिक कथानक प्रस्तुत किया गया है। तिलस्मी उपन्यासों में घटनायें एक दूसरे से असम्बद्ध होती हैं और उनमें नायक द्वारा सम्बन्ध स्थापित कराया जाता है। जासूसी उपन्यासों में पूर्वापर सम्बन्ध होता है। प्रत्येक घटना एक निश्चित क्रम से आती है।

(घ) ऐतिहासिक उपन्यास—हिन्दी में इस युग में ऐतिहासिक उपन्यास कम लिखे गये। यह कमी बँगला के अनुवादों से पूर्ण की गई। इन उपन्यासों का उद्देश्य राष्ट्रप्रेम की भावना को जाग्रत करना था।

सामान्य विशेषतायें

इस युग के उपन्यासों की कुछ सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित रूप में लक्ष्य की जा सकती हैं—

१—नैतिक और शिक्षाप्रद उपन्यासों को छोड़कर शेष सभी में प्रेम व्यापार का प्राधान्य है।

२—शैली की दृष्टि से प्रायः सभी वर्णनात्मक हैं। लेखक पाठकों का ध्यान न रखकर प्राकृतिक दृश्यों, घटनाओं, पात्रों, तथा वातावरण आदि का विस्तृत वर्णन करता चला गया है।

(३) उपन्यासों में कथोपकथन का प्रयोग बहुत कम हुआ है।

भाषा की दृष्टि से इन उपन्यासों के तीन रूप मिलते हैं। (क) ऐसे उपन्यास जिनकी भाषा सरल हिन्दी है किन्तु वह संस्कृत से प्रभावित है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, किशोरीलाल गोस्वामी आदि की भाषा इसी कोटि की है।

भाषा

दूसरे ऐसे उपन्यास हैं। जिनमें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग [illegible] देवीप्रसाद शर्मा तथा [illegible] के उपन्यासों में [illegible] किया गया है। [illegible] इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त हुई है। [illegible] गोस्वामी आदि [illegible] के उपन्यास हैं जिनमें साधारण जीवन में प्रयुक्त [illegible] भाषा का प्रयोग किया गया है। देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास [illegible] [illegible] में लिखे गये हैं।

विकास युग—भारतेन्दु युग की समाप्ति और बीसवीं शती के प्रारम्भ में ही [illegible] हिन्दी-उपन्यासों की दिशा में बहुत बड़ा परिवर्तन उपस्थित हुआ। [illegible] [illegible] विकास हुआ। उपन्यास जीवन के [illegible] [illegible] [illegible] हुई। [illegible] [illegible] [illegible] और वह नव युग प्रेमचन्द के आगमन [illegible] के रूप।

प्रेमचन्द के समसामयिक अनेक कलाकारों ने उपन्यास के क्षेत्र में पदार्पण किया। जयशंकर 'प्रसाद', विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', चंडीप्रसाद 'हृदयेश', चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र, ऋषभचरण जैन, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, सियारामशरण गुप्त, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमण प्रसाद सिंह, श्रीनाथ सिंह, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवतीप्रसाद वाजपेयी, व्रजनन्दन सहाय, यदुनन्दन प्रसाद, अवध-नारायण, जगदीश झा 'विमल', शिवनारायण द्विवेदी, आदि अनेक उपन्यास-लेखकों ने हिन्दी-उपन्यास-साहित्य की बहुमुखी प्रगति में योग दिया।

१९१६ ई० से लेकर १९३० ई० तक उपन्यास-कला विकास के दो सोपान पार कर गई। १९१६ से पहले के अधिकांश उपन्यास **घटना-प्रधान** थे। इसके पश्चात् प्रेमचन्द के साथ **चरित्र-प्रधान** उपन्यासों का श्रीगणेश हुआ तथा आगे चलकर **मनोविश्लेषण** की प्रवृत्ति भी विकसित हुई।

उपर्युक्त युग में रचित समस्त उपन्यासों को आलोचकों ने प्रमुख तीन कोटियों में रखा है—

(१) कथा-प्रधान उपन्यास, (२) चरित्र-प्रधान उपन्यास, (३) भाव-प्रधान उपन्यास।

कथा-प्रधान उपन्यासों के भी कई अवान्तर रूप स्वीकृत हैं—(क) **तिलस्मी** (ख) साहसिक (ग) जासूसी (घ) प्रेमाख्यानक (ङ) ऐतिहासिक (च) **पौरा-णिक** (छ) अन्य। प्रेमचन्द के अभ्युदय के साथ कथा-प्रधान उपन्यासों के अनेक रूपों की ओर से पाठकों की प्रवृत्ति विरत हो गई। फलस्वरूप ऐतिहासिक उप-न्यासों को छोड़कर शेष का विकास अवरुद्ध हो गया।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों के भी तीन रूप देखे जा सकते हैं—(क) उप-देशात्मक, (ख) प्रयोगात्मक, (ग) कलापूर्ण। उपदेशात्मक (चरित्रप्रधान उपन्यास) उपन्यासों का प्रणयन तो भारतेंदु-युग में ही होने लगा था। लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दम्पति' और 'आदर्श हिन्दू', पारसनाथ सिंह की 'मँझली बहू', प्रियम्वदा देवी का 'कलियुगी परिवार का एक दृश्य' आदि उपन्यास उप-देशात्मक ही थे।

प्रयोगात्मक चरित्र-प्रधान उपन्यासों के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण कार्य मन्नन द्विवेदी और शिवपूजन सहाय ने किया। इन उपन्यासों में किसी महान चरित्र के के माध्यम से सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का चित्र उपस्थित किया जाता है। मन्नन द्विवेदी का 'रामलाल' (१९१४) और 'कल्याणी' (१९१८) तथा शिवपूजन सहाय की 'देहाती दुनिया' (१९२५) इस कोटि के उपन्यासों में सुन्दर प्रयोग हैं।

प्रेमचन्द जी के आगमन के साथ कलापूर्ण चरित्र-प्रधान उपन्यास लिखे जाने लगे। प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (१९१८) 'प्रेमाश्रम' (१९२१) 'रंगभूमि' (१९२२)

'सारावन' (१९२४), ब्रजनन्दन सहाय का 'राधाकान्त', विश्वम्भरनाथ ऋ कौशिक का 'माँ', अवधनारायण का 'विमाता', जनार्दन झा का 'आशा पर पानी' शिवनारायण द्विवेदी का 'दासी' तथा यदुनन्दन प्रसाद का 'अभागी' क्रमशः चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों का कथानक सामयिक है। सभी में सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों को प्राधान्य दिया गया है। इन सभी की प्रमुख विशेषता इनका चरित्र-चित्रण है।

भाव-प्रधान उपन्यासों में कवित्वपूर्ण शैली का प्राधान्य होता है, साथ ही कलाकार का ध्यान कथानक या चरित्र पर न होकर चरित्रों की भावनाओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों पर होता है। जयशंकर 'प्रसाद' का 'कंकाल', ब्रजनन्दन सहाय के 'सौंदर्योपासक' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की 'मनोरमा', भाव-प्रधान उपन्यास हैं।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों की ही एक विशेष कोटि प्राकृतवादी उपन्यासों की है। प्राकृतवादी, विज्ञान द्वारा उद्घाटित जीवन के वास्तविक सत्य की व्यंजना करना चाहता है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम फ्रांस में किया गया था। आगे चलकर अँगरेजी साहित्य में भी इसका प्रचलन हुआ और सम्भवतः यहीं से यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य में भी पनपी। चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उग्र', ...ाचन्द्र जोशी, चन्द्रशेखर पाठक और ऋषभचरण जैन ने इस दिशा में कदम ...या। किन्तु यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य के अनुकूल सिद्ध न हो सकी इसीलिये ...ल्ली का दलाल' या 'वारांगना रहस्य' जैसी रचनायें अधिक नहीं लिखी गईं। ...षभचरण जैन अवश्य इसी दिशा में बढ़े जा रहे हैं। आपने 'दिल्ली का व्यभि-...र', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', वेश्यापुत्र' 'मयखाना' 'चांदनी रात' ...स्यमयी' आदि अनेक कृतियाँ 'दिल्ली का दलाल' की परम्परा में छाप ...ी है।

कला एवं रचनादर्श की दृष्टि से उपन्यासों का यह विकास-युग (१९१६-...०) वस्तुतः प्रेमचन्द-युग कहा जा सकता है। प्रेमचन्दजी ने उपन्यास को ...र-चरित्र का चित्रण स्वीकार किया था। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को कला ...आधार मानते थे। उनकी प्रवृत्ति सब मिलाकर सुधारवादी थी। इसीलिये ...बीच में उन्हें उपदेशक के रूप में भी सामने आ जाना पड़ता था। उनका ...ीं कथानक सामयिक समस्याओं को लेकर विकसित हुआ है। जीवन के ... अंगों को एक ही मंच पर एकत्रित करने के प्रयत्न में कहीं कहीं कथानक ...शृंखलाओं में जबरदस्ती गाँठ जोड़नी पड़ी है। उनका ग्रामीण जीवन का ... हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। उनकी कला का मूल्यांकन मानवता-... आधार पर हो सकता है। इसीलिये उनके हृदय में जमीदारों के प्रति ...सहानुभूति छिपी हुई पाई जाती है। जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी कला

...३६,

सूत्र' में सम्भवतः उनके आदर्शों में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित होता किन्तु हिन्दी के दुर्भाग्यवश यह अनुपम कृति अधूरी ही रह गई।

प्रेमचन्दजी के आदर्शों को लेकर हिन्दी में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा आगे बढ़े किन्तु कला की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन ये न उपस्थित कर सके।

प्रेमचन्दजी के समसामयिक 'प्रसाद' नाटकों के आदर्शवाद को छोड़कर उपन्यास के क्षेत्र में प्रकृतवादी दृष्टिकोण लेकर सामने आये। 'कंकाल' में सामाजिक संस्थाओं की पोल खोलने के पश्चात् आप इस दिशा में आगे नहीं बढ़े। वैसे भी उनका दृष्टिकोण उग्र या ऋषभचरण जैन के यथार्थवाद से सर्वथा भिन्न था।

प्रेमचन्द के पश्चात् (१९३६ ई० के उपरान्त) हिन्दी-उपन्यासों के क्षेत्र में जैनेन्द्र की ख्याति हुई। उनकी 'सुनीता' १९३६ ई० में ही प्रकाशित हुई थी। प्रेमचन्द का क्षेत्र गाँव, खेत और विस्तृत सामाजिक जीवन था। जैनेन्द्र ने जीवन के इन विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी में प्रवेश किया। उन्होंने समाज की ऊपरी परिस्थितियों के साथ दौड़ना छोड़कर व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की गुत्थियों को अपना विषय बनाया। आलोचकों के अनुसार 'जैनेन्द्र में, वस्तुतः, हिन्दी ने एक शरत्चन्द्र के अभाव की पूर्ति पा ली।' कुछ आलोचकों के अनुसार जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रॉयड का प्रभाव है। इसका प्रतिवाद करते हुये श्री नलिनविलोचन शर्मा लिखते हैं "पश्चिम के मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की किंवदन्ती सुन रखने वाले हिन्दी के आलोचकों ने जैनेन्द्र के उपन्यासों पर फ्रॉयड का प्रभाव घोषित करके अपनी पंडितमन्यता को सन्तुष्ट किया; स्वयं जैनेन्द्र ने ईमानदारी का परिचय देते हुये सदैव इस आरोपित प्रभाव को अस्वीकार किया। सत्य भी यही है कि व्यक्ति केन्द्रित होने पर भी जैनेन्द्र के उपन्यासों में मनोविश्लेषण की प्रणाली की छाया भी नहीं है।"[१] जैनेन्द्र, अपने अन्य उपन्यासों—'परख', 'तपोभूमि', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र', 'अनामस्वामी'—में इतने गहरे नहीं प्रवेश कर सके हैं।

जैनेन्द्र की भाँति व्यक्तिपरक उपन्यास लिखने वालों में भगवतीप्रसाद वाजपेयी तथा सियारामशरण गुप्त उल्लेखनीय हैं। भगवतीप्रसाद जी, जीवन की अन्तर्वृत्तियों को उतनी गहराई से न देख सके। सियारामशरणजी अपने आँसुओं को हृदय में रख कर मोती बनाते रहे।

मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास—जैनेन्द्र के पश्चात् उपन्यासों की परम्परा में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन १९३२ ई० में प्रकाशित वृषानाथ

१. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ—पृष्ठ ५।
२. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ—पृष्ठ ६।

'कायाकल्प' (१९२४), व्रजनन्दन सहाय का 'राधाकान्त', विश्वम्भरनाथ कौशिक का 'माँ', अवधनारायण का 'विमाता', जगदीश झा का 'आशा पर शिवनारायण द्विवेदी का 'छाया' तथा यदुनन्दन प्रसाद का 'अपराधी' च चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों का कथानक सामयिक है। सभी में जिक एवं राजनैतिक आन्दोलनों को प्राधान्य दिया गया है। इन सभी की विशेषता इनका चरित्र-चित्रण है।

भाव-प्रधान उपन्यासों में कवित्वपूर्ण शैली का प्राधान्य होता है, साथ कलाकार का ध्यान कथानक या चरित्र पर न होकर चरित्रों की भावनाओं अन्तर्द्वन्द्वों पर होता है। जयशंकर 'प्रसाद' का 'कंकाल', व्रजनन्दन सहाय 'सौंदर्योपासक' और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की 'मनोरमा', भाव-प्रधान उपन्यास।

चरित्र-प्रधान उपन्यासों की ही एक विशेष कोटि प्राकृतवादी उपन्यासों है। प्राकृतवादी, विज्ञान द्वारा उद्घाटित जीवन के वास्तविक सत्य को प्र करना चाहता है। इस प्रकार का प्रयत्न सर्वप्रथम फ्रांस में किया गया था आगे चलकर अँगरेजी साहित्य में भी इसका प्रचलन हुआ और सम्भवतः यहीं यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य में भी पनपी। चतुरसेन शास्त्री, बेचन शर्मा 'उ इलाचन्द्र जोशी, चन्द्रशेखर पाठक और ऋषभचरण जैन ने इस दिशा में क उठाया। किन्तु यह प्रवृत्ति हिन्दी-साहित्य के अनुकूल सिद्ध न हो सकी इसलिये 'दिल्ली का दलाल' या 'वारांगना रहस्य' जैसी रचनायें अधिक नहीं लिखी गईं। ऋषभचरण जैन अवश्य इसी दिशा में बढ़े जा रहे हैं। आपने 'दिल्ली का व्यभि-चार', 'दिल्ली का कलंक', 'दुराचार के अड्डे', 'वेश्यापुत्र' 'मयखाना' 'चाँदनी रा' 'रहस्यमयी' आदि अनेक कृतियाँ 'दिल्ली का दलाल' की परम्परा में प्र डाली हैं।

कला एवं रचनादर्श की दृष्टि से उपन्यासों का यह विकास-युग (१९१८-१९३०) वस्तुतः प्रेमचन्द-युग कहा जा सकता है। प्रेमचन्दजी ने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्रण स्वीकार किया था। वे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को क ा आधार मानते थे। उनकी प्रवृत्ति सब मिलाकर सुधारवादी थी। इसलिये बीच-बीच में उन्हें उपदेशक के रूप में भी सामने आ जाना पड़ता था। सम्पूर्ण कथानक सामयिक समस्याओं को लेकर विकसित हुआ है। जीवन के सभी अंगों को एक ही मंच पर एकत्रित करने के प्रयत्न में कहीं कहीं कथानक की शृंखलाओं में जबरदस्ती गाँठ जोड़नी पड़ी है। उनका ग्रामीण जीवन का चित्रण हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। उनकी कला का मूल्यांकन इसी आधार पर हो सकता है। इसीलिये उनके हृदय में धर्मानारों के प्रति सहानुभूति छिपी हुई पाई जाती है। जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी कला (१९३६) (इंतकाल तक आते आते) वस्तुवाद की ओर झुकने लगी थी। 'कर्म

मिश्र की 'प्यास' से ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु इसका पूर्ण विकास आगे चलकर 'अज्ञेय', 'इलाचन्द्र जोशी' तथा द्वारिकाप्रसाद की कृतियों में परिलक्षित हुआ। परिवर्तन का कारण था पूंजीवादी व्यवस्था से हताश होकर अपने असन्तोषों की तुष्टि के लिये मनोविश्लेषण को कला का मानदण्ड मान लेना। पश्चिम में फ्रॉयड, जुंग, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों के प्रभाव से साहित्यिकों ने साहित्य को दमित वासनाओं की अनिवार्य अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया। वहीं से प्रेरणा लेकर हिन्दी के उपर्युक्त उपन्यासकारों ने मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों की सृष्टि की।

इलाचन्द्र जोशी के प्रायः सभी उपन्यास—'घृणामयी', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले' 'जिप्सी'—मनोविश्लेषणात्मक पद्धति पर ही लिखे गये हैं।

अज्ञेय को सबसे अधिक ख्याति 'शेखर: एक जीवनी' से मिली। इसके विषय में श्री नलिनविलोचन शर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"फिर अज्ञेय ने 'शेखर: एक जीवनी' में कुछ फ्रायड, क्राफ्ट एविंग, हैवेलाक एलिस और कुछ लारेंस से अनेक उपादान लेकर कोनराड की प्रत्यवदर्शन-प्रणाली का उदाहरण उपस्थित किया।" 'नदी के द्वीप' अज्ञेय का दूसरा उल्लेख्य मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। द्वारिकाप्रसाद ने भी 'घेरे के बाहर' में मनोविश्लेषण की शास्त्रीय प्रणाली अपनाई है।

साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हिन्दी-उपन्यास—पूँजीवादी व्यवस्था से निराश होकर जहाँ मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति-प्रधान उपन्यासकार जीवन के असन्तोषों को छिपाने के लिये अन्तर्मुखी हो जाता है, वहाँ उस व्यवस्था को मिटाने के प्रयत्न में साम्यवादी कलाकार संघर्षों को निमन्त्रण देता है। वह जातिगत, वर्गगत, तथा धर्मगत सभी प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोही बन जाता है। समाज की कृत्रिम नैतिकता को भेदकर सत्य का उद्घाटन करता है। सभी सामाजिक एवं राजनैतिक संघर्षों के मूल में वह आर्थिक विषमता देखता है। हिन्दी में यशपाल, नागार्जुन, अमृतराय, रांगेयराघव, उपेन्द्रनाथ अश्क, भगवतशरण, राहुल सांकृत्यायन, विष्णु प्रभाकर, अंचल आदि अनेक उपन्यासकार साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। अपने विश्वासों के प्रति पूर्ण दृढ़ता यशपा[illegible] में अपेक्षाकृत अधिक है। 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'मनुष्य के रूप' आ[illegible] उपन्यास उनके विचारों का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। आपका 'दिव्या' ऐति[illegible] हासिक उपन्यास है। आलोचकों के अनुसार इसमें "बौद्ध युग की विषम भूमिका में मानव की कुछ सर्वकालीन एवं सर्वदेशीय समस्याओं के चित्रण [illegible]

प्रयत्न किया गया है।'"[1] नागार्जुन, मिथिला के लोक-जीवन को अभिव्यक्ति देने में बहुत कुछ सफल रहे हैं। राहुलजी तथा भगवतशरण इतिहास को साम्यवादी (ऐतिहासिक भौतिकवाद,) दृष्टिकोण से देख रहे हैं। अश्क 'गिरती दीवारें' देख रहे हैं और अंचल 'नई इमारत' बना रहे हैं किन्तु रोमानी प्रवृत्ति से अभी छुटकारा नहीं पा सके हैं। रांगेय राघव का रास्ता सीधा-सादा है। अमृतराय ने 'बीज' लिखकर हिन्दी में 'लाल उपन्यासों' की एक विशिष्ट शाखा को जन्म दिया है।[2]

ऐतिहासिक उपन्यास—कथाप्रधान उपन्यासों में ऐतिहासिक कथानकों को लेकर हिन्दी में कुछ सुन्दर कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने आदिम वैदिक युग, पौराणिक युग, गुप्त-मौर्यादि युग, मध्ययुग और मुस्लिम राज्यकाल, अंग्रेजी राज्यकाल, सभी से सम्बन्धित उपन्यासों की सृष्टि की है। **आदिम वैदिक युग** से सम्बन्धित रांगेयराघव का **'मुर्दों का टीला'**, **गुप्त-मौर्यादि युग** से सम्बन्धित हजारीप्रसाद द्विवेदी की **'बाणभट्ट की आत्मकथा'**, भगवतीचरण वर्मा की **'चित्रलेखा'**, राहुल सांकृत्यायन का **'सिंह सेनापति'** और **'जययौधेय'**, भटनागर की **'अम्बपाली'**, चतुरसेन शास्त्री की **'वैशाली की नगर वधू'**, **मध्ययुग और मुस्लिम राज्य-काल** से सम्बन्धित निराला की **'प्रभावती'**, वृन्दावनलाल वर्मा का **'गढ़कुण्डार'**, **'मृगनयनी'**, **'कचनार'**; **अंगरेजी राज्यकाल से सम्बन्धित**, वृन्दावनलाल वर्मा की **'झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई'** महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

आलोचकों की दृष्टि में उपर्युक्त उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन और हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं जिनसे हिन्दी में स्काट, राखालदास वन्द्योपाध्याय या मुंशी के अभाव की पूर्णतः पूर्ति हो जाती है।[3]

अन्य उपन्यासकार—वर्तमान हिन्दी-गद्य-साहित्य में कदाचित् सर्वाधिक प्रकाशन उपन्यासों का ही हो रहा है। आज ऐसे अनेक उपन्यासकार अपनी रचनाओं में रत हैं जो भविष्य में हिन्दी उपन्यास-कला के विकास में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे उपन्यासकार भी हैं, जो युग से प्रभावित हैं, जिनकी कृतियों में अपने ढंग से सामाजिक एवं राजनैतिक समस्यायें समाविष्ट हैं किन्तु जिन्हें किसी विशिष्ट प्रवृत्ति के घेरे में रखकर नहीं देखा जा सकता। ऐसे उपन्यासकारों में **प्रतापनारायण श्रीवास्तव** (विदा, विकास,

---

१. 'हिन्दी उपन्यास'—पृष्ठ ३२६
२. आलोचना अंक १०, वर्ष ३, जनवरी १९५४—पृष्ठ ११०
३. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ—पृष्ठ ६

भीतर), देवीदयाल सेन (मानव की परख) आदि अनेक नई और पुरानी प्रतिभायें प्रकाश में आई हैं। इनमें सभी प्रकार की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व मिल जाता है। यह स्पष्ट होता जा रहा है कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य जीवन के निकट आता जा रहा है। उसका कला-रूप विकसित हो रहा है। उसकी सीमायें विस्तृत हो रही हैं। उसमें कमियाँ भी हैं। अभी हास्यरस-प्रधान, साहसिक, यात्रा सम्बन्धी तथा भूतों की दुनियाँ से सम्बन्धित उपन्यासों की बहुत कमी है। फिर भी यह निर्विवाद है कि इतनी अल्प अवधि में जितना स्वस्थ विकास हिंदी उपन्यासों का हुआ है उतना गद्य की किसी अन्य विधा का नहीं।

शैली की दृष्टि से वर्णनात्मक, विश्लेषणात्मक, पत्र-शैली तथा आत्मकथा शैली, सभी का प्रयोग हो रहा है। हिन्दी-उपन्यासकारों को वर्णनात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैली में पर्याप्त सफलता मिली है। इस प्रकार सभी दृष्टियों से विचार करने पर तथा उपन्यासों के क्षेत्र में अनेक प्रतिभाओं को देखकर उपन्यासों के उज्ज्वल भविष्य का विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है।

हिन्दी-नाटकों का विकास

हिन्दी-साहित्य के प्रथम तीन युगों (चारण, भक्ति और रीति) में नाटक-साहित्य का सर्वथा अभाव है। चौदहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के मध्य-तक नाटकों के नाम पर मैथिल कवि विद्यापति का 'रुक्मिणी हरण' और 'पारिजात हरण' (चौदहवीं शताब्दी); केशवदास का 'विज्ञान गीता', कृष्णजीवन का 'करुणाभरण'; हृदयराम पंजाबी का 'हनुमान नाटक'; यशवन्तसिंह का 'प्रबोधचन्द्रोदय' (सत्रहवी शताब्दी); निवाज कवि की 'शकुन्तला'; देव का 'देवमाया प्रपंच'; आलम का 'माधवानल कामकन्दला' (अठारहवीं शताब्दी); महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द रघुनन्दन'; मञ्जु का 'हनुमान नाटक'; कृष्ण शर्मा माथुर का 'रामलीला विहार नाटक'; हरिराम का 'जानकीराम चरित्र नाटक' और ब्रजवासीदास का 'प्रबोधचन्द्रोदय' (उन्नीसवी शताब्दी) आदि कुछ थोड़ी-सी रचनायें उपलब्ध हैं। वस्तुतः इन रचनाओं को नाटकों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। ये कथाओं के पद्यात्मक वर्णन मात्र हैं। इधर डॉ० दशरथ ओझा ने अपने प्रबन्ध (हिन्दी नाटक उद्भव और विकास) में अपभ्रंश, मैथिल, राजस्थानी, बँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के प्रारम्भिक नाटकों के तुलनात्मक अध्ययन के सहारे हिन्दी-नाटकों का उद्भव और विकास दिखाने का प्रयास किया है और आरम्भिक हिन्दी-नाटकों के दो प्रमुख स्रोतों की ओर संकेत किया है। आप लिखते हैं "तेरहवीं शताब्दी में एक ओर तो कण्हप-काल से चली आने वाली स्वांग की नाट्य-परम्परा थी, जिसके नाटक डोम और डोमिनियों द्वारा अभिनीत होते थे, दूसरी परम्परा रास की थी, जिसका अभिनय बहुरूपिये अथवा जिण सेवक किया करते थे।"

मध्यम वर्ग में इस दूसरी परम्परा का ही अधिक प्रचलन था। इनके विषय धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, आध्यात्मिक, नैतिक तथा लौकिक प्रेम सम्बन्धी हुआ करते थे। यह होते पर भी इनमें सम्पूर्ण नाटकीय तत्त्व उपलब्ध नहीं होते और स्वयं ओझा जी भी स्वीकार करते हैं कि "किसी-किसी रास में रंगमंच-निर्देश गद्य में मिलता है किन्तु ऐसे स्थल नगण्य हैं। तथ्य तो यह है कि बौद्ध दर्शन के दुःखवादी दृष्टिकोण ने जिस प्रकार प्राचीन संस्कृत नाटकों की रसवादी या आनन्दवादी परम्परा पर गहरा आघात किया था उसी प्रकार इस्लामी मज़हब की कट्टर सामाजिक नैतिकता ने हिन्दी नाटकों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। जनता अपनी धार्मिक एवं वीरपूजा की प्रवृत्ति को रासलीला, रामलीला स्वाँग तथा पूरनभगत, कल्ल हकीकत राय, आल्हा ऊदल, इन्दल राजाका ब्याह आदि के भद्दे अभिनयों द्वारा संतुष्ट कर लेती थी। विद्वानों के अनुसार प्राचीन नाट्यकला का पूर्व रूप अत्यन्त हीन और शोचनीय अवस्था में इन लीलाओं में मिलता था।

कहना न होगा कि अँगरेज जाति तथा अँगरेजी साहित्य के सम्पर्क से हममें नव चेतना उद्बुद्ध हुई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के समय में ही अँगरेजों ने बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, पटना आदि बड़े-बड़े नगरों में अपने मनोरंजन के लिये अभिनय-शालाओं की स्थापना की थी।[1] इन अभिनयशालाओं ने भारतीय शिक्षित समुदाय का ध्यान नाट्यकला की ओर आकृष्ट किया था। सर विलियम जोंस द्वारा फोर्ट विलियम कालेज में 'शकुन्तला' के कई अनुवाद प्रस्तुत किये जा चुके थे। शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन भारतीयों द्वारा पर्याप्त दिलचस्पी के साथ होने लगा था। नाट्यरचना के संस्कार अब भी भारतीय स्रष्टा के कल्पना-विधान में था। फलस्वरूप हिन्दी में पुनः नाटक-रचना का प्रारम्भ हुआ।

विशुद्ध नाटक-रीति का ध्यान रखकर हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक नाटक 'नहुष' भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र (गिरधर दास) द्वारा सन् १८५६ में लिखा गया। इसके उपरान्त भारतेन्दु के उदय के साथ हिन्दी-नाटकों का भाग्योदय हुआ। भारतेंदु ने 'विद्यासुन्दर' (१८६८ ई०) [चौर कवि की संस्कृत रचना 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद], 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७५) [चण्ड कौशिक के आधार पर], 'श्री चन्द्रावली नाटिका' (१८७६), 'विषस्य विषमौषधम्' (१८७६) [भाण, बड़ौदा के गायकवाड़ के गद्दी से उतारे जाने तथा मल्हारराव के उनके स्थान पर बिठाये जाने की घटना के आधार पर], 'भारत-दुर्दशा' (१८८०), [नाट्यरासक], 'नीलदेवी' (१८८१) [गीति रूपक, कथानक ऐतिहासिक] 'प्रेम जोगिनी' (१८७५) [अपूर्ण, काशी की वास्तविक स्थिति तथा अपने जीवन के कुछ सकेत], 'सतीप्रताप' (१८८३) [गीतिरूपक अपूर्ण, सावित्री सत्यवान के

१. आधुनिक हिन्दी साहित्य—पृष्ठ २२८

पौराणिक आख्यान के आधार पर], 'भारत जननी' (१८८४ में तीसरी बार प्रकाशित) [बँगला की 'भारतमाता' के आधार पर] आदि कई छोटे-बड़े मौलिक-अमौलिक नाटकों की सृष्टि की। इन नाटकों में सामाजिक, राजनैतिक, पौराणिक तथा प्रेम-तत्त्व सम्बन्धी, सभी प्रकार की रचनायें आ गई हैं। भारतेंदु की यह देन हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। समय को पहचानने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने हिन्दी के साहित्यिक नाटकों की परम्परा को जन्म दिया। युग की नवीन चेतना को अभिव्यक्ति दी। नाटकों की रचना में समयानुकूल पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के आदर्शों को भी स्वीकार किया। यही नहीं निजी अध्ययन एवं अनुभव के बल पर हिन्दी-नाट्य-शास्त्र 'नाटक' (१८८३) की रचना की। नाटकों के अभिनय का पूर्ण प्रबन्ध किया। इस प्रकार भारतेंदु की अकेली प्रतिभा ने हिन्दी-नाटक-साहित्य, हिन्दी-नाट्यशास्त्र तथा हिन्दी-रंगमंच की स्थापना की।

भारतेंदु के सहयोगियों में श्रीनिवासदास ने 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' 'तप्ता संवरण' और 'संयोगिता स्वयंवर', राधाकृष्णदास ने 'दुःखिनी बाला' (१८८०), 'पद्मावती' (१८८२), 'धर्मालाप' (१८८५), और 'महाराणा प्रताप' (१८९७) तथा किशोरीलाल गोस्वामी ने 'मयंकमञ्जरी' (१८९१), राव कृष्णदेवशरण सिंह ने 'माधुरीरूपक' आदि सुन्दर नाटकों की रचना की। इन थोड़े से नाटककारों में ही उच्चकोटि के नाटकों की रचना की क्षमता थी। इस युग के अन्य नाटककारों ने साधारण ढंग के चलते हुये नाटकों की रचना करके अपने कर्त्तव्य की इति-श्री मान ली। ऐसे नाटककारों में श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी[1], अम्बिकादत्त व्यास[2], बद्रीनारायण चौधरी[3], बलदेवप्रसाद मिश्र[4], तोताराम वर्मा[5], प्रताप नारायण मिश्र[6], ज्वालाप्रसाद मिश्र[7] और

---

१. 'सीताहरण नाटक' (१८७६), 'रुक्मिणी हरण नाटक' (१८७६), 'रामलीला नाटक' (१८७९ से पूर्व), कंसवध नाटक (१८७९), 'नन्दोत्सव नाटक' (१८८०), 'लक्ष्मी सरस्वती मिलन नाटक' (१८८१), 'प्रचण्ड गोरक्षण नाटक' (१८८१), 'बाल विवाह नाटक' (१८८१) और 'गोवध निषेध नाटक' (१८८१)।

२. 'ललिता' नाटिका' (१८८३), 'गोसंकट' नाटक (१८८६), 'मन की उमङ्ग' (१८८६) और भारत सौभाग्य (१८८७)।

३. 'भारत सौभाग्य' (१८८७)।

४. 'मीराबाई' (१८९७) और 'नन्द विदा' (१९००)।

५. 'विवाह विडम्बन' नाटक (१९००)।

६. 'भारत दुर्दशा' रूपक और 'कलिकौतुक' रूपक (१८९०)।

७. 'सीता बनवास' (१८९५)।

दुर्गाप्रसाद मिश्र' उल्लेखनीय हैं। इनके नाटकों पर पारसी मंचों का प्रभाव स्पष्ट है। नाटक-रचना में प्राचीन नियमों की अवहेलना तथा नवीन विधानों का ग्रहण किया गया है। समाज-सुधार की प्रवृत्ति भी प्रधान है, किन्तु उसके समानान्तर मनोरंजन की भावना भी कार्य करती रही है। वस्तुतः भारतेंदु की मृत्यु के उपरान्त हिंदी-नाटकों का ह्रास आरम्भ हो गया। इसके कई कारण थे। प्रथम तो हिन्दी के नाटककारों में नाटक के सूक्ष्म नियमों एवं विधियों की योजना की क्षमता न थी। दूसरे नाटकों के इस उत्थान की सामाजिक स्थिति विशेष [illegible]वाली थी। इस प्रवृत्ति ने कुछ कर बैठने की प्रेरणा तो दी किन्तु भावों और विचारों को घटनाओं के साथ कलात्मक ढंग से नियोजित करने के लिए मानसिक सन्तुलन नहीं प्रदान किया। तीसरे आर्यसमाज के आन्दोलन से लेखकों पर शास्त्रार्थ-शैली का प्रभाव पड़ा जो निश्चय ही नाटकों के कलात्मक विकास में बाधक सिद्ध हुआ। चौथे पाश्चात्य 'कामेडी' के अन्धानुकरण के कारण भारतेंदु के उपरान्त हिन्दी-साहित्य में हीन प्रहसनों की प्रवृत्ति तीव्रता से पनप उठी। इन प्रहसनों में सामाजिक कुरीतियों पर खुलकर व्यंग किया गया है। प्रहसनों की वृद्धि ने साहित्यिक एवं कलात्मक अभिनय पूर्ण नाटकों की रचना में व्याघात उपस्थित किया।

अनुवाद—इस युग में संस्कृत, अँगरेजी और बँगला साहित्य से बहुत से नाटकों का अनुवाद किया गया। स्वयं भारतेंदु ने संस्कृत, बँगला और अँगरेजी नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत किया था। १८६१ ई० में राजा लक्ष्मण सिंह ने 'शकुन्तला' का अनुवाद किया था। इनके अतिरिक्त लाला सीताराम बी० ए० (१८५८–१९३७) ने 'महावीर चरित' (१८९७, भवभूति कृत), 'उत्तररामचरित' (१८९७, भवभूति कृत), 'मालती माधव' (१८९८, भवभूतिकृत), 'मालविकाग्नि-मित्र' (१८९८, कालिदास कृत), 'मृच्छकटिक' (१८९९, शूद्रक कृत), 'नागानन्द' (१९००, हर्षदेव कृत) आदि कई संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया। श्री देवदत्त तिवारी, रामेश्वर भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, ज्वालाप्रसाद मिश्र, कृष्णदेव शर्मा और श्री शीतला प्रसाद ने क्रमशः 'उत्तररामचरित' (१८७१), 'रत्नावली' (१८९५), 'रत्नावली' (१८९८), 'वेणीसंहार' (१८९७), 'भर्तृहरि राजत्याग' और 'प्रबोधचन्द्रोदय' (१८७९) आदि संस्कृत के उत्कृष्ट नाटकों का अनुवाद किया।

अँगरेजी नाटकों में सबसे अधिक अनुवाद शेक्सपियर के नाटकों के हुये। भारतेंदु ने 'Merchant of Venice' का 'दुर्लभबन्धु' नामसे अधूरा अनुवाद किया था। इटावा निवासी रत्नचन्द ने 'Comedy of Errors' का '

जालक' नाम से अनुवाद किया। 'Merchant of Venice' का सुन्दर अविकल अनुवाद जबलपुर की आर्या नामक महिला ने प्रस्तुत किया। जयपुर के पुरोहित गोपीनाथ ने 'As you like it' तथा 'Romeo and Juliet' का अनुवाद क्रमशः 'मन भावन' और 'प्रेमलीला' (१८९७) नाम से किया। मिर्जापुर के मथुराप्रसाद उपाध्याय ने 'Macbeth' का अनुवाद 'साहसेन्द्र साहस' (१८९३) नाम से किया। इन्होंने कथा को भारतीय रूप देने की चेष्टा की है।

कुछ विद्वानों ने बँगला नाटकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया। रामकृष्ण वर्मा (१८५६-१९०६) ने 'पद्मावती' (१८८८, राजकिशोर दे कृत), 'वीरनारी' (१८८६, द्वारिकानाथ गांगुली कृत) और कृष्णकुमारी (१८९७, मधुसूदनदत्त कृत) के अनुवाद प्रस्तुत किये। इसी प्रकार गाजीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल वकील ने 'सती नाटक' (१८८६, मनमोहन वसु कृत) तथा 'दीपनिर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' (१८९५) के अनुवाद किये। ये अनुवाद पारसी कम्पनियों के कुरुचिपूर्ण नाटकों के प्रभाव से जनता को बचाने के लिये प्रस्तुत किये गये थे।

भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों के उपरान्त कुछ दिनों तक हिन्दी में सुन्दर, सुरुचिपूर्ण, कलात्मक तथा मौलिक नाटकों का अभाव रहा। सन् १९१२ में बदरीनाथ भट्ट ने संस्कृत के 'वेणीसंहार' नाटक का 'कुरुवनदहन' नाम से हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया। यहीं से नाटकों का पुनरुत्थान प्रारम्भ होता है। १९१५ में माधव शुक्ल का 'महाभारत' प्रकाशित हुआ। इसने नाटकों के द्वितीय विकास की परम्परा को थोड़ा और आगे बढ़ाया। १९२२ में माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' नाटक में हिन्दी-नाट्यकला के सुन्दर रूप का दर्शन हुआ। इसके पश्चात् तो जयशंकर 'प्रसाद' के साहित्यिक नाटकों की परम्परा ने नाटक-साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। सन् १९१२ से 'प्रसाद' की नाट्यकला के विकास-युग तक हिन्दी-नाटकों के कई रूप विकसित हुये। सुविधा के लिये उन्हें निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) रोमान्चकारी नाटक
(२) पौराणिक नाटक
(३) एतिहासिक नाटक
(४) सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित नाटक
(५) प्रतीकवादी नाटक

रोमान्चकारी नाटक—इन नाटकों की रचना अधिकतर उन्नीसवीं शती के अन्त और बीसवीं के प्रारम्भ में हुई। ये पारसी कम्पनियों के वातावरण से प्रभावित थे और प्रायः उन्हीं द्वारा अभिनीत होने के लिये लिखे जाते थे। इनके कथानक फारसी प्रेमाख्यानों से लिये जाते थे या उन्हीं के अनुकूल कल्पित होते

थे। इनमें उत्तेजक दृश्यों की योजना की जाती थी। हीन प्रेम एवं अश्लील भावनाओं का प्रदर्शन होता था। इनमें मुख्य पात्र नायक-नायिका या प्रेमी-प्रेमिका हुआ करते थे। नाट्यकला की दृष्टि से इन नाटकों को महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। भारतेंदु के बाद और 'प्रसाद' के पूर्व, सन्धि-युग में इनका प्रभाव अधिक रहा। आगे चलकर जनता की रुचि परिष्कृत होने पर इनकी परम्परा समाप्त हो गई।

पौराणिक नाटक—१९१२ ई० के पश्चात् पौराणिक नाटकों की बाढ़ सी आ गई। प्रवृत्ति एवं स्वरूप की दृष्टि से इनके प्रमुख तीन वर्ग बन गये।

(क) बेताब और राधेश्याम कथावाचक का वर्ग।

(ख) बदरीनाथ भट्ट का वर्ग।

(ग) प्रसाद-वर्ग।

बेताब और राधेश्याम कथावाचक के पौराणिक नाटक एक ओर तो नैतिक उपदेशों से भरे होते थे किन्तु दूसरी ओर जनता की हीन मनोवृत्ति को तुष्ट करने के लिये उनमें रोमाञ्चकारी दृश्यों तथा भद्दे प्रेम-प्रसंगों की योजना भी की जाती थी। पौराणिक वातावरण उपस्थित करने में तो ये पूर्णतः असफल थे। पौराणिक युग के महापुरुष बीसवीं शती के जनसाधारण से किसी प्रकार भी उच्च नहीं दिखाये जाते थे।

बदरीनाथ भट्ट तथा उनके वर्ग के अन्य नाटककारों—गोविन्दवल्लभ पन्त, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त आदि—ने अपेक्षाकृत सुरुचिपूर्ण नाटकों की सृष्टि की। इनमें कोरा उपदेश न होकर साहित्यिकता एवं कलात्मकता भी है। अतिप्राकृतिक या रोमाञ्चकारी दृश्यों की योजना कथा-विकास के लिये की गई है, अनावश्यक विस्तार या सस्ते कुतूहल के लिये नहीं। पौराणिक युग के वातावरण की रक्षा का सफल प्रयत्न भी किया गया है। चरित्र-चित्रण, बेताब तथा उनके वर्ग की तुलना में अच्छा है, किन्तु कथा के सौंदर्य की ओर अधिक ध्यान होने के कारण चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास नहीं हो सका है।

प्रसाद वर्ग के नाटककारों—प्रसाद, सुदर्शन इत्यादि—ने कथावस्तु पुराणों से अवश्य ली है किन्तु पौराणिक नाटकों की मूल विशेषतायें उनमें नहीं आ सकी हैं; वे ऐतिहासिक नाटकों की ओर झुके हुये हैं। पौराणिक नाटकों की प्रमुख विशेषताओं—कथानक की धार्मिकता, अतिप्राकृत दृश्यों की योजना, प्राचीनतम विश्वासों एवं मान्यताओं की स्वीकृति—में एक भी इनमें नहीं पाई जाती।

ऐतिहासिक नाटक—ऐतिहासिक नाटकों की भी कई कोटियाँ लक्षित होती हैं। प्रथम कोटि में 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटक हैं। दूसरी कोटि में बदरीनाथ भट्ट के नाटक आते हैं और इनसे भी कुछ हीन तीसरी कोटि में गोपालराम गहमरी के नाटकों को रखा जा सकता है।

भट्टजी के ऐतिहासिक नाटकों में पौराणिक नाटकों की छाया स्पष्ट झलकती है। इनमें संघर्ष का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो सका है। चरित्र-चित्रण साधारण श्रेणी का है। इनमें नायक या अन्य मुख्य पात्रों के अंतर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के लिये महत् क्षणों (High moments) की योजना नहीं हो सकी है। भट्टजी के नाटकों में 'दुर्गावती' की सर्वाधिक ख्याति हुई।

गोपालराम गहमरी के नाटकों में उपन्यासों की भाँति घटनाओं का घटाटोप लग गया है। न काव्य-सौंदर्य है और न चरित्र-विकास।

ऐतिहासिक नाटकों में सबसे अधिक सफलता 'प्रसाद' को हुई। उनके प्रमुख ऐतिहासिक नाटक—'राज्यश्री' (१९१५), 'विशाख' (१९२१), 'अजातशत्रु' (१९२२), 'स्कन्दगुप्त' (१९२८), 'चन्द्रगुप्त' (१९३१), 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३)—बौद्ध, मौर्य, गुप्त एवं वर्धन सभी प्रमुख युगों को समेट लेते हैं। 'प्रसाद' ने इन नाटकों के सृजन में सर्वत्र अपने निम्नलिखित आदर्श को सामने रखा है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है। ....मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत प्रयत्न किया है।"[1] 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों की कुछ अन्य ऐसी विशेषतायें भी हैं जो उन्हें दूसरे नाटककारों की तुलना में विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना देती हैं। 'प्रसाद' के नाटक ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुये भी सांस्कृतिक वातावरण उपस्थित करने में पूर्णतः सफल हैं। उनमें राष्ट्रीय चेतना सर्वत्र देखी जा सकती है। आदर्श वीरत्व तथा विशुद्ध प्रेम की समानान्तर धारा उनके नाटकों में प्रवाहित हुई है। साथ ही प्रवञ्चना तथा वासनात्मक प्रेम की स्थिति भी उनमें देखी जा सकती है। 'प्रसाद' के व्यक्तित्व की छाप सभी नाटकों पर स्पष्ट लक्षित होती है। इसीलिए उनके पात्र दार्शनिकता के बोझ से दब गये हैं। 'प्रसाद' के कथानक प्रायः उलझ गये हैं। सभी ऐतिहासिक तथ्यों को समाविष्ट करने की चेष्टा में ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इन नाटकों में काव्यत्व की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है कि गद्य-गीतों का सा आनन्द आ जाता है। बीच में गीतों की उपस्थिति कहीं-कहीं तो वातावरण की सृष्टि में सहायक हुई है; पर अनेक स्थानों पर प्रसंग से अलग स्वतन्त्र-सी हो गई है। अंतर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व की स्पष्ट योजना के कारण इन नाटकों में संघर्ष आद्योपान्त बना रहता है। यह द्वन्द्व अनेक स्थानों पर सिद्धान्तों का द्वन्द्व बन गया है। विधान की दृष्टि से 'प्रसाद' के नाटक पाश्चात्य एवं पौर्वात्य दोनों नाट्य-शास्त्रों के समन्वित आदर्श को लेकर चले हैं। अभिनय की दृष्टि से इन्हें पूर्णतः

---

१. 'विशाख' की भूमिका

सफल नहीं कहा जा सकता। इनका स्वरूप राय मिलाकर साहित्यिक हो गया है।
'प्रसाद' के नाटकों का अन्त बड़ा ही कलात्मक होता है। प्रायः नायक के व्यक्तिगत
जीवन का अवसाद, दार्शनिक उदासीनता के कारण आत्मतोष के रूप में परिणत
हो जाता है। और अन्ततः दुःख और सुख दोनों की सीमाओं को लाँघ कर एक
तटस्थ प्रसादात्मकता में पर्यवसित हो जाता है। इतिहास के अप्रकाशित अंशों को
प्रकाशित करते हुये भी 'प्रसाद' ने वर्तमान की उपेक्षा नहीं की है। प्रायः उनके
सभी ऐतिहासिक नाटकों में अतीत की पृष्ठभूमि में वर्तमान समस्यायें झाँकती
हुई प्रतीत होती हैं।

सामयिक उपादानों पर रचित नाटक—पौराणिक एवं ऐतिहासिक नाटक
की तुलना में सामयिक समस्याओं को लेकर चलनेवाले नाटक इस युग
कम लिखे गये। सामयिक समस्याओं को, इस समय के बहुत कम नाटककारों
गम्भीरतापूर्वक उठाया। उन्हें लेकर प्रायः हास्य की सृष्टि की गई।

हास्य-पूर्ण सामयिक नाटक लिखनेवालों में **जी० पी० श्रीवास्तव** ('मरदा
औरत', 'नोक-झोंक', 'उलटफेर' आदि), **बेचन शर्मा उग्र** ('उजबक' और '
बेचारे'), **बदरीनाथ भट्ट** ('चुंगी की उम्मीदवारी', 'विवाह विज्ञापन', 'लवड़धोंधं
राधेश्याम कथावाचक (कौंसिल की मेम्बरी), **सुदर्शन** (आनरेरी मजिस्ट्रेट), उल्ले
नीय हैं। हास्य की व्यंजना प्रायः भाषा के ऊटपटाँग प्रयोगों, पात्र विशेष की वि
आदतों तथा अति नाटकीय दृश्यों की अवतारणा द्वारा की गई है।

सामयिक सामग्री को लेकर गम्भीर नाटक भी लिखे गये। इनमें
बन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन', राधेश्याम का 'परिवर्तन', जमुनादास मेहरा का 'पाप-
परिणाम', जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का 'मधुर मिलन', प्रेमचन्द का 'संग्राम' और लक्ष्मण-
सिंह का 'गुलामी का नशा' प्रसिद्ध हैं। कला की दृष्टि से ये नाटक साधारण हैं।

प्रतीकवादी नाटक—प्रतीकवादी नाटकों की परम्परा संस्कृत साहित्य से ही
चली आ रही है। संस्कृत का 'प्रबोध चन्द्रोदय' अपनी प्रतीकात्मकता के लिये
प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। हिन्दी में केशव का 'विज्ञानगीता' और देव का
'देवमायाप्रपञ्च' भी प्रतीकात्मक ही हैं। इस युग में पन्त की 'ज्योत्स्ना'
और 'प्रसाद' की 'कामना' इसके सुन्दर उदाहरण हैं। ज्ञानदत्त सिंह का 'मायावी'
भी इसी परम्परा में लिखा गया है। इन नाटकों में कुछ की प्रतीकात्मकता
(ज्योत्स्ना) तो अत्यधिक सम्वेदना के कारण है। नाटककार प्रकृति के सभी
उपादानों में मानवीय भावनाओं का आरोप करता हुआ उन्हें पुरुष या स्त्री के
प्रतीक रूप में स्वीकार कर लेता है। 'प्रसाद' की 'कामना' में मानव जीवन के
अन्तर्गत चलने वाले सद् एवं असद् वृत्तियों के शाश्वत संघर्ष को मूर्त करने का
प्रयत्न किया गया है। आलोचकों की दृष्टि में इस कोटि की प्रतीकात्मकता नाटकों

के लिये अधिक समीचीन है। प्रतीकवादी नाटकों की अधिक सार्थक संज्ञा 'अन्याप-देशिक' कही गई है।[1]

इस प्रकार भारतेंदु के अस्त और 'प्रसाद' के अभ्युदय-युग तक नाटकों की तीन प्रमुख परम्परायें लक्षित होती हैं। एक परम्परा तो पारसी कम्पनियों से पूर्ण प्रभावित नाटकों की रही है जो १६१५ तक आते-आते ह्रासोन्मुख हो गई। दूसरी परम्परा पारसी कम्पनियों से अपेक्षाकृत परिष्कृत रंगमचीय नाटकों की रही है जिनमें संघर्ष, कलात्मकता तथा साहित्यिकता का अभाव रहा है। तीसरी परम्परा उच्च साहित्यिक एवं कलात्मक नाटकों की रही है जो अभिनय के लिये पूर्णतः समीचीन नहीं स्वीकार किये गये हैं।

प्रसाद-युग का अनूदित नाटक-साहित्य—प्रसाद-युग में भी अनुवादों की परम्परा चलती रही। संस्कृत नाटकों के अनुवाद अपेक्षाकृत कम हुये। भास की 'स्वप्नवासवदत्ता' का अनुवाद १६२१ ई० में मैथिलीशरण गुप्त ने किया। अतरचन्द कपूर ने 'प्रतिमा' और 'पंचरात्र' का अनुवाद किया। दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' तथा हर्ष के 'नागानन्द' का अनुवाद क्रमशः हरदत्त और हरदयालु सिंह ने (१६३१) और (१६३५) में किया। 'मध्यम व्यायोग' का अनुवाद (१६२५) में गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।

पाश्चात्य साहित्य की ओर भी हमारा ध्यान बना रहा। शेक्सपियर के अतिरिक्त अंग्रेजी से गाल्सवर्दी, रूसी से टालस्टाय, फ्रांसीसी से मोलियर तथा जर्मन से शीलर के प्रसिद्ध नाटकों का अनुवाद भी किया। बेलजियम के प्रसिद्ध कवि मारिस मेटरलिंक की छोटी नाटिकाओं का मर्मानुवाद बख्शीजी ने १६१६ ई० में ही प्रस्तुत किया था। ये अनुवाद प्रायः मूल भाषाओं से नहीं हुये।

बंगला के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सभी नाटकों का सुन्दर अनुवाद १६२५ तक प्रस्तुत हो गया था। इनके नाटकों ने हिन्दी नाट्य-कला को बहुत दूर तक प्रभावित किया। रवि बाबू के प्रसिद्ध नाटकों—'डाकघर', 'विसर्जन' 'व्यंग कौतुक', 'मुक्तधारा', 'राजारानी', 'चिरकुमार सभा,' 'चित्रांगदा'—के अनुवाद भी १६२८ तक हिन्दी में हो चुके थे। गिरीशचन्द्र घोष के कुछ नाटकों का हिन्दी रूपान्तर भी हुआ। उपर्युक्त सभी नाटकों में सर्वाधिक लोकप्रियता द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों को प्राप्त हुई। 'प्रसाद' के नाटकों पर उनका प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

१. "अन्यापदेशिक नाटकों को कुछ लोगों ने प्रतीकात्मक नाटक भी कहा है। किन्तु प्रतीक और अन्यापदेश के अर्थ में मौलिक अन्तर है। अन्यापदेश अंग्रेजी के एलोगरी का समानार्थी है। अन्यापदेश तथा प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में धर्म अथवा प्रभाव का साम्य है। अन्यापदेश में कर्मी-कर्मी भाव या मनोवेग का मानवीकरण भर कर दिया जाता है; उसके स्थान पर प्रतीक का विधान नहीं किया जाता।"

—हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ४१

'प्रसाद' के उपरान्त सर्जनात्मक एवं विकास की दृष्टि से समस्या-नाटकों का प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है किन्तु इस पर विचार करने के पूर्व प्रसादयुगीन धाराओं के प्रसादोत्तर विकास का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। 'प्रसाद' के उपरान्त भी पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा चलती रही।

पौराणिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट के 'अंबा' (१९३५), 'सगर-विजय' (१९३७), 'मत्स्यगंधा' (१९३७) और 'विश्वामित्र' (१९३८); विश्वम्भरसहाय व्याकुल का 'बुद्धदेव' (१९४०), गोविन्ददास का 'कर्ण' (१९४६), चतुरसेन शास्त्री का 'मेघनाद' (१९३६), पांडेय बेचन शर्मा उग्र का 'गंगा का बेटा' (१९४०), डा० लक्ष्मणस्वरूप का 'नल दमयन्ती' (१९४१), रामनाथ तिवारी का 'श्रवणकुमार' (१९४६) और लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत 'नारद की वीणा' (१९४६), उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त राम और कृष्ण की कथाओं से सम्बन्धित नाटक भी लिखे गये हैं। सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य' (१९३५) तथा चतुरसेन शास्त्री का 'सीताराम' (१९३६) और 'श्रीराम' (१९४०), रामकुमार वर्मा का 'राजरानी सीता' (१९४७) रामकथा से सम्बद्ध उल्लेखनीय नाटक हैं। इसी प्रकार सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य' (उत्तरार्द्ध), उदयशंकर भट्ट का 'राधा' (१९४१) और किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' (१९३९) कृष्ण-कथा से सम्बद्ध उल्लेखनीय नाटक हैं।[1] पौराणिक नाटकों के प्रधान लेखक उदयशंकर भट्ट हैं। भट्टजी पौराणिक आख्यानों की पृष्ठ-भूमि में आधुनिक सामाजिक समस्याओं को बड़ी कुशलता के साथ चित्रित करते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में उदयशंकर भट्ट का 'विक्रमादित्य' (१९३३) 'दाहर' या 'सिन्ध पतन' (१९३४) 'मुक्तिपथ' (१९४४), 'शक-विजय' (१९४९), द्वारकाप्रसाद मौर्य का 'हैदर अली' (१९३४) भगवतीप्रसाद पांथरी का 'पन्ना' (१९३४), श्यामाकान्त पाठक का 'बुन्देलकेसरी' (१९३४), धनीराम का 'वीरा या पन्ना' (१९३४); चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१९३५) और 'रेवा' (१९४२), गोविन्दवल्लभ पन्त का 'राजमुकुट' (१९३५) और 'अन्तपुर का छिद्र' (१९४०); कुमार हृदय का 'भग्नावशेष' (१९३६), गोपालचन्द्र देव का 'राजा शिवाजी' (१९३७), कैलाशनाथ भटनागर का 'कुणाल' (१९३७) और 'श्रीवत्स' (१९४१), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'जय पराजय' (१९३७), हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षाबन्धन' (१९३४), 'शिवा-साधना' (१९३७), 'प्रतिशोध' (१९३७), 'स्वप्नभंग' (१९४०), 'आहुति' (१९४०) और 'मन्दिर' (१९४२), परिपूर्णानन्द का

---

१. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—पृष्ठ २३०

'रानी भवानी' (१९३८); सत्येन्द्र का 'मुक्ति यज्ञ' (१९३८); मायादत्त नैथानी का 'संयोगिता' (१९३९); मुरारीशरण मांगलिक का 'मीरा' (१९४०); शंभुदयाल सक्सेना का 'साधनापथ' (१९४०); सेठ गोविन्ददास का 'कुलीनता' (१९४०), 'हर्ष' (१९३५), शशिगुप्त (१९४२); लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुडध्वज', 'वत्सराज', 'अशोक' (१९३७); वृन्दावनलाल वर्मा का 'पूर्व की ओर' (१९५०), 'झाँसी की रानी' (१९४८), 'बीरबल' (१९५०), 'काश्मीर का काँटा' (१९४८), 'फूलों की बोली' (१९४७) तथा हरिश्चन्द्र सेठ का 'पुरु और एलेक्जेंडर' (१९४२) उल्लेखनीय हैं।

इन ऐतिहासिक नाटकों में हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'प्रसाद' की परम्परा में माने जाते हैं। यद्यपि इनमें भारतीय इतिहास का क्रमबद्ध रूप नहीं प्रस्तुत किया गया है किन्तु युग-विशेष से सम्बद्ध ऐतिहासिक सामग्री की रक्षा तथा युगानुकूल सांस्कृतिक वातावरण उपस्थित करने की चेष्टा अवश्य की गई है। साथ ही इधर रंगमंच की सुविधा का ध्यान रखते हुये अन्य नाटककारों ने (Stage-setting) रंगमंचीय प्रसाधनों के निर्देशन का पूरा ध्यान रखा है। कुछ नाटककारों ने प्राचीन ऐतिहासिक आख्यानों की आड़ में आधुनिक समस्याओं का चित्रण किया है। यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' में भी परिलक्षित होती है किन्तु 'प्रसाद' के नाटकों में आधुनिकता की झलक भर दिखाकर सन्तोष कर लिया गया है। इधर यह प्रवृत्ति बढ़ने लगी है। उदयशंकर भट्ट के 'अम्बा' नाटक में स्त्रियों के अधिकारों का प्रश्न उठाया गया है। अम्बालिका कहती है—"चुप, हमें पति के प्रति कुछ कहने का अधिकार नहीं है।" अम्बिका फूट पड़ती है—"हमारा यह अधिकार किसने छीन लिया, समाज ने ही तो? मैं तो कहती हूँ, हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं। आत्मसमर्पण हमारा धर्म बना दिया गया है। इस अनूठे धर्म ने हमारी अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है बहन!" इसी प्रकार गोविन्ददास के 'कर्त्तव्य' नाटक में तो पूरे कथानक की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर दी गई है। वस्तुत. इस प्रकार के नाटकों में पात्रों के नाम और घटनाओं के स्थान के अतिरिक्त सब कुछ आधुनिक हो गया है।

समस्या नाटक—'प्रसाद' के पश्चात् नाटकों की दिशा में क्रान्तिकारी परिवर्तन समस्या-नाटकों की रचना से हुआ। वस्तुतः वर्तमान युग समस्या-नाटकों का युग कहा जा सकता है। इसीलिये ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के मूल में भी समस्यायें समाविष्ट की जाने लगी हैं। एकांकी नाटक भी प्रायः किसी-न-किसी समस्या को लेकर ही सामने आते हैं। ये समस्या-नाटक प्रेरणा के लिये पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शा के ऋणी हैं। सन् १८७५ में ही यूरोप में इब्सन ने नाटकों की रचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित किया था। उसने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक घात और प्रतिघात में व्यक्ति

की रक्षा के लिये अपनी सारी शक्ति लगा दी। उन दोनों (व्यक्ति और समाज) के द्वन्द्वों का चित्रण उसने बड़ी मार्मिकता, कुशलता और प्रवीणता के साथ किया है।[1] लगभग इसी समय इंगलैण्ड में बर्नार्ड शा की धूम मची। १९२६ ई० में उन्हें नोबेल पुरस्कार भी मिला। उन्होंने भी बौद्धिक एवं समस्या-प्रधान नाटक लिखे। यह प्रवृत्ति हमारे साहित्यकारों को भी प्रभावित करने लगी और धीरे-धीरे यहाँ भी समस्या-नाटकों की धारा फूट निकली। इस श्रेणी के नाटकों में प्रेमसहाय सिंह का 'नवयुग' (१९३४), लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१), 'संन्यासी' (१९३१), राजयोग (१९३४), 'सिन्दूर की होली' (१९३४), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'आधीरात' (१९३७), बेचन शर्मा 'उग्र' का 'डिक्टेटर' (१९३७), 'चुम्बन' (१९३८), 'आवारा' (१९४१), गोविन्द वल्लभ पन्त का 'अंगूर की बेटी' (१९३७), भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'छलना' (१९३९), सूर्यनारायण शुक्ल का 'खेतिहर देश' (१९३९), गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'सोहाग बिन्दी' (१९३५), भुवनेश्वरप्रसाद का 'कारवाँ' (१९३५), गोविन्द-दास का 'विकास' (१९४१), 'सेवापथ' (१९४०), 'प्रकाश' (१९३५), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'स्वर्ग की झलक' (१९४०), 'लक्ष्मी का स्वागत' (१९३५), 'देवताओं की छाया' (१९४०), पृथ्वीनाथ शर्मा का 'दुविधा' (१९३८) और 'अपराधी' (१९३९) तथा हरिकृष्ण प्रेमी का 'छाया' (१९४१) और 'बंधन' (१९४१) प्रमुख हैं।

ये नाटक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं। आज का बुद्धिवादी नाटककार यह मानकर चलता है कि कपोल-कल्पना, कृत्रिमता, आडम्बर, पाखंड और खोखले आदर्शवाद से आधुनिक शिक्षित समुदाय के मानसिक, आध्यात्मिक और नैसर्गिक तृष्णा की शान्ति कदापि नहीं हो सकती, चाहे वे कितने ही सुन्दर और मनोरंजक क्यों न हों। रूढ़ियों की जंजीरों को—चाहे वे लोहे की हों या सोने की, चाहे उन पर धर्म, समय, समाज और अतीत सभ्यता की छाप क्यों न पड़ी हो—तोड़ना और साहित्य एवं समाज को स्वतन्त्रता और नैसर्गिकता की नींव पर रचना करना ही आधुनिक बौद्धिक प्रयास का लक्ष्य है।[2]

इस दृष्टिकोण को लेकर रचे गये समस्या-नाटकों में आवश्यक गिने चुने पात्र होते हैं। कार्य व्यापार नियन्त्रित होता है। काव्यमयी पदावली और गीत प्रायः नहीं होते। इनका पट-विस्तार सीमित होता है। फलतः जीवन की विस्तृत भूमि इनमें नहीं आ सकती। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में समस्या-नाटकों के प्रतिनिधि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र माने जाते हैं।

---

१. 'सिन्दूर की होली' का प्राक्कथन—डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी।
२. 'सिन्दूर की [illegible]—डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी।

एकांकी नाटक—हिन्दी-साहित्य में एकाकी नाटकों के सूत्रपात के विषय में आलोचकों की सम्मतियाँ एक नहीं है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार 'हिन्दी-एकांकी का इतिहास गत दस वर्षों में सिमटा हुआ है।' श्रीरामनाथ 'सुमन', 'चारुमित्रा' (१९४२) की भूमिका में डॉ० रामकुमार वर्मा को हिन्दी-एकांकी का जन्मदाता मानते हैं। डॉ० सत्येन्द्र इसका सूत्रपात भारतेंदु से स्वीकार करते हैं। डॉ० सोमनाथ गुप्त 'प्रसाद' के 'एक घूंट' से एकाकी नाटकों का प्रारम्भ मानते हैं। अपने नवीन एकाकी संग्रह 'एकांकी एकावली' में प्रो० रामचन्द्र शर्मा भारतेंदु को ही एकांकी का जन्मदाता कहते हैं।

जहाँ तक एक अंक वाले नाटकों का प्रश्न है, संस्कृत-साहित्य में भी 'भाण', 'व्यायोग', 'अंक', 'वीथी', 'गोष्ठी' तथा 'नाट्य रासक' एक ही अंक के होते थे। हिन्दी में भारतेंदु ने 'विषस्य विषमौषधम्' (भाण) लिखकर संस्कृत की परम्परा को पुनर्जीवित करना चाहा। किन्तु वर्तमान हिन्दी-एकाकी नाटकों की परम्परा को हम यहाँ तक नहीं ले जा सकते। इसके उदय के मूल में जीवन की संकुलता बौद्धिक दृष्टिकोण, समस्याओं की प्रभावात्मक अभिव्यक्ति का प्रयास आदि अनेक कारणों ने कार्य किया है। वस्तुतः एकांकी नाटकों की अखण्ड परम्परा १९३५ ई० से प्रारम्भ होती है।

हिन्दी के प्रमुख एकांकी नाटककारों में भुवनेश्वर प्रसाद, गणेशप्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा, सत्येन्द्र, द्वारकाप्रसाद, सद्गुरुशरण अवस्थी, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास, प्यारेलाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण प्रेमी, भगवतीचरण वर्मा, विष्णु प्रभाकर, डॉ० धर्मवीर भारती उल्लेखनीय हैं।

एकाकी नाटकों के कई रूप देखे जा सकते हैं।—(क) एकपात्री एकाकी (ख) भाव प्रधान एकाकी (ग) झाँकी (घ) प्रहसन (ङ) रेडियो एकांकी (फ़ीचर) आदि कई रूप हिन्दी-साहित्य में प्रचार पा रहे हैं।

सन् १९४१ ई० से हिन्दी-एकांकी के कलात्मक विकास में ऐतिहासिक परिवर्तन हुआ है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य सिमट कर एकांकी नाटकों के रूप में ही विकसित होगा। रेडियो द्वारा नाटकों के प्रसारण की व्यवस्था ने एकाकी नाटकों के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। चलचित्रों के विकास ने नाटकों का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। यह अवरोध बहुत कुछ रेडियो के प्रचार एवं प्रसार के साथ दूर होता जा रहा है।

एकांकी की विशेषतायें—एकाकी नाटकों को अन्य नाटकों से पृथक् करते हुये डॉ० रामकुमार वर्मा लिखते हैं—"एकाकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। इनमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति

खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है। उसमें लता की भाँति फैलने की विशृंखलता नहीं।" डॉ॰ नगेन्द्र ने एकांकी की सभी विशेषताओं को एक साथ ग्रहण करते हुये कहा है—'एकांकी में हमें जीवन का क्रमबद्ध विवेचन न मिलकर, उसके एक पहलू, एक महत्वपूर्ण घटना, एक विशेष परिस्थिति अथवा उद्दीप्त क्षण का चित्र मिलेगा। उसके लिये एकता एवं एकाग्रता अनिवार्य है। किसी प्रकार का बिखराव उसे सह्य नहीं। एकाग्रता में आकस्मिकता की झकोर अपने आप आ जाती है और इस झकोर में स्पन्दन पैदा हो जाता है। विदेश के संकलन-त्रय का निर्वाह भी इस एकाग्रता में काफी सहायक हो सकता है पर वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। प्रभाव और वस्तु का ऐक्य तो अनिवार्य है ही, लेकिन स्थान और काल की एकता का निर्वाह किये बिना भी सफल एकांकी की रचना हो सकती है और प्रायः होती भी है।" श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने एकांकी कला पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुये कहा है—"एकांकी नाटक का सुनिश्चित और सुकल्पित एक लक्ष्य होता है। उसमें केवल एक ही घटना परिस्थिति अथवा समस्या प्रधान होती है। कार्य-कारण की घटनावली अथवा कोई गौण परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उसमें स्थान नहीं होता है।...... वह तो समूचा ही केन्द्रीभूत आकर्षण है।"

उपर्युक्त विद्वानों के विचारों पर ध्यान रखते हुये एकांकी नाटकों के आवश्यक तत्त्वों को निम्नलिखित रूप में लक्ष्य किया जा सकता है।

(क) एकांकी में जीवन की किसी एक घटना, एक पक्ष या एक समस्या का ही चित्रण होना चाहिये।

(ख) घटना, कुतूहल, प्रवाह, अंतर्द्वन्द्व, निश्चित उद्देश्य एवं संतुलन लेकर विकसित तथा प्रभावपूर्ण और आकस्मिक ढंग से समाप्त होनी चाहिये।

(ग) एकांकी में स्थान एवं काल तथा प्रभाव एवं वस्तु की एकता पर ध्यान देना चाहिये।

(घ) पात्र, सीमित एवं कथा से पूर्णतः सम्बद्ध होने चाहिये।

एकांकी नाटकों का भविष्य—हिन्दी में एकांकी नाटकों के विकास को लक्ष्य करते हुये, इनके उज्ज्वल भविष्य की सभावना की जा सकती है। जीवन की संकुलता की वृद्धि के साथ हमारे मनोरंजन की सीमायें भी सिमटती जायेंगी। हम अपने जीवन को उसकी विशदता एवं पूर्णता में ग्रहण न कर सकेंगे। ... स्थिति में लघुकथाओं एवं एकांकी नाटकों की रचना का विकास अवश्य- ... है ... के प्रचार एवं प्रसार से भी एकांकी नाटकों को पर्याप्त प्रश्रय ... ही उनकी टेकनीक में भी पर्याप्त परिवर्तन होने की ... के स्थान पर श्रव्य होने लगा है। रेडियो में प्रसारित

नाटकों का माध्यम ध्वनि है। रंगमंच का कार्य ध्वनि से ही लिया जाने लगा है। और इस प्रकार के नाटकों के दो भिन्न रूप भी बन गये हैं—**'ध्वनि रूपक'** और **'ध्वनि नाटक'**। 'ध्वनि रूपकों' में आवश्यक विवरण सूत्रधार (नैरेटर) प्रस्तुत करता है। 'ध्वनि नाटकों' में श्रोता, मंच और अभिनय दोनों की कल्पना स्वयं कर लेता है।

गीति नाटच—आधुनिक नाटकों की एक अन्य विधा, गीति-नाटचों की है। आलोचकों के अनुसार निराला का 'पंचवटी प्रसंग' हिन्दी का प्रथम गीति-नाटच है। विधान की दृष्टि से गीति-नाटच भी एकांकी नाटकों के अन्तर्गत परिगणित हो सकते हैं, किन्तु अपनी कुछ निजी विशेषताओं के कारण इन्हें नाटकों की एक पृथक् विधा मानना ही समीचीन है। इनमें भावों की एकरूपता, काव्यात्मकता एवं गीति-तत्त्वों का प्राधान्य होता है। उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक प्रसंगों को लेकर कुछ सुन्दर गीतिनाटच लिखे हैं। इधर पन्त जी के गीति-नाटचों का एक संग्रह 'रजतशिखर' नाम से प्रकाशित हुआ है। भगवती बाबू का 'तारा' भी सफल गीति-नाटच है।

गद्य-साहित्य के अन्य रूप

जीवनी-साहित्य—भारतवर्ष में जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण का प्राधान्य होने के कारण जीवनी लिखने की परम्परा विकसित न हो सकी। सन्तों के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होने के कारण भक्तमाल लिखने की प्रवृत्ति अवश्य प्रचलित रही है। किन्तु इनमें अलौकिकताओं के अत्यधिक समावेश के कारण इन्हें विशुद्ध जीवनचरित्र नहीं कह सकते। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक युग में पाश्चात्य जीवन दर्शन के प्रभाव स्वरूप जीवनी लिखने की परम्परा पल्लवित हो रही है। अतः जीवनी-साहित्य भी गद्य-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

विषय की दृष्टि से जीवनी-साहित्य का विभाजन करते हुये डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने निम्नलिखित प्रमुख कोटियाँ निर्धारित की हैं—

(क) आत्मचरित्र (ख) संतचरित्र (मध्ययुगीन तथा आधुनिक) (ग) ऐतिहासिक चरित्र (घ) राजनैतिक चरित्र (ङ) विदेशीय चरित्र (च) स्फुट चरित्र।

हिन्दी-साहित्य में आत्मचरित्र बहुत कम लिखे गये हैं। प्राचीनतम आत्मचरित्र बनारसीदास जैन लिखित 'अर्द्धकथा' (१६६८ सं०) है। इसके सम्बन्ध में सम्पादक का दावा है कि 'कदाचित् समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषा-साहित्य में इससे पूर्व की कोई आत्मकथा नहीं है।' इसके पश्चात् स्वामी दयानन्द लिखित स्वरचित जीवन-चरित्र (१६१७ सं०), सत्यानन्द अग्निहोत्री लिखित 'मुझमें देव-जीवन का विकास' (१६१०), 'अपने देव-जीवन के विकास और जीवन व्रत की सिद्धि के लिये मेरा अद्वितीय त्याग' (१६१५), 'अपने छोटे भाई के सम्बन्ध से मेरी सेवायें (१६२१), भाई परमानन्द लिखित 'आप बीती' (१६२१), रामबिलास शुक्ल लिखित 'मैं क्रान्तिकारी कैसे बना' (१६३३), भवानी दयाल संन्यासी की 'प्रवासी की कहानी' (१६३९), राजाराम की 'मेरी कहानी' (१६३९), घनश्यामदास बिड़ला के 'डायरी के कुछ पृष्ठ' (१६४१), तथा डा० राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्मकथा' (१६४७) इस विषय की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।[१] प्रेमचन्दजी की प्रेरणा से 'हंस' के आत्मकथांक में कुछ साहित्यिकारों की संक्षिप्त आत्मकथायें आ गई हैं। फिर भी हिन्दी में आत्मकथात्मक साहित्य अभी नगण्य ही माना जायगा।

आधुनिक संतों में सबसे अधिक जीवनियाँ स्वामी दयानन्द की लिखी गई हैं। गोपाल शर्मा शास्त्री कृत 'दयानन्द-दिग्विजय' (१८८१), चिम्मनलाल वैश्य का 'स्वामी दयानन्द', स्वामी सत्यानन्द का 'दयानन्द प्रकाश' (१६१६), इस विषय की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। अन्य सन्तों में 'स्वामी विशुद्धानन्द', 'रामकृष्ण परमहंस', 'स्वामी रामतीर्थ', 'स्वामी श्रद्धानन्द' आदि के चरित्र लिखे गये हैं।

---

१. हिन्दी पुस्तक साहित्य—पृष्ठ १३१

एतिहासिक चरित्रों में देवीप्रसाद मुंसिफ लिखित 'मानसिंह' (१८८६), 'मालदेव' (१८८६), 'उदयसिंह महाराणा' (१८६३), 'जसवंतसिंह' (१८६६), 'प्रतापसिंह महाराणा' (१६०३) तथा 'संग्राम सिंह राणा' (१६०४); राधाकृष्ण दास लिखित 'आर्य चरितामृत बाप्पारावल' (१८८४), कार्तिकप्रसाद लिखित 'महाराज विक्रमादित्य' (१८६३) तथा 'अहिल्याबाई' (१८६७), रामनारायण दूगड़ कृत 'पृथ्वीराज चरित्र' (१८६६), जगमोहन वर्मा का 'बुद्धदेव' (१६१७), सम्पूर्णानन्द कृत 'सम्राट हर्षवर्धन' (१६२०), 'सम्राट अशोक' (१६२४), 'महाराज छत्रसाल' (१६१६), 'महादाजी सिंधिया' (१६२०), 'चेतसिंह और काशी का विद्रोह' (१६१६), उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बाबर, हुमायूँ, अकबर, शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, रणजीत सिंह आदि अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियाँ प्रस्तुत की गई हैं।

राजनैतिक चरित्रों में गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'दादा भाई नौरोजी' (१६४६), महादेव भट्ट कृत 'लाजपत महिमा' (१६०७) तथा 'अरविन्द महिमा' (१६०८), मुकुन्दीलाल वर्मा कृत 'कर्मवीर गाँधी' (१६१३), सम्पूर्णानन्द कृत 'धर्मवीर गाँधी' (१६१४), रामचन्द्र वर्मा का 'महात्मा गाँधी' (१६१६), राजेन्द्रप्रसाद लिखित 'चम्पारन में महात्मा गाँधी' (१६१६), गोपीनाथ दीक्षित लिखित 'जवाहरलाल नेहरू' (१६३७), मन्मथनाथ गुप्त लिखित 'चन्द्रशेखर आजाद' (१६३८), पं० सीताराम चतुर्वेदी लिखित 'महामना मालवीय' (१६४८), जगदीश नारायण तिवारी लिखित 'सुभाषचन्द्र बोस' (१६४०), आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

विदेशीय महापुरुषों की जीवनियाँ हिन्दी में अधिक नहीं लिखी गई हैं। रमाशंकर व्यास कृत 'नैपोलियन बोनापार्ट' (१८८३), सिद्धेश्वर वर्मा कृत 'गैरीबाल्डी' (१६०१), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत 'कर्नल जेम्स टाड' (१६०२), नाथूराम प्रेमी कृत 'जान स्टुअर्ट मिल' (१६१२), शिवनारायण द्विवेदी कृत 'कोलम्बस' (१६१७), वेनीप्रसाद लिखित 'महात्मा सुकरात' (१६१७), सुरेन्द्रनाथ तिवारी लिखित 'वेदज्ञ मैक्समूलर' (१६२२), सत्यव्रत लिखित 'अब्राहम लिंकन' (१६२८), शिवकुमार शास्त्री कृत 'नेलसन की जीवनी' (१६२८), सत्यभक्त लिखित 'कार्लमार्क्स' (१६३३), सदानन्द भारती लिखित 'महात्मा लेनिन' (१६३४), चन्द्रशेखर शास्त्री कृत 'हिटलर महान' (१६३६), रामद्वबाल सिंह लिखित 'स्टालिन' (१६३६) आदि महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

स्फुट चरित्रों में द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी लिखित 'गौरीशंकर उदयशंकर ओझा' (१६१५), किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'नन्हेलाल गोस्वामी' (१६१०) तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' कृत पटवारीदीन भट्ट की हास्यपूर्ण जीवनी उल्लेखनीय है।

ललितकला-सम्बन्धी साहित्य

हिन्दी-साहित्य में ललित कलाओं का अध्ययन अभी बिल्कुल नहीं हुआ है। 'संगीत' सम्बन्धी उत्कृष्ट कृतियों में विष्णु दिगम्बर पालुस्कर कृत 'संगीत तत्त्व दर्शक' (१९२८), भातखण्डेकृत 'श्रीमल्लक्ष्य-संगीतम्' (१९३४) तथा शिवप्रसाद त्रिपाठी कृत 'शिव संगीत प्रकाश' (१९३४) महत्वपूर्ण हैं। विशिष्ट राग-रागिनियों के विषय में भी कुछ अध्ययन प्रकाशित हुये हैं। विश्रुत कला पारखी रायकृष्ण-दासजी का 'भारतीय संगीत कला' ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

संगीत

चित्रकला के पारखी समस्त हिन्दी-साहित्य में केवल दो ही एक व्यक्ति हैं। इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण नाम बाबू रायकृष्णदास का है। चित्रकला सम्बन्धी उनके कुल तीन ग्रंथ प्रस्तुत हैं। 'भारतीय चित्रकला' प्रकाशित है; 'चित्रचर्या' तथा भारतीय चित्रकला पर एक वृहद् ग्रंथ अभी अप्रकाशित है।[1] चित्रलेखन-कला पर एम० पी० साहोविया की 'चित्रलेखन' (१९३०) पुस्तक महत्वपूर्ण है। श्री० एन० सी० मेहता की 'भारतीय चित्रकला' भी इस प्रसंगमें उल्लेखनीय है।

चित्रकला और मूर्तिकला

मूर्तिकला सम्बन्धी कोई महत्वपूर्ण पुस्तक अभी देखने में नहीं आई। राय कृष्णदासजी की 'भारतीय मूर्तिकला' अभी अप्रकाशित है।

इधर चित्रपटों के अत्यधिक प्रचार के कारण उसकी सामान्य कला पर भी दो एक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव का 'सिनेमा विज्ञान' (१९३५) तथा दीनानाथ व्यास कृत 'प्रतिन्यास लेखन-कला' (१९३५) [दृश्य संकेत लेखन कला से सम्बद्ध] इस विषय की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

'कला' के विवेचन, इतिहास तथा सम्वेदनात्मक परिचय से सम्बद्ध कुछ कृतियाँ भी इधर सामने आई हैं। श्री० आर० एस० रावल लिखित 'अजन्ता के कला मण्डप' हंसकुमार तिवारी की 'कला' (१९३७), डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' तथा 'डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल कृत 'कला और संस्कृति' (१९५२) अपने ढंग की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

उपयोगी कला

हिन्दी-गद्य-साहित्य के भाण्डार में उपयोगी कलाओं से सम्बद्ध कृतियाँ भी अब प्राप्त होने लगी हैं। अभी इनकी संख्या बहुत कम है। विवेचन का स्तर सामान्य एवं परिचयात्मक है। प्रायः कृषि, वास्तुशिल्प, सिलाई, मिट्टी के काम,

---

१. द्विवेदी-पत्रावली—पृष्ठ १११

युद्ध-कला, वास्तु-शिल्प, गृह-शिल्प, आयुध-शिल्प, व्यापार-कला, स्काउट-कला, से सम्बद्ध रचनायें प्रकाशित हुई है।[1]

स्वास्थ्य-सम्बन्धी कृतियाँ

स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकों को दो वर्गों में रख सकते हैं। (क) विविध चिकित्सा-प्रणालियों से सम्बद्ध विशिष्ट कृतियाँ (ख) स्वास्थ्य रक्षा के सामान्य नियम।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आयुर्वेद प्रणाली, एलोपैथिक, होम्योपैथिक, मंत्र-चिकित्सा, पशु-चिकित्सा तथा प्राकृतिक चिकित्सा आदि से सम्बन्धित रचनायें आती हैं। दूसरे वर्ग में भोजन, सफाई तथा जीवन-चर्या के सामान्य नियमों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तकें आती हैं। उपर्युक्त दोनों वर्गों से सम्बद्ध रचनायें अभी हिन्दी में बहुत कम हैं। सबसे अधिक पुस्तकें आयुर्वेद सम्बन्धी प्रकाशित हुई हैं। इधर होम्योपैथिक का प्रचार एवं प्रसार बढ़ जाने से इस विषय की पुस्तकें भी हिन्दी में देखी जाने लगी हैं। मंत्र-चिकित्सा का इस वैज्ञानिक युग में लोप होना आश्चर्य की बात नहीं। प्राकृतिक चिकित्सा की ओर भी विगत कुछ वर्षों से हमारा ध्यान गया है। गोरखपुर के श्री विट्ठलदास मोदी ने तो 'आरोग्य मन्दिर' की स्थापना करके इस पद्धति का सफल प्रयोग भी किया है। इस विषय पर आपने 'रोगों की सरल चिकित्सा', 'जीने की कला', 'उपवास से लाभ', 'स्वास्थ्य कैसे पाया?' आदि कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। श्री केदारनाथ गुप्त तथा श्री सुधीर कुमार मुकर्जी भी इस दिशा में दिलचस्पी के साथ प्रयत्नशील हैं। स्वर्गीय श्री जानकीशरण वर्मा कृत 'रोगों की अचूक चिकित्सा', 'स्वस्थ कैसे रहें?' तथा 'अचूक चिकित्सा के प्रयोग' इस विषय की प्रामाणिक कृतियाँ हैं।

समाजशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य

समाजशास्त्र के अन्तर्गत 'राजनीति', 'अर्थशास्त्र', 'वाणिज्य' और 'व्यापार', 'तर्क शास्त्र', 'नागरिक शास्त्र', 'मनोविज्ञान' आदि से सबंधित पुस्तकें आती हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में शिक्षा-माध्यम हिन्दी हो जाने से इन विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगी हैं।

राजनीति पर लिखी गई पुस्तकों में 'कौटिल्य की शासन पद्धति' (भगवानदास केला), 'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति' (अनन्त सदाशिव अल्तेकर), 'भारतीय राजनीति: विक्टोरिया से नेहरू तक' (रामगोपाल पत्रकार), 'भारतीय राजनीति और शासन पद्धति' (कन्हैयालाल वर्मा), 'भारतीय संविधान तथा नागरिक

---

१. इन विषयों से सम्बद्ध पुस्तकों की विस्तृत सूची के लिये डॉ० माताप्रसाद गुप्त का हिन्दी-पुस्तक-साहित्य—पृष्ठ ६२, ६३ तथा पृष्ठ १६०, १६१ देखिये।

जीवन' (राजनारायण गुप्त), 'राजनीति सिद्धान्त' (गोरखनाथ चौबे), 'राजनीति शास्
(डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार), 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' (आचार्य नरेन्द्रदेव
'शासन पद्धति' (डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार) आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

अर्थशास्त्र, वाणिज्य और व्यापार सम्बन्धी पुस्तकें भी इधर पर्याप्त संख्या
प्रकाशित हुई हैं। 'अर्थशास्त्र' (मुरलीधर जोशी, सेवाराम शर्मा), 'अर्थशास्
सिद्धान्त' (ओम प्रकाश केला), 'अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त' (भगवान
अवस्थी), 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (कालिका प्रसाद भटनागर), 'अर्थशास्त्र
परिचय' (अमरनारायण अग्रवाल), 'द्रव्यशास्त्र' (मुरलीधर जोशी), 'ग्रामीण
शास्त्र' (ब्रजगोपाल भटनागर), 'आधुनिक अर्थशास्त्र' (प्रो० केदारनाथ),
लोक अर्थशास्त्र' (देवदत्त शास्त्री), 'सर्वोदय अर्थव्यवस्था' (भगवानदास
'हमारी आर्थिक एवं वाणिज्य सम्बन्धी प्रणालियाँ' (लक्ष्मीनारायण अग
'मुद्राशास्त्र और बैंकशास्त्र' (प्रो० केदारनाथ), 'बुककीपिंग परिचय' (अमर
अग्रवाल) आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

नागरिक शास्त्र की लोकप्रियता भी इधर बढ़ी है। इस क्षेत्र में
वानदास केला, श्री गोरखनाथ चौबे, श्री बेनीप्रसाद, श्री राजनारायण
श्री पुणताम्बेकर की कृतियाँ विशेष लोकप्रिय हुई हैं।

तर्कशास्त्र पर बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं। श्री गुलाबराय का
रामस्वरूप सिंह नौलखा का 'पाश्चात्य न्यायशास्त्र', डॉ० जयप्रकाश के
न्याय प्रवेशिका', श्री भानु प्रताप सिंह का 'न्यायशास्त्र निगमन' तथा श्री
कोंदिया का 'तर्कशास्त्र' इस विषय की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी कुछ पुस्तकें इधर निकली हैं। 'आ
विज्ञान' (लालजी राम शुक्ल), 'मनोविश्लेपण और मानसिक क्रि
पद्मा अग्रवाल), 'मानव मनोविज्ञान' (डॉ० द्वारिका प्रसाद), 'म
(हंसराज भाटिया), 'सामान्य मनोविज्ञान' (अर्जुन चौबे काश्यप)
मनोविज्ञान' (प्रो० शिवानन्द शर्मा) आदि कृतियाँ महत्वपूर्ण हैं।

शिक्षा-साहित्य

शिक्षा-साहित्य के अन्तर्गत 'शिक्षा-सिद्धान्त', 'शिक्षा-इतिहास
विज्ञान', 'शिक्षा-विधान', 'शिक्षा समस्यायें' आदि कई विषय आते
इन विषयों पर लिखी गई पुस्तकें नगण्य हैं। इस क्षेत्र में कार्य
श्री सीताराम चतुर्वेदी, श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री काल
ईश्वरचन्द्र शर्मा, श्री सीताराम जायसवाल, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, डॉ
... के नाम उल्लेखनीय हैं।

अध्यात्म, धर्म और दर्शन

उपर्युक्त विषयों से सम्बद्ध साहित्य आज के वैज्ञानिक युग में भी, हिन्दी-साहित्य में, अपेक्षाकृत बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित हो रहा है। उपर्युक्त विषयों पर लिखने वालों में डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० भगवानदास, श्री बलदेव उपाध्याय, श्रीगुलाब-राय, श्री राहुल सांकृत्यायन, श्रीरामावतार शर्मा, डॉ० फतह सिंह, श्री रामगोविन्द त्रिवेदी, श्री परशुराम चतुर्वेदी, श्री हरिभाऊ उपाध्याय, श्री रामदास गौड़, डॉ० अवध उपाध्याय, डॉ० देवराज, डॉ० रामानंद तिवारी, डॉ० चक्रधर शर्मा आदि प्रमुख हैं।

इतिहास

हिन्दी में प्रकाशित इतिहास-ग्रंथों को विषय के अनुसार कई वर्गों में रखकर देख सकते हैं। (क) भारतवर्ष के इतिहास (ख) भारतेतर देशों के इतिहास (ग) राजवंशों के इतिहास (घ) स्थानीय इतिहास (ङ) जातीय एवं धार्मिक इतिहास (च) सांस्कृतिक इतिहास।

भारतवर्ष के इतिहास के युग विशेष या पूर्ण इतिहास पर प्रकाश डालने वाले विद्वानों में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री कालिदास कपूर, श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, रघुबीर सिंह, चन्द्रगुप्त वेदालंकार, प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० सम्पूर्णानन्द, श्री सतीशचन्द्र काला, श्री परमात्मा शरण, अमृतलाल चक्रवर्ती, श्री देवी प्रसाद मुंसिफ, श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा, श्रीसूरजमल जैन, श्री गंगाशंकर मिश्र आदि प्रमुख हैं।

भारतेतर देशों के इतिहास प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में श्री सोमेश्वर दत्त शुक्ल, श्री मिश्रबन्धु, डॉ० सम्पूर्णानन्द, पं० कृष्णविहारी मिश्र, श्री प्राणनाथ विद्यालंकार, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री रामशरण शर्मा प्रभृति लेखक उल्लेखनीय हैं।

राजवंशों का इतिहास प्रस्तुत करनेवालों में श्री देवी प्रसाद मुंसिफ, श्री लक्ष्मीनारायण गर्दे, श्री विश्वेश्वरनाथ, श्री रामनारायण यादवेन्दु आदि स्मरणीय हैं।

स्थानीय इतिहास-लेखकों में श्री रामनारायण दूगड़, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० सम्पूर्णानन्द, शिवपूजन सहाय, देवी प्रसाद मुंसिफ, लाला सीताराम, जगदीशसिंह गहलौत, श्री गोरेलाल तिवारी, रामशरण उपाध्याय, राय बहादुर हीरालाल आदि विद्वानों के प्रयत्न स्तुत्य हैं।

जातीय एवं धार्मिक इतिहास प्रस्तुत करने वाले विद्वानों में अधिकांश जैन या बौद्ध हैं। जैनियों से सम्बद्ध इतिहास-ग्रंथ अधिक लिखे गये हैं। प्रमुख लेखकों में शिवशंकर मिश्र, पूरनचंद नाहर, शीतल प्रसाद ब्रह्मचारी, हीरालाल जैन,

कामताप्रसाद जैन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, [illegible] शास्त्री, परमेश्वरीलाल गुप्त तथा अन्य सम्पादक उल्लेखनीय हैं।

सांस्कृतिक इतिहास लेखकों में श्री बलदेव उपाध्याय, श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० मोतीचन्द, डॉ० राजेन्द्र गुप्ता, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, श्री रामदास गौड़, श्री [illegible] शर्मा, श्री गुलाब राय, श्री शिवशंकर मिश्र आदि विद्वानों का नाम महत्त्वपूर्ण है।

कोश और व्याकरण

हिन्दी का प्रामाणिक कोश प्रस्तुत करने का अभूतपूर्व प्रयास सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा किया गया। फलस्वरूप 'हिन्दी शब्द सागर' और हिन्दी वैज्ञानिक कोश हिन्दी-संसार के सामने आये। इधर इस दिशा में अनेक प्रयत्न हुये हैं। व्यक्ति, साहित्यिक संस्थायें, विश्वविद्यालय, सभी ने इस दिशा में कदम उठाया है। सरकार भी हिन्दी-हितैषियों [illegible] कुछ करने को बाध्य हुई है। फलस्वरूप कुछ उल्लेखनीय कोश प्रकाशित हुये हैं।

'भौगोलिक शब्दावली', 'उर्दू हिन्दी कोश', 'रूप निघंटु', 'कृषि-शब्दावली', 'स्थानिक परिषद् शब्दावली' (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी), 'जीवन रसायन कोश', 'प्रत्यक्ष शारीर कोश', 'भूगर्भ विज्ञानकोश', 'शासन शब्द कोश' (सम्मेलन, प्रयाग), 'तुलसी शब्द सागर' (हिन्दुस्तानी एकेडमी), 'ब्रजभाषा सूरकोश' (लखनऊ विश्वविद्यालय), 'न्यायालय शब्दकोश' (हिन्दी सभा, सीतापुर), कुछ प्रसिद्ध हिन्दी सेवी संस्थाओं के स्तुत्य प्रयास हैं।

कोशों के इतिहास में डॉ० रघुवीर चिरस्मरणीय रहेंगे। 'आंग्ल-भारतीय महाकोश' तथा 'आंग्ल भारतीय पक्षि नामावली' ये दो उनके महान् प्रयत्न हैं। अन्य व्यक्तिगत प्रयोगों में 'इंग्लिश-हिन्दी डिक्शनरी' (सुखसम्पति राय भंडारी), राजनीति शब्दावली, अर्थशास्त्र शब्दावली' (भगवानदास केला) वाणिज्य शब्द-कोष (कालानाथ शर्मा), पारिभाषिक शब्दकोष (मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव), 'राजकीय कोष' (गोरखनाथ चौबे), 'बृहद् हिन्दी कोष' (ज्ञानमण्डल काशी), 'नालन्दा विशाल शब्दसागर' (न्यू इम्पीरियल बुकडिपो), 'राष्ट्रभाषा कोष' (श्री ब्रजकिशोर मिश्र), 'हिन्दी मुहावरा कोष' (भोलानाथ तिवारी), 'हिंदी राष्ट्रभाषा कोष' (इंडियन प्रेस) उल्लेखनीय हैं। इन प्रयासों का ऐतिहासिक महत्व है किन्तु इस दिशा में निकट भविष्य में बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

हिन्दी के प्रामाणिक व्याकरण बहुत कम हैं। कुछ इनीगिनी कृतियों का नामोल्लेख करके मौन हो जाना पड़ता है। 'हिन्दी व्याकरण' (कामताप्रसाद गुरु), 'राष्ट्रभाषा का प्रथम व्याकरण' (किशोरीदास वाजपेयी), 'ब्रजभाषा व्याकरण' (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), 'ब्रजभाषा व्याकरण' (किशोरीदास वाजपेयी) आदि कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

भाषा-विज्ञान

भाषा-विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें भी हिन्दी में अपेक्षाकृत थोड़ी हैं। 'भाषा-विज्ञान' (डॉ० मंगलदेवशास्त्री), 'भाषा विज्ञान', 'भाषा रहस्य', 'हिन्दी भाषा का विकास' (डॉ० श्यामसुन्दरदास), 'भोजपुरी भाषा और साहित्य' (डॉ० उदयनारायण तिवारी), 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' (डॉ० चाटुर्ज्या), 'भारत की भाषायें और भाषा-सम्बन्धी समस्यायें' (डॉ० चाटुर्ज्या), 'अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन' (डॉ० कपिलदेव), भाषा-विज्ञान (भोलानाथ तिवारी), 'दक्खिनी हिन्दी', 'सामान्य भाषा विज्ञान' (डॉ० बाबूराम सक्सेना), 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और 'व्रजभाषा' (डॉ० धीरेन्द्र वर्मा), 'पाली प्रबोध' (आद्यादत्त ठाकुर), 'प्राकृत विमर्श' (डॉ० सरयू प्रसाद अग्रवाल), 'हिन्दी कारकों का विकास' (शिवनाथ एम० ए०), 'शब्दों का जीवन' (भोलानाथ तिवारी) आदि कुछ थोड़ी ही कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

विज्ञान

विज्ञान सम्बन्धी साहित्य हिन्दी में नगण्य है। (क) भौतिक, (ख) रसायन, (ग) जीव विज्ञान, (घ) वनस्पति विज्ञान, (ङ) ज्योतिष, (च) गणित आदि सभी विज्ञान-धाराओं की प्रायः एक-सी स्थिति है। इधर विश्वविद्यालयों में हिन्दी-माध्यम होने से कुछ प्रेरणा मिली है। फलस्वरूप कुछ अनुवाद ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हुये हैं। मूल लेखकों की सख्या नगण्य है।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में डॉ० सम्पूर्णानन्द, सुखसम्पत्ति राय, डॉ० गोरख-प्रसाद, श्री खाडिलकर आदि कुछ विद्वान उल्लेखनीय हैं।

रसायनशास्त्र के क्षेत्र में गोपालस्वरूप भार्गव, फूलदेव सहाय वर्मा तथा डॉ० सत्यप्रकाश के नाम महत्वपूर्ण हैं।

जीव-विज्ञान के क्षेत्र में चम्पत स्वरूप, मुकुट विहारी वर्मा, सत्यप्रकाश, कृष्णानन्द गुप्त के प्रयत्न स्तुत्य हैं।

वनस्पति विज्ञान पर महेशचरणसिंह, सुखसम्पत्ति राय भंडारी, प्रवासीलाल तथा शालिग्राम भार्गव की पुस्तकें पठनीय हैं।

गणित पर हिन्दी में इधर कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। श्री ब्रजमोहन की 'ठोस ज्यामिति', सत्यप्रकाश की 'बीज ज्यामिति', सुखदेव पाण्डेय की 'त्रिकोण-मिति', जगन्नाथप्रसाद गुप्त की 'सरल त्रिकोण मिति', दुर्गाप्रसाद दुबे की 'सरल त्रिकोण मिति' तथा निर्विकारशरन की 'स्थिति विज्ञान' (Statics) उल्लेखनीय हैं।

ज्योतिष के क्षेत्र में गोरखप्रसाद का 'सौरपरिवार', नेमिचन्द्र जैन की 'भारतीय ज्योतिष' तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'भारतीय ज्योतिष' महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

विज्ञान के अन्य क्षेत्र आज अछूते पड़े हैं। पारिभाषिक शब्दों का अभाव, विश्वविद्यालयों में हिन्दी-माध्यम के प्रति तरह-तरह की नीति तथा हिन्दी-भाषी का भार भी इन धाराओं से अपरिचित होना, इन सभी सम्मिलित कारणों से विज्ञान की अनेक धारायें हिन्दी-साहित्य में समाविष्ट नहीं हो पा रही हैं। किन्तु भविष्य अन्धकारमय नहीं है। विश्वास है, कि निकट भविष्य में हिन्दी-भाषा, ज्ञान के विविध स्रोतों को अभिव्यक्ति देने में पूर्ण समर्थ होगी और फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य का भण्डार परिपूर्ण होगा।

खंड : तीन

मूल्यांकन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
बाबू श्यामसुन्दरदास
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
जयशंकर 'प्रसाद'
प्रेमचंद
वृंदावनलाल वर्मा
पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
गुलाबराय
पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
पं० परशुराम चतुर्वेदी
सुमित्रानंदन पंत
महादेवी
'निराला'
पं० माखनलाल चतुर्वेदी
'दिनकर'
जैनेन्द्र
इलाचंद्र जोशी
'अश्क'
'अज्ञेय'
यशपाल
राहुल सांकृत्यायन
पं० विश्वनाथ मिश्र
डॉ० भगीरथ मिश्र
डॉ० नगेन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु का उदय हिन्दी-साहित्य के लिये नवजागरण एवं गतिमयता का प्रेरक सिद्ध हुआ। हमारे जीवन का विकास अवरुद्ध सा हो गया था। पश्चिम की नवीन जीवन-प्रणाली के प्रकाश की ओर हम आकर्षित हो रहे थे। ऐसे समय में, एक ऐसी प्रतिभा की आवश्यकता थी जो प्राचीनता की भूमि पर खड़ी होकर नवीनता का स्वागत कर सकती। प्राचीन जीवन-मूल्यों और नवीन मान्यताओं को भावों की तरलता से सिक्त कर विचारों की रेखाओं से जोड़ देती। भारतेन्दु के रूप में ऐसी ही प्रतिभा का प्रस्फुटन हुआ।

नाटक—भारतेन्दु की प्रतिभा का पूर्ण विकास उनके नाटकों में देखा जा सकता है। गद्यकार के रूप में ये नाटक भारतेन्दु की बहुत बड़ी देन हैं। इन नाटकों को तीन वर्गों में रखकर देखा जा सकता है।

(क) अनूदित (ख) मौलिक (ग) अपूर्ण

	अनूदितकृति	मूलकृति	मूललेखक
(नाटक)	(१) विद्यासुन्दर (१८६८)	चौरपचाशिका	चौर कवि[1]
(रूपक)	(२) पाखंड विडंबन (१८७२)	प्रबोध चन्द्रोदय	कृष्णमिश्र
(व्यायोग)	(३) धनंजय विजय (१८७३)	धनंजय विजय	काञ्चन कवि
(सट्टक)	(४) कर्पूर-मंजरी (१८७५)	कर्पूरमञ्जरी	राजशेखर (प्राकृत भाषा का कवि)
(नाटक)	(५) मुद्राराक्षस (१८७८)	मुद्राराक्षस	विशाखदत्त

१. कुछ लोग इसे वररुचिकृत बतलाते हैं। भारतेंदु ने महाराज यतीन्द्रनाथ ठाकुर के 'विद्यासुन्दर' (बँगला) नाटक का आधार लिया था।

(६) दुर्लभ बंधु[1] (१८८०) (Merchant of Venice) शेक्सपियर

मौलिक नाटक

(प्रहसन) (१) वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३)
(नाटक) (२) सत्य हरिश्चन्द्र (यह क्षेमीश्वर कृत चंडकौशिक के आधार पर लिखा गया है)
(नाटिका) (३) श्री चन्द्रावली (१८७६)
(भाण) (४) विषस्य विषमौषधम् (१८७६)
(गीतिरूपक) (५) भारत-जननी (१८७७)
(नाट्यरासक) (६) भारत-दुर्दशा (१८८०)
(ऐतिहासिक गीति-रूपक) (७) नीलदेवी (१८८१)
(प्रहसन) (८) अंधेर नगरी (१८८१)

अपूर्ण कृतियाँ

(नाटिका) (१) प्रेम जोगिनी (१८७५)
(गीतिरूपक) (२) सतीप्रताप (१८८३)
(३) प्रवास नाटक (१८६८)
(४) नवमल्लिका
(५) रत्नावली
(६) मृच्छकटिक

शास्त्रीय दृष्टिकोण—भारतेन्दु का नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण समन्वयात्मक उदार एवं युगानुकूल था। उन्होंने अपने 'नाटक' शीर्षक विस्तृत प्रबन्ध में इस दृष्टिकोण को स्पष्टतः व्यक्त किया है—

"*जिस समय जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।*"

× × ×

अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर है ; इसलिये स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है, × × अन्य नाटकों में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोभन', कहीं 'संफेट', 'पंचसंधि' या ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं।"

---

१. भारतेन्दु इसे अपूर्ण छोड़ गये थे। बाद में रामशंकर व्यास और राधाकृष्णदास ने पूरा किया।

उपर्युक्त स्पष्टीकरण से नाटकों के सम्बन्ध में भारतेन्दु की निम्नलिखित मान्यतायें व्यक्त होती हैं—

(क) नाटकों के विषय युगानुकूल परिवर्तित होने चाहिये।

(ख) आधुनिक-युग की प्रवृत्ति को देखते हुये अब स्वाभाविक दृश्यों की योजना अधिक समीचीन है।

(ग) प्राचीन नाट्य-शास्त्र के जटिल एवं सूक्ष्म नियमों का निर्वाह आधुनिक नाटकों में आवश्यक नहीं है।

भारतेन्दु ने अपनी रचनाओं में उपर्युक्त सभी मान्यताओं को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की है।

सामान्य नाटकीय विशेषतायें

हम कह चुके हैं कि नाटकों की रचना में भारतेन्दु ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाया था। संस्कृत-नाट्य-शास्त्र, बंगला की नाट्य-पद्धति तथा अँगरेजी नाट्य-विधान, सभी के संयोग से उन्होंने अपना नाट्यादर्श उपस्थित किया। इस आदर्श पर रचित उनके नाटकों में निम्नलिखित प्रमुख विशेषतायें लक्षित होती हैं।

(क) भारतेन्दु ने गर्भांक को दृश्य के अर्थ में स्वीकार किया। उन्होंने बंगला नाटकों की ओर संकेत करते हुये कहा कि "प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है।"

(ख) नान्दीपाठ, प्रस्तावना विष्कंभक, प्रवेशक, अंकावतार, अंकमुख आदि की योजना पर अधिक बल नहीं दिया।

(ग) चुम्बन, वध, आलिंगन, स्नान, यात्रा, मृत्यु, युद्ध आदि भारतीय नाट्य शास्त्र के अनुसार वर्जित दृश्य भी मन्च पर दिखाये जाने लगे।

(घ) प्राचीन नाटकों की चरित्र-चित्रण-पद्धति का अनुगमन किया गया; फलस्वरूप पात्रों का स्वरूप आदर्शात्मक ही रहा।

(ङ) अन्तर्द्वन्द्व का अभाव सामान्यतः सभी नाटकों में देखा जाता है।

(च) पात्र, जीवन के निम्नस्तर से कम लिये गये। जहाँ उनका चित्रण हुआ भी वहाँ उनमें उत्थान-पतन नहीं दिखाया गया।

(छ) पारसी कम्पनियों के प्रभाव को पूर्णतः न हटाया जा सका फलस्वरूप पद्यात्मक सम्वादों की परम्परा चलती रही।

(ज) नाटकान्तर्गत आनेवाली कविताओं पर रीतियुग की छाया बनी रही।

उपर्युक्त परिवर्तनों को सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर स्पष्ट लक्षित होता है कि भारतेन्दु द्वारा गृहीत नाट्य-विधान, वाह्य परिधान में ही परिवर्तन उपस्थित कर सका। नाटकों की अन्तरात्मा अभी प्राचीन ही रही।

भारतेन्दु ने अनूदित तथा कुछ ऐतिहासिक कृतियों को छोड़कर अन्य सभी नाटकों में युग-जीवन को अभिव्यक्ति दी है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में सामाजिक पाखण्डों पर तीव्र प्रहार किया गया है। 'विषस्य विषमौषधम्' में बड़ौदा के गायकवाड़ के कुप्रबन्ध के कारण, पदच्युत किये जाने तथा उनके स्थान पर सयाजी राव के प्रतिष्ठित होने की राजनैतिक घटना की ओर संकेत किया गया है। 'भारत-जननी' में देश की दुर्दशा तथा उसके लिये सुधारों की ओर संकेत है। 'भारत-दुर्दशा' में तो भारतेन्दु ने अपने हृदय की सम्पूर्ण व्याकुलता व्यक्त कर दी है। भारतवर्ष की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक अवनति; इस अवनति में ब्रिटिश-शासन की नीति का प्रभाव तथा सुधार के लिये देश-प्रेमियों की व्याकुल चेतना, सभी की बड़ी ही स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। 'नीलदेवी' ऐतिहासिक होते हुये भी देश-प्रेम की अभिनव भावना से भावित है। इसमें भारतेन्दु के नारी विषयक दृष्टिकोण का भी स्पष्टीकरण हुआ है। 'अंधेर नगरी' तो शासन के ऊपर बहुत बड़ा व्यंग है। कहते हैं कि विहार प्रान्त के किसी बड़े जमीदार के अन्धेर को देखकर भारतेन्दु ने इसकी रचना की थी। 'श्री चन्द्रावली' में वैष्णव धर्मानुमोदित वल्लभसम्प्रदायान्तर्गत गृहीत आध्यात्मिक प्रेम की सुन्दर अभिव्यक्ति की गई है।

नाटकों का विषय-तत्त्व

अनुवादित नाटकों में 'विद्यासुन्दर' एक प्रेम कहानी है। इसमें वर्द्धमान नगर की राजकुमारी विद्या और काचीपुर के राजकुमार गुणसिंधु के मिलन, प्रेम, व्याघात और विवाह का वर्णन है। 'पाखंड विडबन' में वैष्णव धर्म की ओर लेखक का स्पष्ट झुकाव लक्षित होता है। डॉ० वार्ष्णेय के शब्दों में—'इस प्रतीकात्मक कथा द्वारा यही दिखलाया गया है कि सासारिक लोग किस प्रकार सात्विकी श्रद्धा से विमुख होकर तथा इन्द्रिय जनित सुख में पड़कर धर्म के वास्तविक उदात्तस्वरूप को भूल जाते हैं'। 'धनञ्जयविजय' में विराट के यहाँ अज्ञातवास करते समय गायों की रक्षा के लिये अर्जुन का कौरवों से युद्ध तथा उतरा और अभिमन्यु के विवाह की कथा है। 'कर्पूर मञ्जरी' में राजा चन्द्रपाल तथा कुमारी कर्पूर मञ्जरी के प्रेम और विवाह का वर्णन है।

'मुद्राराक्षस' में चाणक्य और राक्षस की राजनैतिक चालों का चित्रण, नन्द का नाश, चन्द्रगुप्त का सम्राट् होना तथा राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार किया जाना वर्णित है। 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' में शेक्सपियर के सुप्रसिद्ध नाटक (Merchant of Venice) का भारतीयकरण किया गया है।

विषयतत्त्व के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतेंदु के नाटकों की अन्तर्धारा मुख्यतः प्रेम है। यह प्रेम कहीं भक्ति के रूप में और कहीं राष्ट्रीय-प्रेम,

जाति-प्रेम, तथा संस्कृति-प्रेम के रूप में मूर्त हुआ है। यही प्रेम उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके नाटकों में अनेक माध्यमों से उनका व्यक्तित्व स्फुटित हुआ है। प्रेम की इसी मनोहर व्यञ्जना के कारण उनके नाटकों में रसनिष्पत्ति की पूर्ण योजना सम्भव हो सकी है।

अन्तर्धारा

भारतेन्दु के नाटकों में कथा-विधान सरल है। घटनाओं के घटाटोप में प्रधान कथावस्तु उलझकर जटिल नहीं बन जाती। उसमें पात्रों के विकास की शक्ति है, शैथिल्य का अभाव है। आकस्मिक एवं अस्वाभाविक घटनाओं के अभाव में भी कथा की रोचकता नष्ट नहीं हुई है।

नाट्यकला

पात्र-योजना में भारतेन्दु ने उच्चवर्गीय पात्रों को ही प्राधान्य दिया है। देवता, ऋषि, राजा, महत, प्रायः इन्हीं का चित्रण किया गया है। मौलिक एवं युग-जीवन को लेकर चलने वाले नाटकों में निम्नवर्गीय पात्रों का चित्रण भी किया गया है। इन पात्रों का मनोवैज्ञानिक विकास नहीं हुआ है। प्रारम्भ से अन्त तक इनका जीवनादर्श एक-सा रहता है। साथ ही ये पात्र प्रवृत्ति-विशेष के प्रतिनिधि से जान पड़ते हैं। इनके व्यक्तित्व में अन्तर्द्वन्द्व न होने से सजीवता एवं शील-वैचित्र्य नहीं आ सका है। नाटककार ने पात्रों के आदर्शों की सर्वत्र रक्षा की है। फलतः अधिकांश नाटक चरित्र-प्रधान हो गये हैं। नायकों का चित्रण प्राचीन आदर्शात्मक दृष्टिकोण से ही किया गया है।

भारतेन्दु की संवाद-योजना सामान्यतः नाटकीय गुणों से युक्त मानी जायगी। कथोपकथन पात्रों की मनोदशा के व्यंजक हो सके हैं। कहीं-कहीं उनसे नाटककार ने कथा के पूर्वापर क्रम को जोड़ने में भी सहायता ली है। पात्रों का वार्तालाप उनकी सामाजिक-स्थिति के अनुकूल रखा गया है। पुरोहित, वेदान्ती, शैव, बंगाली, एडीटर,, कवि, राजा, देवता, ऋषि सभी अपनी मर्यादाओं और सीमाओं का ध्यान रखते हैं। भाषा का प्रयोग भी पात्रानुकूल किया गया है। सामान्यतः कथोपकथन छोटे और प्रभावशाली हैं, किन्तु भाव-पूर्ण एवं रसात्मक स्थलों पर वे लम्बे हो गये हैं। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में शैव्या-विलाप, 'श्रीचन्द्रावली' में चन्द्रावली के स्वगत-कथन तथा 'भारत-दुर्दशा' में भारत-भाग्य के स्वगत-कथन आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं। कथोपकथनों में अनावश्यक आलंकारिकता तथा दार्शनिकता भी नहीं आने पाई है। कहीं-कहीं पद्यात्मक सम्वाद भी आ गये हैं। 'श्री चन्द्रावली' में 'ललिता' और 'जोगिन' तथा 'कर्पूरमञ्जरी' में 'विचक्षणा' और 'राजा' के सम्वाद पद्यबद्ध हैं। सब मिलाकर भारतेन्दु की सम्वाद-योजना सफल मानी जायगी, और इस सफलता का कारण उनका विस्तृत जीवन-अनुभव था, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारतेन्दु मुख्य रसवादी कलाकार थे। रस के क्षेत्र में 'वात्सल्य' 'प्रेम' 'सख्य', 'भक्ति' और 'आनन्द' इन रसों की मान्यता, उनकी मौलिकता का सूचक है।[1] उनके नाटकों में रसानुभूति की पूर्ण क्षमता है। 'विद्यासुन्दर' में संयोग-शृंगार की निष्पत्ति हुई है। पाखंड विडम्बन में 'निर्वेद' स्थायी भाव होने से 'शान्त-रस' की अनुभूति होती है। 'धनंजय-विजय' में 'रौद्र-रस' है। 'मुद्राराक्षस' में उत्साह स्थायी होने से 'वीररस' की व्यञ्जना है। 'कर्पूरमञ्जरी' में 'शृंगार' प्रधान तथा 'हास्य' और 'अद्भुत' सहायक हैं। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में 'दानवीरता' का प्राधान्य है। सहायक रूप में 'करुण', 'अद्भुत', 'भयानक' और 'वीभत्स' रसों की निष्पत्ति भी हुई है। 'चन्द्रावली' में भारतेन्दु ने 'प्रेमरस' माना है। इसमें विरह की दशाओं का विस्तार भी मिलता है। 'भारत-दुर्दशा' में 'वीर' और 'करुण' का मिश्रण है। 'नीलदेवी' में 'युद्धवीर' की व्यञ्जना है। 'अंधेर नगरी' में 'हास्य' का प्राधान्य है। इस प्रकार विभिन्न नाटकों में विविध रसों एवं भावों की स्थिति पाठकों एवं दर्शकों को रस-मग्न कर देती है। अपनी मान्यता के अनुसार नवीन रसों में सभी का व्यावहारिक रूप वे उपस्थित न कर सके। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये।

रसात्मकता

भारतेन्दु के नाटकों में देशकाल के चित्रण पर अपना मत देते हुये डॉ० वार्ष्णेय लिखते हैं "वास्तव में उनकी इन रचनाओं के आधार पर उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास भली भाँति लिखा जा सकता है, युग-जीवनकी सफल अभिव्यक्ति के लिये इससे बड़ी दाद नहीं दी जा सकती। यह होने पर भी अपने पौराणिक नाटकों में भारतेन्दु कालदोष से नहीं बच सके। 'सत्यहरिश्चन्द्र' में वर्णित काशी के दृश्य अतीत को नहीं, वर्तमान को सजीव करते हैं। इसी प्रकार 'प्रेम जोगिनी' में वर्तमान काशी के चित्रण में पौराणिक व्यक्तियों का उल्लेख कर दिया गया है। विदित है कि गंगा का अवतरण हरिश्चन्द्र के उपरान्त भगीरथ की तपस्या के फलस्वरूप हुआ था। अतः 'सत्यहरिश्चन्द्र' में गंगा का विस्तृत वर्णन खटकता है। इन कतिपय दोषों के अतिरिक्त सामान्यतः भारतेन्दु ने देशकाल का सजीव चित्र उपस्थित किया है। विशेषतः युग-जीवन से सम्बद्ध नाटकों में तो उनको अद्भुत सफलता मिली है।"

देशकाल

---

१. 'हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानन्दाख्यामधिकं रसचतुष्टयंमन्वते' तारा-चरण तर्करत्न शृंगाररत्नाकर, (१९१६ वि०)—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पृष्ठ १३० ।

भारतेन्दु एक सफल अभिनेता भी थे। सामान्यतः अभिनय की दृष्टि से ही उन्होंने नाटकों की सृष्टि भी की थी। इसमें सन्देह नहीं कि कथावस्तु की सीधी और सरल-योजना, पात्रों के जमघट का अभाव, अस्वाभाविक दृश्यों की अनुपस्थिति, भाषा का सरल व्यावहारिक रूप, घटना-नियोजन में औत्सुक्य आदि विशेषताओं की उपस्थिति ने भारतेन्दु के नाटकों को अभिनय के योग्य बना दिया है। कुछ का अभिनय तो उनके जीवन काल में ही सफलता पूर्वक किया गया था। यह होने पर भी वे सर्वथा निर्दोष नहीं हैं। कविताओं का बाहुल्य तथा पद्यात्मक संवाद अस्वाभाविकता ला देते हैं। 'सत्य-हरिश्चन्द्र' 'चन्द्रावली' और 'भारत-दुर्दशा' में स्वगत-कथन बहुत लम्बे हो गये हैं। 'नीलदेवी' में प्रलाप-शैली के कारण अस्वाभाविकता आ गई है। साथ ही नाटककार ने रंगमञ्च की रचना एवं वातावरण की सृष्टि के लिये पूर्ण निर्देश नहीं किया है। वस्तुतः हिन्दी का आदर्श रंगमञ्च न होने के कारण ये दोष आ गये हैं। गुणों और दोषों को एक साथ रखकर निर्णय देना हो तो यह मानना ही होगा कि भारतेन्दु के नाटकों का सफल अभिनय हो सकता है; यह दूसरी बात है कि इसके लिये उनमें थोड़ी बहुत काँट-छाँट करनी पड़े।

अभिनय

नाटकों के अतिरिक्त भारतेन्दु की अन्य गद्य-रचनाओं में 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' उपन्यास तथा विविध विषयों पर लिखे गये छोटे बड़े लेख प्रधान हैं। उपन्यास की कथा सामाजिक है। सम्पूर्ण उपन्यास में प्राचीन रूढ़िग्रस्त विचारों तथा नवीन सुधारवादी दृष्टिकोण का संघर्ष उपस्थित है। स्वयं लेखक का झुकाव नवीन सुधारों की ओर है। नीतिपरक एवं उपदेशात्मक पद्य-खण्डों को उद्धृत करके परिच्छेद (स्तवक) प्रारम्भ किये गये हैं। उपन्यास, कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। शैली व्याख्यात्मक है। पात्र सजीव नहीं बन सके हैं। वस्तुतः उपन्यास का महत्व उसके सुधारवादी दृष्टिकोण तथा जीवनकी यथार्थोन्मुख अभिव्यक्ति में है।

अन्य गद्यात्मक कृतियाँ

अन्य रचनाओं में इतिहास, पुरावृत्त, चरित्र, धार्मिक रचनायें, आख्यान, प्रहसन, स्तोत्र, यात्रा, पत्र, तथा अन्य सामाजिक एवं राजनैतिक विषयों पर छोटे बड़े लेख हैं। सामान्यतः इन्हें निबन्ध कहा गया है। इनका बहुत बड़ा अंश भारतेन्दु ग्रंथावली (तीसरा भाग) में प्रकाशित हो गया है। शैली की दृष्टि से ये निबन्ध, इतिवृत्तात्मक, विचारात्मक, वर्णनात्मक, कथात्मक, विवरणात्मक आदि कोटियों में रखे जा सकते हैं। विषयों के अनुरूप भाषा का रूप बदलता रहा है। ऐतिहासिक लेखों की भाषा सरल है। शैली इतिवृत्तात्मक है। धार्मिक लेखों में बीच-बीच में संस्कृत के लम्बे-लम्बे उद्धरण हैं। भाषा संयत है। यात्रायें विवरणात्मक शैली में लिखी गई हैं। 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती', जिसे उपाख्यान कहा गया है,

की भाषा बड़ी ही सजीव एवं व्यावहारिक हैं। इन लेखों में भारतेन्दु का विलक्षण व्यक्तित्व अनेक रूपों में प्रस्फुटित है। उनकी उदारता, नैतिकता, सुधारवादिता, युगदर्शन क्षमता, बहुज्ञता, धार्मिकता आदि अनेक विशेषतायें इनके माध्यम से अभिव्यक्त हुई हैं। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य की आधुनिक-धारा में इतना सजग व्यक्तित्व दूसरा नहीं है।

प्राचीनता के पोषक एवं नवीनता के उन्नायक, वर्तमान के व्याख्याता और भविष्य के द्रष्टा; सत्य, त्याग, सम्वेदना के समर्थक, गद्य के स्वरूप एवं पद्य की सजीवता के नियामक एवं रक्षक हिन्दी के प्राण, स्वजाति के अभिमान, जनता के मान एवं देश के सेवक भारतेन्दु का स्थान हिन्दी-साहित्य में चिर अमर रहेगा। अन्त में स्वर्गीय श्रीधर पाठक के शब्दों में हम यही कहेंगे—

> जब लौं भारत भूमि मध्य आरज कुल बासा।
> जब लौं आरज धर्म माँहि आरज विश्वासा॥
> जब लौं गुन आगरी नागरी आरज बानी।
> जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
> तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिर जीवी रहिहैं अटल।
> नित चंद सूर सम सुमिरिहैं, हरिचन्दहु सज्जन सकल॥

———

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारतेन्दु ने हिन्दी-गद्य की स्वरूप-प्रतिष्ठा की। उनके सहयोगियों ने उसकी अभिव्यञ्जना में अभिवृद्धि की। गद्य की विविध विधाओं का सूत्रपात भी भारतेन्दुयुग में हुआ, किन्तु भाषा-परिष्कार तथा गद्य-साहित्य के विविध रूपों का विकास तभी नहीं हो सका था। आचार्य द्विवेदी द्वारा यह परिष्कार एवं विकास संभव हुआ।

गद्यकार द्विवेदी, आलोचक, निबन्ध लेखक, अनुवादक, सम्पादक तथा सुधारक एवं भाषा-परिष्कारक के रूप में सामने आये।

आचार्य द्विवेदी का व्यक्तित्व ही सुधारवादी था। वस्तुतः उनका युग नैतिकता मर्यादा एवं सुधारवाद की प्रवृत्तियों से भावित था। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में तत्कालीन युग ही सिमट कर मूर्त हो गया था। उन्होंने भाषा के क्षेत्र में स्वयं अपना भी परिष्कार किया था। यह हम देख चुके हैं। अन्य लेखकों की भाषा का सुधार करने में तो कभी-कभी आपको समूचा निबन्ध स्वयं लिखना पड़ता था। आपने लोक-रुचि का भी परिष्कार किया था। 'सरस्वती' का लक्ष्य साहित्य-सेवा ही नहीं हिन्दी-पाठकों की असंस्कृत-रुचि को आदर्शोन्मुख भी करना था।

सम्पादक द्विवेदी की समस्त विशेषताओं को लक्ष्य करते हुये डॉ० उदयभानु सिंह कहते हैं—

"जनवरी १९०३ ई० से द्विवेदीजी ने सम्पादन आरम्भ किया। पत्रिका के अंग-अंग में उनकी प्रतिभा की झलक दिखाई पड़ी। विषयों की अनेक-रूपता, वस्तुयोजना, सम्पादकीय टिप्पणियों, पुस्तक-परीक्षा, चित्रों, चित्र-परिचय, साहित्य-समाचार के व्यंगचित्रों, मनोरञ्जक सामग्री, बाल-वनितोपयोगी रचनाओं, प्रारम्भिक विषय-सूची, प्रूफ-संशोधन और पर्यवेक्षण में सर्वत्र ही सम्पादन-कला-विशारद द्विवेदी का व्यक्तित्व चमक उठा।"[1]

"सम्पादक द्विवेदी के विषय में इतना ही कहना बस है कि 'सरस्वती' बीसवीं शती के प्रथम दो दशकों की साहित्यिक गति-विधि की नियामिका बन गई थी। सम्पादन-कला द्विवेदीजी के लिये जीवन-यापन का साधन नहीं जीवन-साधना थी। इसीलिये समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं की उस अंधकारमयी रजनी में, वह अपनी अप्रतिहत प्रभा से चमकने वाली एक ही ध्रुवतारिका थी।"[2]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ १६२।
२. वही, पृष्ठ १६३।

अनुवादक के रूप में भी द्विवेदी जी को कम सफलता नहीं मिली। अनुवादों में शिथिलता नहीं आने पाई है। भावों के सौंदर्य की रक्षा के कहीं-कहीं आपने अपनी ओर से शब्द जोड़ दिये हैं और कहीं-कहीं मूल श छोड़ भी दिया है। सुधार-वादी दृष्टिकोण होने के कारण शृंगारिक रचना या तो आपने प्रकारान्तर से उपस्थित किया है या कहीं-कहीं छोड़ दिय हिन्दी खड़ी-बोली-गद्य उस समय तक कोमल एवं सुकुमार भावनाओं के उपयुक्त नहीं बन सका था। सम्भवतः इसीलिये आप सरस एवं मार्मिक-स्थलों रमणीयता की रक्षा नहीं कर सके। वैसे भी अनुवादक के लिये यह कार्य नहीं है। अतः अनुवादक के रूप में द्विवेदी जी की सफलता सापेक्षिक मानी जाय

आलोचना का शास्त्रीय आधार

आलोचक और निबन्ध-लेखक के रूप में द्विवेदी जी का कृतित्व विचार है। सैद्धान्तिक दृष्टि से आप रसवादी आलोचक माने जायेंगे। साथ ही यह निर्विवाद है कि आप का यह 'रसवाद' मर्यादित था। ' वाद' की यही परम्परा आचार्य शुक्ल में गहराई एवं गम्भ रता की चरम-सीमा पर पहुंच गई है। कविता की परिभा करते हुये आपने संस्कृत के आचार्यों की परिभाषाओं सार रूप इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

> सुरम्य रूपे ! रसराशि रंजिते ! विचित्रवर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
> अलौकिकानन्द-विधायिनी ! महाकवीन्द्र कान्ते ! कविते ! अहो कहाँ ?
> सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे ?
> शरीर तेरा सब शब्दमात्र है, नितान्त निष्कर्ष यही यही यही ॥

'रसज्ञ-रञ्जन' में भी एक स्थान पर आपने लिखा है—

"कवियों का यह काम है कि वे जिस पात्र अथवा वस्तु का वर्णन करते हैं उसका रस अपने अन्तःकरण में लेकर उसे ऐसा शब्द-स्वरूप देते हैं कि उन शब्दों को सुनने से वह रस सुनने वालों के हृदय में जाग्रत हो जाता है।"

अपने अन्य गद्य-निबन्धों—'कवि बनने के सापेक्ष्य साधन', 'कवि और कविता'—में भी आपने प्रकारान्तर से उपर्युक्त 'रसवाद' का ही समर्थन किया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से रस को काव्य की आत्मा मानते हुये भी आचार्य द्विवेदी ने अपनी व्यावहारिक आलोचनाओं में एकमात्र रसवाद का ही आधार नहीं लिया। उनकी व्यावहारिक आलोचनायें रसवाद की गहराइयों को न छू सकी। भाव-जगत की तरलता से सिक्त होकर उनके निर्णय, सम्मतियाँ या मान्यतायें सामने न आईं। अधिक से अधिक उन्हें एक परिष्कृत रुचि के सुधारवादी आचार्य की सम्मतियाँ कह सकते हैं, जो यह बता रहा हो कि अमुक ग्रन्थ महत्वपूर्ण और उपयोगी है। इससे अधिक उन्होंने आलोचक के कर्तव्य के विषय में सोचा भी

नहीं। 'कालिदास और उनकी कविता' में उन्होंने आलोचक के दायित्व की ओर संकेत करते हुये कहा है—

"कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थ रचना करता है उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी ही जरूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियों के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं।"

वस्तुतः उपर्युक्त कथन में एक नीतिवादी शिष्ट सम्पादक का स्वर बोल रहा है। द्विवेदी जी की संस्कृत काव्यशास्त्रियों के प्रति निष्ठा थी। उनकी मान्यताओं की अवहेलना वे नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर उनका आस्तिक आचार्यत्व रीतियुगीन वासनामय शृंगारिक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया के कारण कट्टर नीतिवादी हो गया था। फलतः काव्य में वह रंगीनियाँ नहीं देख सकता था। 'रसवाद' औचित्य की सीमाओं में बँधकर अपनी रसात्मकता (सहज आनन्दोद्रेक) नहीं खोता किन्तु 'नीति' के कटघरे में बन्द होने पर उसकी वही स्थिति होती है जो आचार्य द्विवेदी की व्यावहारिक आलोचनाओं में हुई।

जो भी हो, आचार्य द्विवेदी का शास्त्रीय दृष्टिकोण पर्याप्त उदार था। वह शास्त्रीय जटिलताओं को आवश्यक नहीं मानते। काव्य के क्षेत्र में वे पिंगलशास्त्र के नियमों को अनिवार्य नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में

दृष्टिकोण

'पद्य के नियम कवि के लिये एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं, उनमें जकड़ जाने से कवियों को अपनी स्वाभाविक उड़ान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।'[1] इसी प्रकार नाट्य-शास्त्र के प्राचीन जटिल नियमों को नाटक-रचना के लिये आप अनिवार्य नहीं मानते थे। अपने 'नाट्यशास्त्र' में वे कहते हैं—हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिये इन सब भेदों का विचार करना आवश्यक नहीं। × × × इससे यह अर्थ न निकालना चाहिये कि नाट्य-शास्त्र के आचार्यों में हमारी श्रद्धा नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि ये सब जटिल नियम उस समय के लिये थे जिस समय भरत और धनञ्जय आदि ने अपने ग्रंथ लिखे हैं।[2]

अपने इस उदार दृष्टिकोण के कारण ही द्विवेदी जी ने पाश्चात्य समीक्षा-प्रणाली से भी आवश्यक एवं उपयोगी गुणों को अपनाया और साहित्य के प्रति अपना स्वस्थ तथा दृढ़ मत निश्चित किया।

द्विवेदी जी की आलोचना शैली पर संस्कृत आचार्यों की छाया स्पष्ट झलकती

---

१. रसज्ञ-रञ्जन पृष्ठ ३८

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ ११९

है। संस्कृत में आलोचना के प्रमुख छ स्वरूप प्रचलित थे। (क) आचार्य-पद्धति, (ख) टीका-पद्धति, (ग) शास्त्रार्थ-पद्धति, (घ) सूक्ति-पद्धति, (ङ) खंडन-पद्धति, (च) लोचन-पद्धति। द्विवेदी जी की समीक्षा में उपर्युक्त सभी शैलियों के दर्शन होते हैं।

आलोचना शैली

आचार्य पद्धति को प्रकारान्तर से सैद्धान्तिक आलोचना भी कह सकते हैं। द्विवेदी जी ने 'रसज्ञरंजन' तथा 'नाट्यशास्त्र' की रचना इसी शैली में की है। उनकी व्यावहारिक आलोचना में भी इतस्ततः शास्त्रीय सिद्धान्त बिखरे मिल जाते हैं।

द्विवेदी जी की टीका-पद्धति के अन्तर्गत आने वाली आलोचनायें अधिक नहीं हैं। 'सरस्वती' में समय-समय पर प्रकाशित होने वाली 'पुस्तक-समीक्षायें' इसी पद्धति के अन्तर्गत आती हैं। 'कालिदास की कविता में चित्र बनाने योग्य स्थान', 'कालिदास की वैवाहिकी कविता' इन शीर्षकों के अन्तर्गत आनेवाली समीक्षायें भी इसी कोटि की मानी जा सकती हैं। इसे परिचयात्मक आलोचना भी (सुविधा की दृष्टि से) कह सकते हैं।

शास्त्रार्थ-पद्धति पर लिखी गई समीक्षायें 'नैषध-चरित-चर्चा' 'भाषा और व्याकरण', 'कालिदास की निरंकुशता पर विद्वानों की सम्मतियाँ', आदि हैं। इनमें पाण्डित्य एवं तर्क का प्राधान्य है।

सूक्ति-पद्धति के अन्तर्गत द्विवेदी जी की बहुत कम समीक्षायें आती हैं। श्रीधर पाठक की 'काश्मीर सुषमा' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' पर लिखी गई समीक्षायें वस्तुतः प्रशंसात्मक सूक्तियाँ ही हैं।

द्विवेदीजी को खंडन करना कभी भी अभीष्ट न था। अतः इस पद्धति का प्रयोग आपने बहुत कम किया। अभावों की ओर संकेत कर देना खंडन नहीं है। 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा को किसी हद तक खंडन-पद्धति के अन्तर्गत रख सकते हैं।

लोचन-पद्धति वस्तुतः व्याख्यात्मक आलोचना का ही पूर्व रूप है। द्विवेदी जी की आदर्श आलोचना-शैली यही थी। इसके अन्तर्गत आप इतिहास, जीवनी, तुलना और सौंदर्य इन सभी दृष्टियों से विचार करते थे। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को पूर्णतः हृदयंगम करके उसके सौंदर्य का स्वच्छ प्रकाशन इस समीक्षा-पद्धति का मूल उद्देश्य माना जा सकता है। व्याख्यात्मक समीक्षा का ध्येय भी बहुत कुछ यही है। इस शैली में द्विवेदी जी ने 'किरातार्जुनीय' और 'रघुवंश' की भूमिकायें तथा 'मेघदूत रहस्य' लिखा है।

द्विवेदीजी ने साहित्य, जीवनचरित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग शिल्प भाषा, अध्यात्म आदि अनेक विषयों पर निबन्ध रचना की है।

निबन्धकार द्विवेदी

शैली की दृष्टि से इन निबन्धों की प्रमुखतः तीन कोटियाँ हैं। (क) वर्णनात्मक (ख) भावात्मक और (ग) विचारात्मक।

वर्णनात्मक निबन्धों के कई रूप हैं। वस्तु वर्णनात्मक, कथात्मक, आत्मकथात्मक, और चरितात्मक।

वस्तुवर्णनात्मक निबन्धों में भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थानों, जातियों, प्रसिद्ध इमारतों आदि का वर्णन है।

कथात्मक निबन्धों में, कथा-शैली में यात्राओं, सस्थाओं तथा घटनाओं का वर्णन है।

आत्मकथात्मक निबन्ध अधिक नहीं है। 'दंडदेव का आत्म निवेदन' इस शैली की उत्कृष्ट रचना है।

द्विवेदी जी ने ही चरितात्मक निबन्धों की परम्परा का हिन्दी में सूत्रपात किया। सके पहले भी चरितात्मक निबन्ध प्रकाशित हुये थे, किन्तु उनकी निश्चित परम्परा न थी।

भावात्मक शैली में लिखे हुये निबन्धों के दो प्रकार हैं। कवित्व-प्रधान और विचार-प्रधान।

कवित्व-प्रधान निबन्धों में प्रायः अनुवाद—'महाकवि माघ का प्रभात वर्णन', 'दमयन्ती का चन्द्रोपालम्भ'—प्रस्तुत किये गये हैं।

भावनामय विचार-प्रधान निबन्धों में 'कालिदास के समय का भारत', 'साहित्य की महत्ता' आदि प्रधान हैं।

चिन्तनात्मक निबन्ध प्राय मनोविज्ञान, अध्यात्म और साहित्यिक विषयों पर लिखे गये हैं। ये चिन्तनात्मक निबन्ध व्याख्यात्मक, आलोचनात्मक तथा तार्किक पद्धतियों पर लिखे गये हैं। इन निबन्धों में विषय का सामान्य परिचय है तथा उसे बोधगम्य बनाने की चेष्टा है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में 'विचारों की गूढ़ गुम्फित परम्परा उनमें नहीं मिलती। द्विवेदीजी का युग बहुज्ञता-प्रदर्शन का युग था। उसमें गहराई की आशा कैसे की जा सकती थी?

द्विवेदी जी के निबन्धों में उनका व्यक्तित्व स्फुटित हुआ है। उनकी आदर्शवादिता, जीवन की सादगी, हृदय की सरलता, नैतिकता इन सभी की छाप उनके निबन्धों पर है। कहीं-कहीं तो विधि-निषेध देने की उपदेशात्मक प्रवृत्ति के स्पष्ट-दर्शन होते हैं।

वस्तुत. द्विवेदी जी का आलोचक और निबन्धकार का रूप, सम्पादक-रूप के सामने दब गया है।

निबन्धों को प्रारम्भ तथा उनको अन्त करने का ढंग द्विवेदी जी का अपना था। कहीं आत्मनिवेदन द्वारा, कहीं मूल लेखक के विषय में ज्ञातव्य बातों की विज्ञप्ति द्वारा, कहीं प्रतिपाद्य विषय की ओर निर्देश द्वारा, कहीं भावप्रधान सम्बोधन द्वारा और कहीं शीर्षक के ही स्पष्टीकरण द्वारा निबन्धों को प्रस्तुत किया गया है।

निबन्धों का अन्त भी द्विवेदी जी ने कलात्मक ढंग से किया है। कहीं पाठक से विचार करने का अनुरोध करते हुये, कहीं, विवादग्रस्त विषय पर अपनी सम्मति देते हुये, और कहीं कोई सुभाषित उद्धरण प्रस्तुत करते हुये, उन्होंने निबन्धों की समाप्ति की है।

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त आवश्यकतानुसार द्विवेदी जी ने व्यंग्यात्मक, चित्रात्मक, वस्तुतात्मक, और संलापात्मक शैलियों का प्रयोग भी किया है।

द्विवेदी जी की काव्यमय भावात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

"कविता-कामिनी के कमनीय नगर में कालिदास का मेघदूत एक ऐसे भव्य भवन के सदृश है, जिसमें पद्य रूपी अनमोल रत्न जड़े हुए हैं—ऐसे रत्न जिनका मोल ताजमहल में लगे हुये रत्नों से भी कहीं अधिक है। ईंट और पत्थर की इमारत पर जल का असर पड़ता है, आँधी तूफान से उसे हानि पहुँचती है, बिजली गिरने से वह नष्ट-भ्रष्ट हो सकता है। पर इस अलौकिक भवन पर इनमें से किसी का कुछ भी जोर नहीं चलता।"

—मेघदूत

व्यंग्यात्मक शैली में लिखते समय आपने मुहावरों का प्रयोग अधिक किया है। भाषा में पाठक के मर्म में प्रवेश करने की शक्ति आ गई है, साथ ही उसका रूप व्यावहारिक हो गया है—एक उदाहरण देखिये—

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिये हुये हैं कि अपनी कारगुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप रायबहादुर बन जायें और खुशामदियों से आठ पहर चौसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से।"[1]

भाषा की उपर्युक्त दोनों शैलियाँ द्विवेदीजी की सामान्यशैली नहीं हैं। स्थिति-विशेष की शैली है। उनकी शैली का सामान्य रूप विचारात्मक निबन्धों में देखा जा सकता है, जहाँ एक-एक वाक्य मँजा हुआ निकलता है। विचार सीधे और बोधगम्य होते हैं। भाषा पूर्ण परिमार्जित और शुद्ध हिन्दी होती है। प्रायः वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। एक उदाहरण देखिये—

"लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता।

---

१. हिन्दी-गद्य-शैली का विकास,—पृष्ठ ६८

इसीलिये जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो अहंकारी अवश्य है।"[1]

द्विवेदी जी की यही निजी शैली है। उनकी भाषा का यही आदर्शरूप है। भावानुसार या परिस्थितिवश वे उसका स्वरूप परिवर्तित कर लेते हैं। कठिन-से-कठिन बात को सरल से सरल भाषा में कह देना, यही उनका आदर्श था। इसी आदर्श की पूर्ति के लिये वे लोक प्रचलित विदेशी शब्दों को भी स्वीकार कर सके हैं। 'कबूला', 'मौजूद', 'बदौलत', 'बेसबर', 'खुशामद', 'सादगी', 'असलियत', 'कद्र', 'इस्तेदाद', 'पस्तहिम्मती', 'काफिया', 'नाहमवार' आदि शब्द उनकी भाषा में यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इसी प्रकार अँग्रेजी के 'नेचरल', 'पोयट्री' 'सर्टिफिकेट', 'वर्स', 'इमेजिनशन' आदि शब्द भी आ गये हैं।

पत्रों की भाषा

द्विवेदी जी के कृतित्व का एक महत्वपूर्ण अंश उनकी पत्रावली है। इधर श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने इसका सम्पादन करके सचमुच एक बड़े अभाव की पूर्ति की है। इसमें उस समय की साहित्यिक गतिविधि का पूर्ण बिम्ब प्रकट हुआ है। स्वत. सम्पादक का दावा है कि 'द्विवेदी-पत्रावली' द्विवेदी-युग और द्विवेदीजी के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में 'प्रामाणिक रिकार्ड' है। इन पत्रों की भाषा में इतिवृत्तात्मक शैली का सुन्दरतम उदाहरण प्रस्तुत हुआ है। प्रत्येक पत्र की वाक्य-योजना नपी तुली है। द्विवेदी जी के जीवन का सयम एव परिष्कार इनमें झाँक रहा है। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त को प्रेषित उनके एक पत्र का नमूना देखिये—

जूही, कानपुर
२९-६-४६

श्रीयुत बाबू मैथिलीशरण जी,

आशीष। सुहाग शब्द का जो भाव है (हिन्दी में) वह सौभाग्य से ठीक-ठीक व्यक्त नहीं होता। इस कारण भाग-सुहाग पाठ सुख-सौभाग्य से अधिक उपयुक्त है।

भाग सुहाग की जगह सुखद-सुहाग भी हो सकता है। जो पद्य आपने लिखा उसका दूसरा चरण मुझसे ठीक पढ़ते नहीं बनता गति ठीक है न?

शुभैषी
म० प्र० द्विवेदी

---

१. हिन्दी निबन्धकार,—पृष्ठ १०७

निश्चय ही द्विवेदी-युग हिन्दी-गद्य के परिष्कार का युग था और इसके लिये जिस संयम एवं सुरुचि की आवश्यकता थी वह द्विवेदी जी में पुञ्जीभूत थी। चाहे वे गम्भीर आलोचना न प्रस्तुत कर सके हों, चाहे उनके निबन्ध 'बातों के सग्रह' मात्र हों, चाहे उनकी नीतिमत्ता ने रसात्मकता की सरसता को शिरता में बदल दिया हो, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि उन्होंने हिन्दी-गद्य को मर्यादा दी। हिन्दी-भाषा को परिमार्जित किया। और नवीन प्रयोगों को हिन्दी-साहित्य में सम्भव बनाया। इस दृष्टि से वे युग-प्रवर्तक हैं।

द्विवेदीजी की गद्य-कृतियाँ

(क) अनूदित	मूल रचना	लेखक
(१) भामिनी-विलास	भामिनी विलास (संस्कृत)	पंडितराज
(२) अमृत-लहरी	यमुनास्तोत्र	जगन्नाथ
(३) बेकन विचार रत्नावली	(अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक बेकन के निबन्धों का अनुवाद)	
(४) शिक्षा	एजूकेशन	हर्बर्ट स्पेंसर
(५) स्वाधीनता	ऑन लिबर्टी	जॉन स्टुअर्ट मिल
(६) जल-चिकित्सा	(जर्मन लेखक लुई कूने की जर्मन पुस्तक के अंगरेजी अनुवाद का अनुवाद)	
(७) हिन्दी-महाभारत	(संस्कृत महाभारत का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर)	
(८) रघुवंश	रघुवंश	कालिदास
(९) वेणीसंहार	वेणीसंहार	भट्टनारायण
(१०) कुमार-संभव	कुमार-संभव	कालिदास
(११) मेघदूत	मेघदूत	कालिदास
(१२) किरातार्जुनीय	किरातार्जुनीय	भारवि
(१३) प्राचीन पंडित और कवि	(अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर भवभूति आदि का परिचय)	
(१४) आख्यायिका सप्तक	(अन्य भाषाओं की आख्यायिकाओं की छाया)	

(ख) मौलिक

(१) तरुणोपदेश
(२) हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना
(३) नैषिध चरित चर्चा
(४) हिन्दी कालिदास की समालोचना
(५) वैज्ञानिक कोष
(६) नाट्य-शास्त्र
(७) विक्रमांक देव चरित चर्चा
(८) हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति
(९) सम्पत्ति-शास्त्र
(१०) कौटिल्य कुठार
(११) कालिदास की निरकुशता
(१२) हिन्दी की पहिली किताब
(१३) लोअर प्राइमरी रीडर
(१४) अपर प्राइमरी रीडर
(१५) शिक्षा-सरोज
(१६) बालबोध या वर्ण बोध
(१७) जिला कानपुर का भूगोल
(१८) अवध के किसानो की बरबादी
(१९) वनिता विलास
(२०) औद्योगिकी
(२१) रसज्ञ-रञ्जन
(२२) कालिदास और उनकी कविता
(२३) सुकवि-संकीर्तन
(२४) तेरहवें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (कानपुर अधिवेशन) के स्वगताध्यक्षपद से भाषण
(२५) अतीत-स्मृति
(२६) साहित्य-सन्दर्भ
(२७) अद्भुत आलाप
(२८) महिला-मोद
(२९) आध्यात्मिकी
(३०) वैचित्र्य चित्रण
(३१) साहित्यालाप
(३२) विज्ञ विनोद
(३३) कोविद-कीर्तन
(३४) विदेशी विद्वान
(३५) प्राचीन चिन्ह
(३६) चरित्र-चर्या
(३७) पुरावृत्त
(३८) दृश्य दर्शन
(३९) आलोचनाञ्जलि
(४०) समालोचना समुच्चय
(४१) लेखाञ्जलि
(४२) चरित-चित्रण
(४३) पुरातत्व प्रसग
(४४) साहित्य सीकर
(४५) विज्ञान वार्ता
(४६) वाग्विलास
(४७) सकलन
(४८) विचार-विमर्श
(४९) आत्म-निवेदन
(५०) भाषण[1] (द्विवेदी मेले के अवसर पर)

---

१. विशेष विवरण के लिये देखिये, महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग।

११. बाला विनोद—(१९१३)
१२. हिन्दी-शब्दसागर—(१९१६, २६)
१३. मेघदूत—(१९२०)
१४. दीनदयाल गिरि ग्रन्थावली—(१९२१)
१५ परमाल रासो—(१९२१)
१६. अशोक की धर्म लिपियाँ—(१९२३)
१७ रानी केतकी की कहानी—(१९२५)
१८ भारतेंदु-नाटकावली—(१९२७)
१९ कबीर-ग्रंथावली—(१९२८)
२०. राधाकृष्ण-ग्रन्थावली—(१९३०)
२१. सतसई-सप्तक—(१९३०)
२२ द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ—(१९३३)
२३. रत्नाकर—(१९३३)
२४. बाल-शब्दसागर—(१९३५)
२५. त्रिधारा—(१९४५)
२६. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग १–१८)
२७ सरस्वती—(१९००, १९०१, १९०२)
२८. मनोरञ्जन पुस्तकमाला—(५० ग्रंथ)

(ग) संकलित ग्रंथ एवं पाठ्य पुस्तकें—

१. मानस सूक्तावली—(१९२०)
२. संक्षिप्त रामायण—(१९२०)
३. हिन्दी-निबन्ध माला भाग १, २—(१९२२)
४. संक्षिप्त पद्मावत—(१९२७)
५. हिन्दी निबन्ध रत्नावली भाग १—(१९४१)
६. भाषा सार संग्रह भाग १—(१९०२)
७. भाषा पत्र बोध—(१९०२)
८. प्राचीन लेख मणिमाला—(१९०३)
९. आलोक चित्रण—(१९०२)
१०. हिन्दी-पत्र-लेखन—(१९०४)
११. हिन्दी प्राइमर—(१९०५)
१२. हिन्दी की पहली पुस्तक—(१९०५)
१३. हिन्दी ग्रामर—(१९०६)
१४. गवर्नमेंट आफ इंडिया—(१९०८)

१५ हिन्दी संग्रह—(१९०८)
१६ बालक विनोद—(१९०८)
१७. सरल संग्रह—(१९१९)
१८ नूतन संग्रह—(१९१९)
१९ अनुलेख माला—(१९१९)
२० नई हिन्दी रीडर भाग ६, ७—(१९२३)
२१ हिन्दी संग्रह भाग १ २—(१९२५)
२२ हिन्दी कुसुम संग्रह भाग १. २—(१९२७)
२३ हिन्दी कुसुमावली—(१९२७)
२४ साहित्य सुमन भाग १. ४—(१९२८)
२५ गद्य रत्नावली—(१९३१)
२६ साहित्य प्रदीप—(१९३२)
२७ हिन्दी गद्य कुसुमावली भाग १. २—(१९३६, ४५)
२८ हिन्दी प्रवेशिका-पद्यावली—(१९३९, ४२)
२९ हिन्दी प्रवेशिका-गद्यावली—(१९३९,४२)
३०. हिन्दी गद्य-संग्रह—(१९४५)
३१. साहित्यिक लेख—(१९४५)

(घ) समय-समय पर लिखे गये स्फुट लेख निबन्ध और वक्तृतायें—

(इनकी संख्या लगभग ४० है)

उपर्युक्त रचनायें बाबू साहब के व्यक्तित्व के अध्यापक, प्रबन्धक, संयोजक, सम्पादक, इतिहास-लेखक, भाषा, विज्ञानी-आलोचक आदि कई रूपों को प्रत्यक्ष करती हैं। इन सभी रूपों में उनके प्रबन्धक, सम्पादक, अध्यापक एवं आलोचक के रूप ही प्रधान हैं।

बाबू साहब की प्रबन्ध-पटुता के साक्षी नागरी-प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी-विभाग, काशी विश्वविद्यालय है। प्रतिभाओं को परखने और उन्हें उपयुक्त कार्यों में लगाने की अद्भुत क्षमता बाबू साहब में थी। सम्पादन के क्षेत्र में आपने पथ-प्रदर्शक का कार्य किया हैं। हिन्दी के क्षेत्र में वैज्ञानिक सम्पादन की जिस परम्परा का सूत्रपात आपने किया था, आज भी हमारी सम्पादन कला लगभग उन्हीं आदर्शों को लेकर चल रही है। आपका अध्यापक का व्यक्तित्व तो सर्वत्र सभी स्थिति में विद्यमान रहा है। एक उदार विवेकशील समन्वयवादी आलोचक के रूप में भी आप कुशल अध्यापक के कर्तव्य को नहीं भूल सके हैं। इसीलिये आज भी आपकी आलोचनात्मक कृतियाँ विद्यार्थियों में अत्यधिक लोकप्रिय हैं।

आलोचक के रूप में बाबू साहब ने 'सैद्धान्तिक' एवं 'व्यावहारिक', आलोचना के इन दोनों पक्षों को समृद्ध किया है। सैद्धान्तिक आलोचना का उत्कृष्टतम रूप 'साहित्यालोचन' एवं 'रूपक-रहस्य' में प्रकट हुआ है। 'रूपक-रहस्य' की सभी महत्वपूर्ण बातें 'साहित्यालोचन' में आ गई हैं। इसीलिये बाबू साहब की सैद्धान्तिक आलोचना पर विचार करते समय समीक्षकों ने साहित्यालोचन की ही चर्चा की है।

मानदण्ड

बाबू साहब ने साहित्य की कसौटी के लिये उदार एवं व्यापक मानदण्ड स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में 'स्थायी साहित्य जीवन की चिरन्तन समस्याओं का समाधान है। मनुष्य मात्र की मनोवृत्तियों, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं और उनके भावों, विचारों का वह अक्षय भंडार है।' व्यावहारिक आलोचनाओं में उन्होंने सर्वत्र इसी व्यापक आधार को सामने रखा है। यही कारण है कि एक ओर वे निर्गुणधारा के सन्तकवियों की वाणियों का सौन्दर्य परख सके हैं और दूसरी ओर उन्होंने छायावादी कवियों के स्वच्छन्दतावादी सूक्ष्म एवं कल्पना-प्रधान काव्य की महत्ता भी स्वीकार की है। उन्होंने मर्यादावादी तुलसी तथा रहस्यवादी जायसी दोनों के काव्यगुणों की परख समान रुचि से की है। प्रबन्ध काव्यकार तथा मुक्तक काव्यकार इन दोनों के प्रति भी आपका समान राग व्यक्त हुआ है। केशव को हृदयहीन कहना भी आपको खटकता है। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य की प्रत्येक काव्यधारा के साथ आपके हृदय का तादात्म्य, आपके उदार दृष्टिकोण एवं व्यापक मानदण्ड का द्योतक है। प्रश्न यह है कि शास्त्रीय-दृष्टि से समीक्षा का यह मानदण्ड किस रस का अधिकारी है? डॉ० नगेन्द्र कुछ आन्तरिक हिचक के साथ अपना निर्णय देते हैं—'सामान्यत. बाबूजी रसवादी हैं—आपने स्पष्ट रूप से अनेक प्रसङ्गों में जीवन और काव्य में भावों की महत्ता स्वीकृत की है।'

शास्त्रीय आधार

अपने मत की पुष्टि में वे निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हैं—"साहित्य का सम्बन्ध मनुष्य के मानसिक व्यापार से है और उस मानस-व्यापार में भी भाव की प्रधानता रही है। .....यह भी हम भली-भाँति जानते हैं कि कर्म तो प्रत्यक्ष व्यवहार में दीख पड़ता है, ज्ञान जन्म देता है; दर्शन, विज्ञान आदि शास्त्रों को और भाव का सम्बन्ध होता है साहित्य के सुकुमार जगत से। इसी से साहित्य में भाव की प्रधानता रहती है।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बाबू साहब साहित्य में भावों का प्राधान्य मानते हैं और इस आधार पर उन्हें 'रसवादी' ही माना जा सकता है; किन्तु व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में निर्गुण-सन्तों के प्रति उनकी विशेष आस्था, इस प्रश्न को जटिल बना देती है। कहना न होगा कि आचार्य शुक्ल भी रसवादी आलोचक हैं, और उन्होंने 'रसवाद' की कसौटी पर ही निर्गुण

सन्तों का काव्यगत महत्व स्वीकृत नहीं किया है। इधर पं० हजारी... को बौद्ध-सिद्धों, योगियों एवं निर्गुण सन्तों के साहित्य की उच्चता प्रति... के लिये समीक्षा की मानवतावादी भूमि पर उतरना पड़ा है। सम्प्र... के सीमित दायरे में बंधकर वे ऐसा नहीं कर सकते थे। हिन्दी... सामान्य विद्यार्थी भी जानता है कि शुक्लजी का 'रसवाद' उनकी ... मर्यादावादिता का ही पोषक है। ऐसी स्थिति में यह सहज जिज्ञासा... है कि 'रसवाद' की प्रकृत भूमि क्या है। उसकी सीमायें क्या हैं...

बाबू साहब को 'रसवादी' घोषित करते समय डॉ० नगेन्द्र के म... सम्भवत: यह प्रश्न चक्कर काट रहा था और कदाचित् इसीलिये ... साहित्य-शास्त्र की चर्चा करते हुये उन्होंने रसवाद की सीमा निर्धा... चेष्टा भी की है। वे योरोपीय-साहित्य-शास्त्र में समीक्षा के तीन ... मानते हैं।

(क) क्लासिकल (जिसमें शान्ति एवं गम्भीरता का प्राधान्य ...

(ख) रोमैण्टिक (जिसमें वैचित्र्य एवं आवेश था)।

(ग) बौद्धिक (जो आज की सृष्टि है)।

उपर्युक्त मूल्यों में प्रथम दो को 'रसवाद' के अन्तर्गत स्वीका... प्रथम मानदण्ड गम्भीर एवं शान्तिमय आनन्द को काव्य की आत... और द्वितीय (रोमण्टिक) उत्तेजना एवं आवेशपूर्ण आनन्द को ... 'रसवाद' मूलतः प्रथम कोटि का है। बाबू साहब ने उपर्युक्त ... (गम्भीर एवं शान्तिमय आनन्द तथा आवेशमय आनन्द) को ... की सीमाओं में समेट लिया है। बौद्धिक आनन्द को, जो तर्क या ... आधारित है, बाबू साहब साहित्यिक-आनन्द (रसवाद) से भिन्न मान... के काव्यत्व पर विचार करते हुये आपने कहा है 'उनकी आधी से... दार्शनिक-गद्य मात्र है, जिसको कविता नहीं कहना चाहिये।"[1] इस ... साहब के दो अन्य वाक्य भी चिन्तनीय हैं। आप कहते हैं 'जिज्ञा... की कोटि पर पहुँचकर कवि भी होना चाहता है तब तो अवश्य ... की ओर झुकता है। चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्ष... कल्पना और भावुकता का आधार पाकर इस रहस्यवाद का रूप ... उपर्युक्त कथन से प्रकट है कि बाबू साहब जिज्ञासा, ज्ञान, बौ... और चिन्तन के क्षेत्र से काव्य के क्षेत्र को भिन्न मानते हैं। काव्य के ... और भावुकता का प्राधान्य भी आप स्वीकार करते हैं, किन्तु ...

१. कबीर-ग्रन्थावली भूमिका, पृष्ठ ६६, प्रथम संस्करण
२. कबीर ग्रन्थावली की भूमिका, पृष्ठ ५६

मत है कि चिन्तन के आधार पर लब्ध सत्य जब कोरे तर्क पर आधारित होकर नहीं वरन् आत्मा की अनुभूति बनकर प्रकट होता है तब वह काव्य के क्षेत्र में आ जाता है–इसी आधार पर वे कबीर को कवि स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं 'सत्य के प्रकाश का साधन बनकर, जिसकी प्रगाढ़ अनुभूति उनको हुई थी, कविता स्वयमेव उनकी जिह्वा पर आ बैठी है।'[1] इस प्रकार बाबू साहब का 'रस-वाद' 'अनुभूत सत्य' को अपने भीतर समाविष्ट कर लेता है। यह अनुभूत सत्य कटु भी हो सकता है। इसमें मर्यादा एवं शील की अवहेलना भी हो सकती है और दृष्टिकोण-भेद से इसे समाज-विरोधी भी कहा जा सकता है। शुक्लजी को *यह स्वीकृत नहीं था। वे 'सत्य' को और 'सौंदर्य' को भी 'शील' से अलग नहीं* देख सकते थे। शील ही उनके लिये सौंदर्य का पर्याय था। इसीलिये शास्त्रीय-दृष्टि से विचार करते समय बाबू साहब काव्यानन्द को प्राकृतिक-अनुभूति से सर्वथा भिन्न नहीं मानते। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

(क) काव्यानन्द इसी लोक का अनुभव है। उसका आधार निश्चय ही ऐन्द्रिय अनुभव है।

(ख) वह स्वयं ऐन्द्रिय अनुभव नहीं है, वह इन्द्रियातीत अनुभव है।

(ग) यह अनुभव पर-प्रत्यक्ष-गम्य है। 'पर-प्रत्यक्ष' मन की सत्-प्रधान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें वितर्क अथवा अपने-पराये का ज्ञान तथा अनुभव नहीं रहता।

कबीर की अनुभूतियाँ कोरी बौद्धिक नहीं थीं। वे आत्मानुभूत थीं। परमात्मा के प्रति उनका राग आत्मिक था। इसीलिये बाबूसाहब उसमें काव्य-सौंदर्य देख सके थे।

कला के विश्लेषण में भी बाबू साहब सत्य और सौंदर्य की ही *अनिवार्यता* स्वीकार करते हैं। नैतिकता के पोषक आदर्शवादियों से अपनी कला विषयक मान्यता को स्पष्टतः अलग करते हुये वे कहते हैं—

कला विषयक दृष्टिकोण

"तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओं के वास्तविक सत्य को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिये धार्मिक आदर्शों का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा मापदण्ड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दरतम सुगठित मूर्ति का नग्न सौंदर्य सहन नहीं कर सकते, न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते हैं, जो उस नग्नता से स्फुटित हो रहा है।"

बाबू साहब नग्न सत्य एवं नग्न सौंदर्य दोनों को देख सकते थे। इसीलिये वे कबीर की सत्यपूत अटपटी वाणियों की महत्ता हृदयंगम कर सके और छाया-

---

१. वही, पृष्ठ ६४

वादी कवियों की नैतिकता अविहित सूक्ष्म भावाकृति
वे कला के 'आनन्द पक्ष' को भारतीय रसवाद के अ

बाबू साहब की काव्य एवं कला विषयक मान्य
कहा गया है। आचार्य शुक्ल का सहज शील भी
संकलन ही मानता है। वस्तुतः य

मौलिकता का प्रश्न

तो 'साहित्यालोचन' में कला,
कहानी, निबन्ध आदि का विवेचन
मान्यताओं के आधार पर हुआ है। नाटकों की विवे
तथा विश्वनाथ कृत 'साहित्यदर्पण' के आधार पर है
विषयक मान्यतायें भी बहुत कुछ हडसन के आधार पर
विधान को व्याख्या कीथ तथा विश्वनाथ के आधार
नाटकों के विषय में जो कुछ कहा गया है, उसका मू
है। इसी प्रकार अपने प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ 'हिन्दी भा
बाबूसाहब ने बहुत कुछ उधार लिया है। उसका काल-
मूल्यांकन बहुत कुछ शुक्लजी के इतिहास पर आधारि
सम्बन्धित राजनैतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों का
आधारित है। कालानुसार कलाओं का प्रवृति-विकास बा
का फल है। रीतिकाल की शास्त्रीय पृष्ठभूमि 'काणे' क
है। इसके अतिरिक्त उनके सभी प्रमुख ग्रंथों की रचना
प्रयाग से हुई है। 'रूपक रहस्य', गोस्वामी तुलसीदास'
कृतियों में डॉ० बड़थ्वाल का सहयोग रहा है। 'भाषा
आचार्य का प्रयत्न भी साथ-साथ काम करता रहा है। ऐसी
में कौन-सा अंश किस सीमा तक किसका है? यह जानन

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में निस्सन्देह बाबूसाहब म
किन्तु मौलिकता यदि इसी रूप में लक्षित की जायगी तो
में मौलिकता के नाम पर केवल 'मौलिकता' ही रह जायगी
इज अनडिटेक्टेड थेफ्ट' इस आधार पर कोई भी लेखक
जब तक उसकी संचित ज्ञान-राशि के सञ्चयन-सूत्र उद
वस्तुतः मौलिकता और अमौलिकता का निर्णय इस आधा
सकता। नवीन सिद्धान्तों का उद्भावक मौलिक है, उन सि
आगे बढ़ानेवाला विवेचक भी मौलिक है; सिद्धान्त और वि
से सञ्चयन एवं प्रस्तवन भी मौलिकता से बहिष्कृत नहीं है

ग्रहण किया और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत किया। शुक्लजी की तरह दूसरों की मान्यताओं को वे अपनी अनुभूति का अंग नहीं बना सके। कदाचित् इसीलिये उन पर अमौलिक होने का आरोप किया गया।

निबन्धकार के रूप में

बाबू साहब के सम्पूर्ण कृतित्व में बहुत बड़ा अंश निबन्धों का भी है। समय-समय पर लिखे गये उनके निबन्धों की संख्या लगभग चालीस है। इन निबन्धों में प्रारम्भ से १९१३ तक लिखे गये निबन्ध साधारण कोटि के हैं। शैली की दृष्टि प्रायः वर्णनात्मक है। ये विविध विषयों पर लिखे गये हैं। 'शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध' (१८९९), 'जन्तुओं की सृष्टि' (१९००), 'बीसलदेव रासो' (१९०१), 'हिन्दी का आदि कवि' (१९०१), 'फतेहपुर सीकरी' (१९०१), 'मुद्राराक्षस' (१९०२), 'रासो शब्द' (१९०२), 'दिल्ली दरबार' (१९०३), 'व्यायाम' (१९०६), 'सैयद अली बिलग्रामी' (१९००), 'रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर' (१९००), 'जमशेदजी ताता' (१९००), 'महारानी विक्टोरिया' (१९०१), आदि निबन्धों में साहित्य, इतिहास, चरित, सामान्यज्ञान सभी कुछ आ गया है। इनसे केवल यही जाना जा सकता है कि बाबू साहब की साहित्यिक अभिरुचि प्रारम्भ से ही उदार एवं सर्वतोमुखी थी।

१९२३ ई० के उपरान्त उनकी गम्भीर परिष्कृत साहित्यिक अभिरुचि के दर्शन होते हैं। साथ ही उनके निबन्धों का विषय भी शुद्ध साहित्यिक रह जाता है। 'रामावत सम्प्रदाय' (१९२४), 'आधुनिक हिन्दी-गद्य के आदि आचार्य' (१९२६), 'हिन्दी-साहित्य का वीरगाथा काव्य' (१९२९), 'बालकाण्ड का नया जन्म' (१९३१), 'चन्द्रगुप्त' (१९३२), 'देवनागरी और हिन्दुस्तानी' (१९३७), 'भारतीय नाट्यशास्त्र' (१९२६), 'गोस्वामी तुलसीदास' (१९२७ २८), आदि निबन्ध निश्चय ही उच्चकोटि के हैं। यहाँ तक आते-आते बाबू साहब का व्यक्तित्व चिन्तनशील हो गया है, और उनके निबन्ध शैली की दृष्टि से विचारात्मक हो गये हैं। इन निबन्धों के विषय में डॉ० हीरालाल दीक्षित का निम्नलिखित कथन ध्यान देने योग्य है 'बाबू साहब ने विचारात्मक निबन्धों का लिखना सन् १९२३ के बाद से ही प्रारम्भ किया। इस समय तक एक तो उनका दृष्टिकोण परिपक्व हो चुका था, दूसरे उनकी गति में भी मन्थरता आ गई थी। विस्तृत एवं व्यापक अध्ययन, साहित्यिक नेतृत्व तथा गुरुतर दायित्व-वहन के फलस्वरूप उनकी विचारणा एवं अनुभूति में गरिमा तथा गम्भीरता का आविर्भाव हो चुका था। उनका स्वर भी अब आधिकारिक हो गया था, और हिन्दी-साहित्य के बीच तो उनकी छाप लगने मात्र से प्रामाणिकता का आभास होने लगा था।"[1]

---

१. बाबू श्यामसुन्दरदास, राजकिशोर रस्तोगी, अप्रकाशित प्रबन्ध में उद्धृत, पृष्ठ १६८।

विचारात्मक निबन्धों के भी दो रूप दृष्टिगत होते हैं। कुछ निबन्धों में बाबू साहब ने केवल विचार की व्याख्या प्रस्तुत की है और कुछ में तर्कपूर्ण विवेचन भी है। तर्कपूर्ण विवेचनों में आपने केवल अपने मत की स्थापना की है। खंडन-मंडन या वाद-विवाद में नहीं पड़े हैं। आपने बड़ी ही बोधगम्य शैली में विस्तार-पूर्वक अपनी बात उपस्थित की है। दृष्टिकोण आपका यहाँ भी समन्वयात्मक ही रहा है। यह तर्कपूर्ण विवेचन प्रायः साहित्यिक निबन्धों में ही लक्षित होता है।

बाबू साहब के व्याख्यात्मक निबन्धों का पूर्ण विकास उनके द्वारा सम्पादित विभिन्न कृतियों की भूमिकाओं तथा साहित्यालोचन के अन्तर्गत समाविष्ट साहित्य के विविध रूपों—कला, साहित्य, कविता, नाटक, उपन्यास, आलोचना आदि—पर प्रकट किये गये विस्तृत विचारों में देखा जा सकता है।

बाबू साहब एक कुशल वक्ता भी थे। अतः उनके निबन्धों में वक्तृतात्मक शैली का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। इसीलिये उनके निबन्धों में प्रवाह, प्रभावात्मकता तथा बोधगम्यता के दर्शन एक साथ होते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग को समाप्त करने के पहले एक बात और ज्ञातव्य है और वह यह कि इन निबन्धों में जितना विस्तार है उतनी गहराई नहीं है। इसके द प्रधान कारण हैं। प्रथम तो यह याद रखना होगा कि बाबू साहब के सामने हिन्दी साहित्य के अंग विशेष की उन्नति का प्रश्न नहीं था। उनकी सतर्क दृष्टि प्रचा प्रसार, निर्माण, अनुसन्धान, अध्यापन आदि अनेक क्षेत्रों की ओर लगी हुई थी दूसरे उनका सारा कार्य विद्यार्थियों को दृष्टि में रखकर सम्पन्न हुआ है।

बाबू साहब की आलोचना-शैली मुख्यतः व्याख्यात्मक है। अपनी समस्त व्य हारिक आलोचनाओं में आपने इसी शैली का प्रयोग किया है। 'हिन्दी भाषा अ साहित्य' में आद्योपान्त इसी शैली का प्रयोग है। किन्तु

आलोचना शैली

व्याख्यात्मक-शैली चलती हुई है। विशद और गम्भीर व्या की ओर आपकी प्रवृत्ति अधिक नहीं रमी है। उदाहरण लिये धनञ्जय के 'अवस्थानुकृति नाट्यम्' सूत्र की व्याख्या करते हुये बाबू स ने 'रूपक-रहस्य' में अनुवाद मात्र प्रस्तुत कर दिया है। आपने लिखा है '[illegible] भी अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं।'[1] धनञ्जय का 'अवस्था' से [illegible] वृद्धावस्था, बाल्यावस्था, विपन्नावस्था आदि नहीं है। उनका तात्पर्य नायक स्थायीभाव की अवस्था से है। इस सम्बन्ध में डॉ० उदयभानु सिंह की [illegible] ध्यान देने योग्य है। वे कहते हैं—'नाट्यकला के प्रभाव से संस्कृत नाट पाठक या दर्शक नाटक के प्रत्येक कार्य को नायक की दृष्टि से ही देख नायक ही सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र होता है। अतएव उसी की मानसिक

रहस्य, पृष्ठ ४७

की अनुकृति नाटक का लक्षण मानी गई है।[1] इसी प्रकार काव्यादि की व्याख्यायें भी केवल शाब्दिक अर्थों को लेकर ही प्रस्तुत की गई हैं। पाश्चात्य आलोचकों से ली गई व्याख्यायें भी प्रायः ज्यों की त्यों रखी हुई हैं। यही कारण है कि बाबू साहब की समीक्षा मे पाश्चात्य एव भारतीय मान्यतायें अलग-अलग लक्ष्य की जा सकती हैं। प्रायः दोनों समानान्तर चलती हैं।

आलोचना की इस प्रमुख शैली के अतिरिक्त आपने ऐतिहासिक आलोचना-शैली का भी प्रयोग किया है। उनका 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' इस दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रयास है। साहित्यिक एव कलागत प्रवृत्तियों के साथ ही युग विशेष की ऐतिहासिक परिस्थिति को भूमिका रूप में प्रस्तुत करके बाबू साहब ने ऐतिहासिक-आलोचना का महत्व स्वीकार किया है।

विवेचन, तुलना, निष्कर्ष, उदाहरण, निर्णय आदि, व्याख्या की पूर्णता के लिये आवश्यक विभिन्न शैली-उपकरण भी यथास्थान बाबू साहब ने प्रयुक्त किया है। किन्तु इनके ग्रहण में भी गहराई नहीं है। वस्तुतः आपकी व्याख्या एक अध्यापक की कक्षा-व्याख्या मात्र रह गई है। इसे यदि अभिव्यक्ति की स्वच्छता कहें तो अधिक उचित होगा।

बाबू साहब की भाषा परिमार्जित, सरल स्वच्छ एवं संस्कृतनिष्ठ है। प्रारम्भिक रचनाओं में वह शिथिल तथा व्याकरण-विरुद्ध भी रही है। अभिव्यक्ति के लिये उन्हें शब्द भी टटोलना पड़ा है। सदोष रचना-क्रम, अपरिपुष्ट

भाषा

वाक्य-योजना एव अभिव्यक्तिगत शिथिलता के साथ-साथ आपकी प्रारम्भिक रचनाओं में 'लिखा चाहते', 'दिखाया चाहते', 'देखा चाहिये' आदि असंस्कृत क्रिया-प्रयोग भी देखे जा सकते हैं। 'आज लौं', 'एकवेर', 'दिक्क', 'उरफटू', 'वेंधेज' आदि ग्रामीण प्रयोग भी कहीं-कहीं आपने कर दिया है।[2] १९२३ ई० के बाद की रचनाओं में इस प्रकार के दोष दूर हो गये हैं। भाषा शुद्ध, परिमार्जित, स्वच्छ, एव सयत हो गई है। उसमें प्रवाह एव प्रभाव आ गया है। अपनी आत्मकथा में आपने अपना भाषा-विषयक दृष्टिकोण बड़ी ही स्पष्टता के साथ व्यक्त किया है—

'शब्द-प्रयोग की दृष्टि से सबसे पहला स्थान शुद्ध हिन्दी के शब्दों को उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दो को इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दो को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दो को स्थान दिया जाय। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।'[3]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृष्ठ ३४१
२. बाबू श्यामसुन्दरदास, राजकिशोर रस्तोगी, (अप्रकाशित निबन्ध)
३. मेरी आत्म कहानी, पृष्ठ ७२

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

परिष्कार और परिमार्जन का कार्य समाप्त हो चुका था। अब हिन्दी-गद्य-साहित्य को विशदता और गम्भीरता की आवश्यकता थी। लगभग सन् १९२०-२१ के आस-पास बाबू श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' प्रस्तुत कर इस दिशा में पदन्यास किया था। किन्तु हिन्दी-समीक्षा के लिये एक प्रौढ़ मानदण्ड की आवश्यकता थी इसकी पूर्ति शुक्लजी के व्यक्तित्व ने की।

शुक्लजी समीक्षा-क्षेत्र में आने के पहले साहित्य के अन्य क्षेत्रों से टकरा चुके थे। सम्पादक, अनुवादक, कवि, निबन्ध-लेखक आदि कई रूपों में उनका व्यक्तित्व अभिव्यक्त हो चुका था। विफलता उन्हें कहीं नहीं मिली। सम्पादक-जीवन का अनुभव उन्हें विद्यार्थी-जीवन में ही बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द-कादम्बिनी' में कार्य करते हुये हुआ था। 'काशी नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' (मासिक) के सम्पादन का गुरु दायित्व भी कुछ दिनों के लिये शुक्लजी को उठाना पड़ा था। शुक्लजी ने अंग्रेजी और बंगला से सफल अनुवाद भी किया था—गद्य में भी पद्य में भी। बंगला के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास 'शशांक' का अनुवाद तो हिन्दी-संसार कदाचित् कभी न भूलेगा। कवि रूप में शुक्लजी का विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। किन्तु यह निश्चित है कि इस क्षेत्र में भी वे विफल नहीं रहे।

निबन्ध लेखक और आलोचक शुक्ल का व्यक्तित्व एक दूसरे का पूरक है। निबन्धों में उनकी समीक्षा के सिद्धान्त निर्मित हुये हैं और आलोचनाओं में इन्हें व्यावहारिक रूप मिला है। इन दोनों क्षेत्रों में आपका स्थान आज भी निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ है।

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल का मानदण्ड

आलोचक शुक्लजी की सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनायें हमारे सम्मुख हैं। आपका सैद्धान्तिक समीक्षा-ग्रन्थ 'रसमीमांसा' अब प्रकाशित हो गया है। व्यावहारिक आलोचना का प्रौढ़तम रूप तुलसी और जायसी ग्रन्थावली की भूमिकाओं, 'भ्रमर-गीत सार' की भूमिका तथा 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में प्रकट हुआ है। शुक्लजी की समीक्षा का सैद्धान्तिक आधार भारतीय 'रसवाद' है। शुक्लजी ने इसे सर्वथा पूर्ण मानदण्ड माना था। आपने जीवन की क्रिया-भूमि, काव्य की भावभूमि और समीक्षा की विचार भूमि में अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया है। आपके सिद्धान्त जीवन से गृहीत हैं। काव्य में उनको परीक्षित किया गया है और अन्ततः विवेक की कसौटी पर कसकर सिद्धान्त रूप में उपस्थित किया गया है। समीक्षा का जो

(२) शुक्लजी रस की तीन कोटियाँ मानते हैं। प्रथम कोटि की रसानुभूति वहाँ होती है जहाँ व्यक्त भाव में पाठक या श्रोता पूर्णतः लीन हो जाता है।

दूसरी कोटि वहाँ मान सकते हैं जहाँ पाठक या श्रोता व्यक्त भाव का अनुमोदन मात्र करता है और अपनी तुष्टि सूचित करता है।

तीसरी कोटि में पाठक या श्रोता केवल चमत्कृत होता है। शुक्लजी रस की उपर्युक्त तीन कोटियों की मान्यता के साथ भाव की भी तीन स्थितियाँ मानते थे—स्थायी-दशा, शील-दशा, क्षणिक-दशा। भाव की इन तीनों दशाओं के आधार पर ही उपर्युक्त तीनों रसकोटियों की स्थिति मानी गई है। शुक्लजी का यह कोटि-निर्धारण उनकी मौलिकता है। वस्तुतः मध्यम और निकृष्ट (दूसरी और तीसरी) कोटियाँ, रमणीयता और चमत्कार इन दोनों काव्य-सिद्धान्तों को भी रस के भीतर समेट लेने की चेष्टा का फल है।

(३) शुक्लजी ने रस-दशा को 'हृदय की मुक्तावस्था' या 'व्यक्ति-हृदय के लोक-हृदय में लीन होने की अवस्था' या सौंदर्यानुभूति की दशा (सौन्दर्य, रूप-व्यापार, कर्म आदि को देखकर अन्तस्सत्ता की उसमें तदाकार परिणति की दशा) माना है। दूसरे शब्दों में पूर्ण तन्मयता की स्थिति को ही वे रस-दशा मानते हैं और इस प्रकार सौंदर्यानुभूति को रसानुभूति के समकक्ष रखते हैं। शुक्लजी की यह मान्यता मौलिक है।

(४) शुक्लजी काल्पनिक मूर्त-विधानों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष और स्मृत मूर्त-विधानों द्वारा भी रसानुभूति मानते हैं। अन्तिम दो के अनुसार भी रसानुभूति मानना शुक्लजी की मौलिक उदभावना है।

(५) शुक्लजी यथातथ्य संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण द्वारा भी 'रस बोध' मानते हैं।[1]

(६) शुक्लजी काव्यगत दुखात्मक भावों की अनुभूति को भी दुखात्मक ही मानते हैं। किन्तु 'हृदय की मुक्त दशा में होने के कारण वह दुख भी रसात्मक होता है।' शुक्लजी की यह मान्यता भी मौलिक है।

(७) शुक्लजी 'भाव' को पूर्णतः आलम्बनगत तथा अनुभाव को आश्रयगत मानते हैं यद्यपि भानुदत्त की 'रस तरंगिणी' से शुक्लजी की मान्यता भिन्न नहीं है फिर भी हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्रियों से सर्वथा पृथक है। इसका कारण भी उनकी गहरी पैठ एवं मौलिक उद्भावना शक्ति है।

(८) शुक्लजी ने उत्साह का आलम्बन 'विजेतव्य' न मानकर 'दुष्कर कर्म' माना है। इसी प्रकार 'सञ्चारी भाव का स्थायी भावत्व' तथा अवन्धकाव्य के प्रधान पात्र या नायक में 'शील भाव' की स्थिति, काव्यों का 'साधनावस्था' और 'सिद्धावस्था'

---

१. काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिन्तामणि खंड २।

के रूप में विभाजन आदि अनेक मान्यतायें सर्वथा मौलिक न होने पर भी विचारणी हैं और हमें नये ढंग से सोचने के लिये बाध्य करती हैं।

(ग) शुक्लजी की दृष्टि में 'रसवाद' काव्य-समीक्षा का सर्वमान्य एवं पू मानदण्ड है। इसी मान्यता को पुष्ट करने में आपने रस-सिद्धान्त सम्बन्धी अन मौलिक उद्‌भावनायें की हैं। 'रस' के अन्तर्गत कोटियों व स्थापना, काव्य में विभाव की मुख्यता स्वीकार करन (प्रकारान्तर से वातावरण एवं देश काल के मार्मिक चित्र की प्रधानता स्वीकार करना) ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार मानना, (प्रकारान्तर से युग की समस्त बौद्धिक, आर्थिक, राजनैतिक वैज्ञानिक क्रिया-कलापों को भावों का आलम्बन मानना) आदि अनेक मान्यतायें 'रस-सिद्धान्त' में आधुनिक ऐतिहासिक एवं व्याख्यात्मक आलोचना-पद्धतियों को समेटन के लिये ही प्रस्तुत की गई है। 'रस-सिद्धान्त' आलोचना का पूर्ण मानदण्ड हो सकता है या नहीं? आधुनिक प्राकृतिकवादी साहित्य (naturalism) या अति यथार्थवादी साहित्य, जिसमें शील एवं मर्यादा का विधान नहीं है, शुक्लजी द्वारा निर्धारित 'रस-सिद्धान्त' के आधार पर विवेचित हो सकता है या नहीं? यह पृथक् प्रश्न है। किन्तु हमें यह स्वीकार करना होगा कि 'रस-सिद्धान्त' को पूर्ण मानदण्ड बनाने के प्रयत्न में शुक्लजी ने उसे बड़े विशद, मनोवैज्ञानिक एवं लोकमर्यादित आधार पर खड़ा किया है। साथ ही अनेक छोटे-मोटे देशी-विदेशी वादों को उसके भीतर पचा लिया है।

'रसवाद' पूर्ण एवं शाश्वत मानदण्ड

शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना-पद्धति उनकी सैद्धान्तिक मान्यताओं के सुदृढ़ आधार पर स्थित है। वे आलोच्य कृति के वस्तुनिष्ठ-सौंदर्य तथा अभिव्यक्ति-सौंदर्य दोनों पर दृष्टि रखते हैं वस्तुनिष्ठ-सौंदर्य में 'शील' का प्राधान्य मानते हैं। इसी दृष्टि से वे औचित्य या मर्यादा-वादी हैं। यही कारण है कि निर्गुण कवियों की वाणियों को वे अटपटी कहते हैं। सूर की तुलना में तुलसी को ऊँचा स्थान देते हैं। मुक्तक-काव्य से प्रबन्ध-काव्य को उत्कृष्ट बतलाते हैं। और 'छायावादी' (स्वच्छन्दतावादी) कवियों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाते। अभिव्यक्ति-सौन्दर्य को वस्तु-सौंदर्य का साधन मानते हैं। इसीलिये अलंकार, गुण, रीति सभी को 'रस' का पोषक स्वीकार करते हैं। भावों को उत्कर्ष न देने-वाले अलंकारों को आप काव्य-सौन्दर्य के अन्तर्गत स्थान नहीं देते। इसीलिये केशव के पांडित्य को स्वीकार करते हुये भी उन्हें हृदयहीन कहते हैं।

व्यावहारिक आलोचना-पद्धति

. . . में आलोचक का दायित्व बड़ा ही गुरुतर माना है। वे कहते हैं . . . की आधुनिक शैली की समालोचना के लिये विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म

अन्वीक्षण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी-प्रज्ञा अपेक्षित है।' वस्तुतः उन्हीं के शब्दों में यह उन्हीं की आलोचना की कसौटी है। उन्होंने इस कसौटी को सदैव समान रखा। इसीलिये उनकी समीक्षा में सूक्ष्म-विवेचन के सभी तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

शुक्लजी की आलोचना-पद्धति मूलतः 'विवेचनात्मक' है। किन्तु उसमें अन्य पद्धतियों का संश्लेषण भी हो गया है। आलोच्यकृति को आप ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि में रखकर देखते हैं। उसके मूलभूत वस्तुसत्य का विवेचन करते हैं। विवेचन को पूर्ण एवं स्पष्ट करने के लिये अन्य कृतित्व से तुलना भी कर देते हैं। भावपूर्ण या मनोनुकूल अवसरों पर आप प्रभावाभिव्यञ्जक पद्धति को भी ग्रहण कर लेते हैं और समय-समय पर अपनी व्यक्तिगत सम्मतियाँ (निर्णय के रूप में) उपस्थित करके निर्णयात्मक आलोचना-पद्धति को भी समेट लेते हैं। इस प्रकार आपकी आलोचना-पद्धति 'ऐतिहासिक', 'विवेचनात्मक', 'तुलनात्मक', 'प्रभावाभिव्यञ्जक' तथा 'निर्णयात्मक' आलोचना-तत्त्वों के समन्वित आधार पर खड़ी है।

विवेचनात्मक पद्धति

शुक्लजी की व्यावहारिक आलोचना की कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें हैं जो बरबस हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। उन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

व्यावहारिक-आलोचना की सामान्य विशेषतायें

(क) बुद्धि और हृदय का सन्तुलन।
(ख) विवेचन की स्पष्टता।
(ग) बीच-बीच में काव्य-शास्त्रीय प्रश्नों की ओर दृष्टिपात।
(घ) गुण और दोष पर समदृष्टि।
(ङ) यथावसर दार्शनिक या अन्य शास्त्रीय विषयों का भी विस्तृत विवेचन।
(च) लोक-दृष्टि के आधार पर मूल्यांकन।
(छ) स्व-सम्मति के प्रति दृढ़ निष्ठा।

शास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन की भी शुक्लजी की अपनी व्यक्तिगत पद्धति है। विषय को बोधगम्य, स्पष्ट एवं शास्त्रीय जटिलताओं से मुक्त करके सीधे ढंग से प्रस्तुत करने के लिये शुक्लजी सूत्र रूप में पहले प्रतिपाद्य विषय की मूलभूत विशेषता उपस्थित करते हैं। फिर उसकी विस्तृत व्याख्या करते हैं। व्याख्या को बोधगम्य करने के लिये उद्धरण देते हैं और अन्त में सबका सारांश फिर कह जाते हैं। निबन्धों में तो उन्होंने सदैव यही पद्धति अपनाई है।

शास्त्रीय विवेचन की पद्धति

शुक्लजी का पाश्चात्य समीक्षा से गहरा परिचय था। उन्होंने पाश्चात्य

प्रौढ़ता की दृष्टि से शुक्लजी के निबन्धों की दो कोटियाँ हैं। प्रारम्भिक निबन्ध और प्रौढ़ावस्था के निबन्ध। प्रारम्भिक निबन्धों में 'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'उपन्यास', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी', तथा शुक्लजी के निबन्ध 'मित्रता' प्रमुख हैं।

प्रौढ़ावस्था के निबन्धों की भी दो कोटियाँ हैं। (१) मनोवैज्ञानिक निबन्ध और (२) समीक्षात्मक निबन्ध। समीक्षात्मक निबन्ध भी दो प्रकार के हैं—(क) सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध निबन्ध (ख) व्यावहारिक समीक्षा से सम्बद्ध निबन्ध।

मनोवैज्ञानिक निबन्ध मनोविकारों पर लिखे गये हैं। 'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा-भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'घृणा', 'ईर्ष्या', 'भय' और 'क्रोध'। मनोविकारों पर लिखे गये ये निबन्ध वस्तुत मनोवैज्ञानिक निबन्ध नहीं हैं, क्योंकि एक तो इनका प्रतिपादन लोक-दृष्टि से हुआ है। दूसरे ये सभी काव्य शास्त्रीय परम्परा में आनेवाले हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र में इन सभी का वर्णन है। शुक्लजी ने गहराई के साथ इनकी काव्यगत एवं जीवनगत स्थिति पर विचार किया है। ये विचार एक मनोवैज्ञानिक का नहीं एक मर्यादावादी साहित्यिक के हैं।

इन निबन्धों की सामान्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

१—इनमें शुक्लजी के व्यक्तित्व की छाप है।

२—इनका प्रतिपादन शुक्लजी की पूर्व परिचित विवेचनात्मक पद्धति पर हुआ है।

३—इनमें शुक्लजी के समीक्षा-सिद्धान्त के बीज मिल जाते हैं।

४—इनमें शुक्लजी की बुद्धि और हृदय दोनों का योग है।

५—इनमें विषय-प्रधानता तथा व्यक्ति-प्रधानता दोनों हैं।

६—इनमें समास-शैली परमविकसित स्थिति में देखी जा सकती है।

७—रोचकता के लिये कहीं-कहीं लोक-प्रचलित कथाओं का सन्निवेश भी किया गया है।

८—मनोविकारों पर लिखे गये निबन्धों में तुलनात्मक पद्धति का आधार लिया गया है।

सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बद्ध निबन्धों में 'कविता क्या है?' काव्य में 'लोक-मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद,' 'रसात्मक बोध के विविध रूप' आदि प्रमुख हैं। इनमें कुछ तो शुक्लजी ने अपने मत की स्थापना के लिये और कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना के लिये लिखे हैं।

प्रभावात्मकता लाने के लिये शुक्लजी ने कहीं क्रियापद को वाक्य के बीच में रख दिया है, कहीं तुकदार वाक्यों का प्रयोग किया है और कहीं अत्यन्त छोटे-छोटे वाक्यों में 'यदि' और 'तो' के प्रयोगों द्वारा उतार-चढ़ाव लाने की चेष्टा की है। प्रत्येक का एक-एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

(१) तुकदार वाक्य—'इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोड़ेंगे'।

(२) क्रियापद का वाक्य के मध्य में प्रयोग—'कवियों को आकर्षित करनेवाली गोप जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिये सबसे अधिक अवकाश।'

(३) 'यदि' और 'तो' की नियोजना—"यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष-पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, आनंदोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता—तुलसी के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।"

शुक्लजी की भाषा में व्याख्यानात्मकता (वक्तृता की शैली) भी कहीं-कहीं आ गई है। उदाहरण के लिये—'काव्य में रहस्यवाद' से एक उद्धरण देखिये—

"यह नवीनता नहीं है—अपने स्वरूप का घोर अज्ञान है, अपनी शक्ति का घोर अविश्वास है, अपनी बुद्धि और उद्भावना का घोर आलस्य है, पराक्रान्त हृदय का घोर नैराश्य है, कहाँ तक कहें? घोर साहित्यिक गुलामी है।"

इतिवृत्तात्मक शैली में प्रायः वृत्त उपस्थित किया जाता है। शुक्लजी ने 'पदमावत की कथा' प्रस्तुत करने में इसी शैली का प्रयोग किया है। वाक्य सरल सुबोध और छोटे-छोटे हैं। शब्द प्रायः तद्भव और बोल-चाल के हैं। अन्यत्र भी शुक्लजी ने इस शैली का आवश्यकतानुसार प्रयोग किया है।

शुक्लजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी व्यक्तित्व-विधायिनी शक्ति है। शुक्लजी के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषतायें हैं—गम्भीरता, दृढ़ता, भावुकता, नैतिकता तथा हास्य और व्यंग्य। इन सभी की समानुपातिक अभिव्यक्ति शुक्लजी की भाषा में स्पष्ट लक्षित होती है। गम्भीरता तो शुक्लजी की भाषा में सर्वत्र है। उसे उदाहृत करने की आवश्यकता नहीं। शुक्लजी की जीवनगत नैतिकता के कारण ही भाषा में संयम और शालीनता आ गई है। उनके व्यक्तित्व की दृढ़ता ने वाक्य-योजना में अपूर्व बल ला दिया है। उनका अपनी मान्यताओं पर अखंड विश्वास था। उन्हें पकड़कर वे अविचल दृढ़ स्तम्भ की तरह स्थित हो जाते हैं और युग की प्रबल विरोधी मान्यताओं के प्रवाह में भी अडिग भाव से खड़े रहते हैं। एक उदाहरण देखिये—

"पद्मिनी क्या सचमुच सिंहल की थी! पद्मिनी सिंहल की हो नहीं सकती।"

शुक्लजी के इन ग्रंथों को समझने के लिये भी बुद्धि चाहिये और काव्य-शास्त्रीय परम्पराओं का ज्ञान भी।

सामान्य विशेषतायें

(१) शुक्लजी का भाषा-विषयक दृष्टिकोण व्यापक एवं उदार था। इसीलिये आवश्यकतानुसार उसकी समृद्धि के लिये अँगरेजी, तद्भव, देशज तथा अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग भी करते हैं। यह प्रयोग प्राय हास्य-सृष्टि के लिये हुआ है।

(२) शुक्लजी ने लोकोक्तियों और मुहावरों का भी उचित प्रयोग किया है।

(३) उन्हें अपनी भाषा की स्वाभाविक एवं मूल प्रवृत्ति का बड़ा ध्यान था। अतएव अँगरेजी से लिये गये प्रयोगों को आपने ग्रहण नहीं किया।

(४) कहीं-कहीं आपने अपने निबंधों में अमूर्त भावों को मूर्त मानकर प्रयोग किया है जैसे—'प्रेम दूसरों की आँखों नहीं देखता, अपनी आँखों देखता है।'

(५) शुक्लजी ने स्थल-स्थल पर रूपकों की योजना भी की है।

इस प्रकार शुक्लजी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी भाषा-शैली में मूर्त हो गया है। तथ्य तो यह है कि उनका समूचा कृतित्व ही उनके व्यक्तित्व का विकास मात्र है। शुक्लजी के अद्वितीय एव महिमामय व्यक्तित्व के विषय में प० हजारीप्रसाद द्विवेदी के कुछ वाक्यों की उद्धरणी देकर हम प्रस्तुत प्रसग को समाप्त करेंगे—

"हिन्दी-संसार में शुक्लजी अपने ढंग का एक और अद्वितीय व्यक्तित्व लेकर अवतीर्ण हुये थे। प्राचीन-साहित्य का इस प्रकार मथन करनेवाले कम साहित्यिक समालोचक होंगे। सस्कृत के साहित्य-शास्त्र पर उनका पूर्ण अधिकार था। यह कह सकना बड़ा कठिन है कि आचार्य शुक्ल के ऊपर प्राचीन विचारों का प्रभाव अधिक है या नवीन विचारों का। जिस लेखक का प्रभाव इतना व्यापक हो उसकी असाधारण प्रतिभा के लिये प्रमाण खोजने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य शुक्ल उन महिमाशाली लेखकों में है जिनकी प्रत्येक पक्ति आदर के साथ पढ़ी जाती है 'आचार्य' शब्द ऐसे ही कर्त्ता साहित्यकारों के योग्य है। प० रामचन्द्र शुक्ल सच्चे अर्थों में आचार्य थे।"

आचार्य शुक्ल की गद्य-कृतियाँ

१. इतिहास
    (क) हिन्दी-साहित्य का इतिहास
२. व्यावहारिक-आलोचना ग्रन्थ
    (क) जायसी (जायसी-ग्रंथावली की भूमिका)
    (ख) तुलसीदास (तुलसी-ग्रंथावली की भूमिका)
    (ग) सूरदास (भ्रमर-गीत-सार की भूमिका)

३ सैद्धान्तिक समालोचना

(क) रस-मीमांसा (मृत्यु के बाद प्रकाशित)

४ निबन्ध

(क) चिन्तामणि भाग १, भाग २,

(ख) प्रारम्भिक निबन्ध 'साहित्य', 'मित्रता' आदि

५ अनुवाद

(क) शशाङ्क (बँगला उपन्यास)

(ख) विश्व-प्रपञ्च (अँगरेजी)

(ग) आदर्शजीवन (अँगरेजी)

(घ) राज्य प्रबन्ध शिक्षा (अँगरेजी)

(ङ) मेगस्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन (अँगरेजी)

(च) कल्पना का आनन्द (अँगरेजी)

(छ) स्फुट अनुवाद (अँगरेजी)

जयशंकर 'प्रसाद'

हिन्दी-गद्य के परिष्कार के पश्चात् उसमें संयम और गाम्भीर्य का समावेश हो चुका था। छायावादी युग में अलंकरण, प्रयोग-वक्रता, सूक्ष्मता, काव्यात्मकता, वाक्य-भंगिमा तथा तरल प्रवाह का सन्निवेश भी उसमें हुआ। 'प्रसाद' ने इस युग का प्रतिनिधित्व किया।

गद्यकार 'प्रसाद' निबन्ध-लेखक, नाटक-स्रष्टा, कथाकार, उपन्यास-प्रणेता, गद्य-काव्यकार तथा चम्पूकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। 'प्रसाद' प्रधानतः कवि हैं। उनके निबन्ध उनके काव्य-सिद्धान्तों का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। नाटकों में 'प्रसाद' के कवि ने संस्कृति, दर्शन और इतिहास की पृष्ठभूमि में वर्तमान जीवन का मूल्यांकन किया है। कथाकार के रूप में भी वे भावों का द्वन्द्व चित्रण करते हुये कविकर्म का ही प्रसार करते हैं। उनके उपन्यासों में आदर्शवादी कवि न यथार्थ को छूने की चेष्टा की है गद्यकाव्य और चम्पू, कवि 'प्रसाद' के भावों और कल्पना-चित्रों के गुम्फन हैं। इस प्रकार 'प्रसाद' के सम्पूर्ण गद्य-साहित्य में उनका कवि-रूप ही आच्छादित है, फिर भी इस गद्य-साहित्य की महिमा, महत्ता और मूल्य है।

'प्रसाद' के निबन्धों की मुख्यतः तीन कोटियाँ हैं।

(क) सामान्य साहित्यिक निबन्ध।

निबन्धकार 'प्रसाद'

(ख) एतिहासिक विषयों पर लिखे गये निबन्ध।

(ग) साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध।

सामान्य साहित्यिक निबन्ध 'इन्दु' (मासिक पत्रिका) के लिये समय-समय पर लिखे गये थे। इनकी रचना १९०९-१९१२ के बीच हुई थी। 'प्रकृति सौन्दर्य', 'भक्ति', 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन', 'चम्पू', 'कवि और कविता', 'कविता-रसास्वाद', 'मौर्यों का राज्य परिवर्त्तन', 'सरोज', 'हिन्दी कविता का विकास', ये निबन्ध इन्दु में प्रकाशित हुये थे। इनमें भावुक और कल्पनाशील 'प्रसाद' के दर्शन होते हैं। अभी उनके व्यक्तित्व में चिन्तन की गहराइयाँ नहीं आई थी।

'प्रसाद' के ऐतिहासिक विषयों पर लिखे हुये निबन्ध प्रायः इनके ऐतिहासिक नाटकों—'विशाख', 'अजातशत्रु', 'राज्यश्री', स्कन्दगुप्त', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'ध्रुवस्वामिनी'—की भूमिका के रूप में प्रस्तुत हैं। स्वतन्त्र रूप से केवल दो निबन्ध लिखे गये हैं—'सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य', 'आर्यावर्त का प्रथम सम्राट् इन्द्र'। 'प्रसाद' इन्द्र के ऊपर भी एक ऐतिहासिक नाटक लिखनेवाले थे। बहुत सम्भव

है दूसरा निबन्ध उसकी भूमिका का रूप लेता। 'कामायनी का आमुख' भी एक प्रकार से कामायनी के कथासूत्रों की ओर संकेत करनेवाला एक ऐतिहासिक निबन्ध ही है। इन निबन्धों में 'प्रसाद' का अन्वेषक सजग रहा है। और सम्भवतः उनका कवि-रूप पीछे रहा है। इनकी शैली इतिवृत्तात्मक, गवेषणा-प्रधान तथा यौक्तिक है।

'प्रसाद' जी के साहित्य-समीक्षा सम्बन्धी निबन्ध—'काव्य और कला', 'रहस्यवाद', 'रस', 'नाटकों में रस का प्रयोग', 'नाटकों का आरम्भ', 'रंगमञ्च', 'आरम्भिक पाठ्य-काव्य' तथा 'यथार्थ और छायावाद'—पहले 'हंस' में प्रकाशित हुये थे। अब पुस्तकाकार 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नाम से सुसम्पादित होकर प्रकाशित हुये हैं।

इन निबन्धों में 'प्रसाद' जी का संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का पूर्ण अनुशीलन प्रकट हुआ है। उनकी निजी मान्यतायें भी प्रौढ़तम रूप में इन निबन्धों में द्रष्टव्य हैं। जिन महत्वपूर्ण बातों की ओर 'प्रसाद' साहित्य-शास्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं उन्हें निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

काव्य

(क) सबसे महत्वपूर्ण मान्यता काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में है। 'प्रसाद' के अनुसार 'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण विकल्प या विज्ञान से नहीं है।' अपनी परिभाषा को स्पष्ट करते हुये वे आगे कहते हैं 'काव्य को संकल्पात्मक मूल अनुभूति कहने से मेरा जो तात्पर्य है, उसे भी समझ लेना होगा। आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण अवस्था जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है, काव्य में संकल्पात्मक मूल अनुभूति कही जा सकती है।' मनन-शक्ति की असाधारण अवस्था से उनका तात्पर्य युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित शाश्वत चेतनता से है। इस प्रकार 'प्रसाद' की दृष्टि में शाश्वत चेतनता जब श्रेय ज्ञान को मूल चारुत्व में ग्रहण करती है, तब काव्य का सृजन होता है। 'प्रसाद' जी आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति (शाश्वत चेतनता) की दो धारायें—काव्यधारा और दार्शनिक-धारा—स्वीकार करते हैं, और इन दोनों में तत्वतः अभेद मानते हैं। इस प्रकार 'प्रसाद' जी काव्य को सर्वोच्च आध्यात्मिक भूमि पर स्थित करते हैं।

रहस्यवाद

(ख) 'प्रसाद' जी की दूसरी महत्वपूर्ण मान्यता 'रहस्यवाद' के सम्बन्ध में है। उनके अनुसार 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्यधारा रहस्यवाद है।' इस प्रकार युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित शाश्वत चेतना जब सत्य को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण करती है तब 'रहस्यवाद' की सृष्टि होती है। इस . पूर्णतः भारतीय मानते हुये 'प्रसाद' जी इसका विकास वैदिक काल के

'ऊषा' और 'नासदीय' सूक्तों में, अधिकांश उपनिषदों में, शैव शाक्तादि आगमों में तथा आगे चलकर शैव धारा से प्रभावित 'सहजानन्द' के उपासक नागप्पा, कन्हया आदि सिद्धों में मानते हैं। इस रूप में 'प्रसाद' जी ने आचार्य शुक्ल की रहस्यवादी मान्यताओं का सबल, सतर्क इतिहास सम्मत उत्तर दिया है।

(ग) 'प्रसाद' जी की तीसरी विचारणीय स्थापना काव्य के विवेकवादी (अनात्मवादी) और आनन्दवादी (रहस्यवादी, आत्मवादी) धाराओं को लेकर है। विवेकवादी परम्परा के अन्तर्गत वे बौद्ध साहित्य, पौराणिक साहित्य, राम-काव्य, मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य आदि को स्वीकार करते हैं। आनन्दवादी परम्परा का उल्लेख रहस्यवादी काव्यधारा के उल्लेख के साथ ऊपर किया जा चुका है। शंकराद्वैत तथा शुद्धाद्वैत से अनुप्राणित कृष्ण-काव्य को वे विवेकवादी तथा आनन्दवादी दोनों प्रवृत्तियों के समिश्रण का परिणाम मानते हैं।

विवेकवादी और आनन्दवादीकाव्य-धारायें

(घ) *'प्रसाद' जी की चौथी महत्वपूर्ण अवधारणा कला विषयक है।* वे कला को पाश्चात्य मान्यताओं के आधार पर नहीं देखते। उनके अनुसार 'काव्य', विद्या है और 'कला' उपविद्या। वे केवल मूर्ताधार की सूक्ष्मताओं को लेकर कला की उच्चता या हीनता का निरूपण नहीं करना चाहते।

कला

(ङ) इन निबन्धों में 'प्रसाद' जी की तीन अन्य महत्वपूर्ण मान्यताओं का स्पष्टीकरण हुआ है। आदर्शवाद, यथार्थवाद और छायावाद। 'आदर्शवाद' के प्रति अपना विचार प्रकट करते हुये वे कहते हैं "सिद्धान्त से ही आदर्शवादी धार्मिक-प्रवचनकर्ता बन जाता है। वह समाज को कैसा होना चाहिये, यही आदेश करता है।" आदर्शवाद का यह सामान्य रूप है। यह रूप उन्हें मान्य नहीं था।

आदर्शवाद

(च) 'यथार्थवाद' को संक्षेप में 'महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत-जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख' मानते हैं।

यथार्थवाद

(छ) 'छायावाद' को वे प्राचीन साहित्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित मानते हैं। उनके अनुसार 'छाया, भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तरस्पर्श करके भाव-समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।"

छायावाद

भावात्मक कहानियों में रहस्यमयी भावना का प्राधान्य है। इस वर्ग में 'खंडहर की लिपि', 'उस पार का योगी', 'हिमालय का पथिक' आदि प्रमुख हैं।

प्रतीकात्मक कहानियों में 'समुद्रसन्तरण', 'प्रलय', 'कला', 'पत्थर की पुकार', 'वैरागी', 'ज्योतिष्मती' उल्लेखनीय हैं।

शैली की दृष्टि से 'प्रसाद' ने 'वर्णनात्मक', 'संलाप', 'आत्मकथा' तथा पत्र-शैली का प्रयोग किया है।

पत्र-शैली में उनकी एक ही कहानी 'देवदासी' लिखी गई है।

आत्मकथा के रूप में 'चित्रवाले पत्थर', 'आँधी', 'ग्रामगीत' लिखी गई हैं।

सलाप-शैली का सुन्दर उदाहरण 'आकाशदीप' में देखा जा सकता है।

वर्णनात्मक-शैली का प्रयोग सर्वाधिक किया गया है।

कलात्मक-विकास की दृष्टि से 'प्रसाद' की १९२९ ई० के पहले की कहानियाँ साधारण हैं। १९२९ के पश्चात् प्रौढ़ता आती है। 'आँधी' और 'इन्द्रजाल' संग्रहों में 'प्रसाद' की कला प्रौढ़तम रूप में देखी जा सकती है।

'प्रसाद' की कहानियों की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित रूप में लक्ष्य की जा सकती हैं।

(१) 'प्रसाद' की कहानियों में काव्य-तत्त्व की प्रधानता है।

(२) प्रायः इतिहास के अञ्चल में स्वच्छन्दतावादी जीवन की झलक दिखाई गई है।

(३) चरित्रों में भाव संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व तथा मनोवैज्ञानिक चढ़ाव-उतार देखा जा सकता है। (यह विशेषता प्रौढ़ कृतियों में ही लक्षित होती है।

(४) प्रेम और करुणा, इन दो मानवीय वृत्तियों का चित्रण अधिक किया गया है।

(५) नियतिवादी तथा दार्शनिक प्रवृत्तियाँ भी प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं।

(६) कथात्मकता कम है। रूपचित्रण, प्रकृति-चित्रण और भाव चित्रण अधिक।

(७) अन्तिम कहानी-संग्रहों में 'प्रसाद' बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक तथा यथार्थवादी-दृष्टिकोण से प्रभावित हैं।

(८) भाषा का स्वरूप प्रायः गद्यकाव्य जैसा हो गया है।

'प्रसाद' ने कुल तीन उपन्यास लिखे हैं—दो (कंकाल, तितली) पूरे और एक (इरावती) अधूरा। हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में तीनों का अपना स्थान है।

उपन्यासकार 'प्रसाद'

कंकाल में मध्यवर्गीय नागरिक जीवन को नग्न कर देखा गया है। इसमें नागरिक जीवन के सभी प्रतिनिधि आ गये हैं। [illegible] श्रीचन्द्र, मठाधीश देवनिरंजन, सुधारवादी आर्यसमाजी, [illegible] मंगलदेव ईसाई [illegible], कृष्णशरण, [illegible]

उपस्थित हैं। स्त्री पात्रों में पतिव्रत-च्युत किशोरी, परित्यक्ता यमुना, स्वैरिणी घंटी, धर्मच्युत लतिका, वर्नविहंगिनी माला, स्त्रियों की विविध समस्यायें सामने ले आती हैं। विशेषता यह है कि सभी पात्र पुरुष (कृष्ण-शरण के अतिरिक्त) चारित्रिक दृष्टि से हीन हैं। साधु शिरोमणि देवनिरञ्जन किशोरी के साथ प्रणय-लीला करते हैं। विशप साहब घंटी को लेकर उड़ जाते हैं। आदर्शवादी छात्र मंगलदेव यमुना को गर्भवती बनाकर छोड़ देता है। धन को जीवन का सर्वस्व माननेवाला श्रीचन्द्र पञ्जाबी विधवा 'चन्दा' से सम्बन्ध जोड़ता है और उसकी पुत्री लाली से विजय का ब्याह करना चाहता है। जातीयता की दृष्टि से ये सभी वर्णसंकर हैं।

'कंकाल', समाज की रूढ़िग्रस्त-धार्मिकता तथा थोथी नैतिकता पर बड़ा गहरा व्यंग्य है। ऊपरी सामाजिक व्यवस्था के भीतर कितना भयंकर खोखलापन है, इसे 'प्रसाद' ने प्रत्यक्ष कर दिया है। आदर्श-प्रधान निवृत्ति-मूलक साधना के प्रति 'प्रसाद' ने पूर्ण अनास्था प्रकट की है।

स्त्री-पात्रों का चित्रण सम्वेदना की रेखाओं से किया गया है। 'तारा' ('यमुना') का चरित्र तो नारी-जीवन की विवशता और उज्वलता दोनों का प्रतीक है। भारतीय नारी विवश है, असहाय है। वह परित्यक्त होती है किन्तु अपने सतीत्व की रक्षा करती है 'मंगल ! भगवान् जानते होंगे कि तुम्हारी शय्या पवित्र है। कभी मैंने स्वप्न में भी, तुम्हें छोड़कर, इस जीवन में किसी से प्रेम नहीं किया और न तो मैं कलुषित हुई। यह तुम्हारी प्रेम-भिखारिनी, पैसे की भीख नहीं माँग सकती और न पैसे के लिये अपनी पवित्रता बेंच सकती है।' इतनी उच्च-भावनाओं को लेकर चलनेवाली यह नारी आज हिन्दू-समाज में कितनी असहाय है। उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं। वह विधाता की एक झुंझलाहट है। उनके भाग्य में लिखा है कि 'उड़कर भागते हुये पक्षी के पीछे चारा और पानी से भरा हुआ पिंजरा लिये घूमती रहे'। आज का पुरुष इतना अपवित्र, हीन और स्वार्थी हो गया है कि वह नारी को बहन के रूप में देख ही नहीं सकता। तारा (यमुना) का यह प्रश्न, 'विजय बाबू ! मैं दया की पात्री एक बहिन बनना चाहती हूँ। है किसी के पास, इतनी निःस्वार्थ स्नेह-सम्पत्ति जो मुझे दे सके ?' वस्तुतः आज भी ज्यों का त्यों है इसका हमारे पास कोई उत्तर नहीं है।

चारित्रिक पतन होने पर भी नारी-जाति वात्सल्य और ममता से हीन नहीं होती। किशोरी पति-वञ्चक है। पतिहीन है किन्तु उसका मातृत्व अपराजेय है। वह कहती है "तो रोकता कौन है, जाओ; परन्तु जिसके लिये मैंने सब कुछ खो दिया है, उसे तुम्हीं ने मुझसे छीन लिया—उसे देकर जाओ ! जाओ तपस्या करो, तुम फिर महात्मा बन जाओगे ! सुना है, पुरुषों के तप करने

घोर कुकर्मों को भी भगवान् क्षमा करके उन्हें दर्शन देते हैं। पर मैं हूँ स्त्री जाति मेरा यह भाग्य नहीं, मैंने जो पाप बटोरा है; उसे ही मेरी गोद में फेंकते जाओ।" इसके विपरीत पुरुष वञ्चक है, स्वार्थी है, कामुक है, निर्वीर्य है। उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

नारी की विवशता तथा पुरुष की स्वार्थ-परता की उपज 'विजय' का व्यक्तित्व है। उसका समाज में कोई मूल्य नहीं। अतः वह विद्रोही है उसकी भीषण प्रतिक्रिया "क्या हिन्दू होना परम सौभाग्य की बात है? जब उस समाज का अधिकांश पद-दलित और दुर्दशा-ग्रस्त है, जब उसके अभिमान और गौरव की वस्तु धरापृष्ठ पर नहीं बची—उसकी संस्कृति विडम्बना, उसकी संस्था सारहीन और राष्ट्र—बौद्धों के 'शून्य' के सदृश बन गई है; जब संसार की अन्य जातियाँ सार्वजनीन भ्रातृभाव और साम्यवाद को लेकर खड़ी हैं तब आपके इन तिलकों से भला उसकी सन्तुष्टि होगी?" हिन्दू समाज की सारहीनता का ढिंढोरा पीटती है। वह समाज से बहिष्कृत होकर निर्वासितों (डाकुओं) के समाज में जाता है। वहाँ भी उसे शान्ति नहीं मिलती। अन्ततः वह भिखारी-समाज में शरण पाता है और भूख की ज्वाला में जलकर प्राण छोड़ देता है। 'यमुना' की भाँति विजय का जीवन भी हमारे सामने प्रश्न रूप में उपस्थित है।

सम्भवतः कृष्णशरण गोस्वामी के प्रवृत्ति मूलक लोक-सेवा-धर्म की व्यवस्था में 'प्रसाद' ने उपर्युक्त समस्याओं के समाधान का विश्वास प्रकट किया है। किन्तु खोखले समाज का पुनर्निर्माण क्या इन आदर्शों के आधार पर सम्भव है?

तितली में नारियों की कहानी है। इसका कथा-सूत्र बिखरा हुआ नहीं है। मुख्यतः कथा की दो धारायें हैं। प्रथम-धारा का सम्बन्ध शेरकोट और बंजरिया से है। मधुबन रामनाथ, तितली और राजकुमारी इस धारा से सम्बद्ध प्रतिनिधि पात्र हैं। दूसरी धारा का सम्बन्ध धामपुर से है धामपुर ताल्लुका है। इस ताल्लुके के जमींदार इन्द्रदेव हैं। श्याम दुलारी इन्द्रदेव की माता हैं। माधुरी उनकी बहन हैं। वे विलायत हो आये हैं और वहाँ से एक दीन लड़की 'शैला' को साथ ले आये हैं। इस प्रकार दूसरी धारा के प्रमुख पात्र 'इन्द्रदेव', 'शैला', श्यामदुलारी और माधुरी हैं। तितली, रामनाथ की पोष्यपुत्री है। मधुबन शेरकोट का स्वामी है। राजकुमारी उसकी विधवा बहिन है। वह मधुबन को बचपन से सँभालती रही है। मधुबन और तितली में सहज स्नेह है।

शैला को भारतीय ग्रामीण वातावरण से मोह है। शेरकोट के समीप ही उसका जन्म हुआ था। वस्तुतः उसकी माता 'जेन' अपने भाई बार्टली के साथ नीलकोठी में रहती थी। बार्टली नील का व्यापार करता था। इसी नीलकोठी में शैला का जन्म हुआ था। बार्टली की मृत्यु के बाद शैला को लेकर जेन विलायत लौट गई थी।

इन्द्रदेवी तितली की ओर आकर्षित है। शैला को तितली मधुवन तथा उस सम्पूर्ण ग्राम्य वातावरण के प्रति मोह है। इस आकर्षण मोह ने दोनों कथा-धाराओं को जोड़ दिया है। धामपुर का तहसीलदार अपने अत्याचारों से मधुवन को तबाह कर देना चाहता है। अतः दोनों कथा-धाराओं को जोड़ने में वह भी सहायक हुआ है।

'तितली' बड़े-बड़े तालुक़ेदारों के घरों का आन्तरिक दर्शन कराती है। जहाँ प्राचीन खोखले संस्कार पलते हैं। जहाँ आर्थिक लाभ के लिये अन्तर्विद्रोह की ज्वाला धधकती है और जहाँ विलासिता भीतर ही भीतर रंग लाया करती है। दूसरी ओर 'तितली' प्रकृति के स्वच्छन्द गोद में साँस लेती हुई विवश मानवता का चित्र उपस्थित करती है। हमारे गाँव इसी मानवता के प्रतीक हैं। इनसे ऊपर उठकर पाश्चात्य एवं भारतीय सांस्कृतिक जीवन का वैषम्य भी तितली में व्यक्त किया गया है। शैला को भारतीय संस्कारों की ओर मोड़कर कथाकार 'प्रसाद' ने भारतीय आदर्शों की ओर अपनी अटूट आस्था का परिचय भी दिया है। विधवा जीवन, अवैध प्रेम, वेश्या वृत्ति, धर्मान्धता तथा सरकारी कर्मचारियों की निरंकुशता आदि अनेक प्रासंगिक समस्याओं का चित्रण भी 'तितली' में हुआ है।

इन समस्याओं का समाधान क्या है? 'प्रसाद' पुनः सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर सामने आते हैं। रामनाथ और वाट्सन के आदर्श चरित्रों में समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं। दोनों के प्रयत्न से नील कोठी में अस्पताल खुलता है। वहीं बैंक का प्रबन्ध होता है। वहीं गाँव की पाठशाला भी आ जाती है। मधुवन और तितली प्रणय-सूत्र में भी बँध जाते हैं किन्तु क्या समस्यायें सुलझती हैं? असत् वृत्तियाँ अपना ताना-बाना बुनती हैं। मधुवन उसमें फँस जाता है। भागता है। पकड़ा जाता है। जेल होती है और अन्त में—तितली ने देखा 'सामने एक चिर परिचित मूर्ति! जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुवन विश्राम-शिविर में द्वार पर पड़ा है।' यदि हमारी सम्पूर्ण आदर्शवादिता हमें जीवन-युद्ध में थका देती है तो विषमताओं का शमन कैसे होगा?

'तितली' में कथासूत्र जटिल नहीं है। जीवन की यथार्थवादी भूमि काफी साफ हो गई है। कथा का वेग अपेक्षाकृत मन्द है। प्राकृतिक खण्डचित्रों को उपस्थित करने में 'प्रसाद' की प्रवृत्ति रमी है। समस्याओं पर लेखक ने स्पष्ट टिप्पणियाँ की हैं। सम्मिलित परिवार की प्राचीन परम्परा आज अनावश्यक सिद्ध हो रही है। इन्द्रदेव की डायरी में इस पर सुन्दर टिप्पणी की गई है, 'प्रत्येक प्राणी अपनी व्यक्तिगत चेतना के उदय होने पर, एक कुटुम्ब में रहने के कारण अपने को प्रतिकूल परिस्थिति में देखता है। इसलिये सम्मिलित कुटुम्ब का जीवन दुखदायी है। सब जैसे भीतर-भीतर विद्रोही! मुँह पर कृत्रिमता और उन घड़ी

की प्रतीक्षा में ठहरे हैं कि विस्फोट होकर उछलकर चले जायें। ग्रामसुधार की आवश्यकता पर बल देते हुए 'प्रसाद' कहते हैं 'मैं समझता हूँ कि गाँवों का सुधार होना चाहिये। कुछ पढ़े-लिखे सम्पन्न और स्वस्थ लोगों को नागरिकता के प्रलोभनों को छोड़कर देश के गाँवों में बिखर जाना चाहिये। उनके सरल जीवन में—जो नागरिकों के संसर्ग से विषाक्त हो रहा है—विश्वास, प्रकाश और आनन्द का प्रचार करना चाहिये।' निश्चित है कि इन आवश्यकताओं को महसूस करते हुये भी लेखक इनकी पूर्ति का जो व्यावहारिक समाधान उपस्थित करता है वह अधिक स्वस्थ और उपादेय नहीं।

वस्तु-संगठन, वर्णन-कला, चित्रण आदि की दृष्टि से तितली अपने में पूर्ण एवं सफल कृति है।

इरावती 'प्रसाद' की तीसरी और अधूरी कृति है। इसका कथानक शुंग वंश तथा खारवेल के इतिहास से सम्बद्ध है। इरावती उज्जयिनी के सुप्रसिद्ध महाकाल के मन्दिर की नर्तकी है। आनन्दभिक्षु उसका प्रेमी है। अग्निमित्र मगध के महादण्ड नायक पुष्यमित्र का पुत्र है। वह उज्जयिनी आया हुआ है। मगध का कुमारामात्य वृहस्पति मित्र भी वहाँ उपस्थित है। मन्दिर में देवदासी इरावती का नृत्य प्रारम्भ होता है। वृहस्पति मित्र इरावती पर मुग्ध होता है। वह नृत्य बन्द होने की आज्ञा देता है। मन्दिर का ब्रह्मचारी आनन्द भिक्षु आज्ञा का विरोध करता है। इसी समय वृहस्पति मित्र को सम्राट् शतधनुष की मृत्यु की सूचना मिलती है। नर्तकी इरावती बन्दी बनाई जाती है। वृहस्पति मित्र सम्राट बनकर पाटलिपुत्र लौट आता है। इरावती शील की शिक्षा प्राप्त करने के लिये कुक्कुटाराम विहार में भेज दी जाती है। विहार में एक दिन शारदी चन्द्रिका में उसका कलाविलास जाग उठता है। वह नृत्य करती है। भिक्षुणी संघ उस पर कुपित होता है। वह धीरे-धीरे क्षिप्रा तट पर आ खड़ी होती है। अग्निमित्र उसे एक नाव पर बिठाकर भगाना चाहता है। इसी समय सम्राट् के सैनिक दोनों को पकड़कर कुसुमपुर ले जाते हैं।

दूसरी ओर एक और चक्र चल रहा है। महाराज शतधनुष ने मौर्य राजकन्या कालिन्दी को पकड़ मगाया था। वह महाराज की मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र हो गई थी। उसने सिंहपदों की एक गुप्त संस्था के साथ संधि कर ली है। सब मिलकर साम्राज्य को उलटना चाहते हैं। कालिन्दी इरावती को मुक्त कर लेती है। अग्निमित्र भी उसके प्रभाव में आ जाता है। वह अग्निमित्र से प्रणय-प्रस्ताव करती है। अग्निमित्र अस्वीकार कर देता है। इरावती को ढूंढ़ते हुये कुछ सैनिक विहार में आ जाते हैं। अग्निमित्र विरोध करता है। घायल होता है। कालिन्दी सेवा करती है। इरावती सम्राट् के सम्मुख लाई जाती है। वह प्रणय

प्रस्ताव करता है। वह मूर्च्छित हो जाती है। कालिन्दी सहसा पहुँचकर उसकी रक्षा करती है।

प्रासंगिक कथानक एक और है। धनदत्त व्यापारी है। जब वह विदेश-यात्रा से लौटता है तो उसे अपनी स्त्री मणिमाला पर सन्देह होता है। दोनों में मन-मुटाव बढ़ता है। फिर समझौता हो जाता है। धनदत्त के यहाँ रत्नों का सुन्दर भाण्डार है। सारी साम्राज्य-विरोधी शक्तियाँ धनदत्त के यहाँ इकट्ठी होती हैं। कालिन्दी और इरावती वहाँ आती हैं। अग्निमित्र आता है। कलिंग का राजपुत्र खारवेल जो मगध पर आक्रमण करनेवाला है वह भी वहाँ रत्न खरीदने आता है और कालिन्दी के चक्र में फँस जाता है। सब मिलकर भीषण कुचक्र रचते हैं। मगध आतंकित है। इसी आतंक के वातावरण में इरावती की कथा अधूरी छूट गई है।

'इरावती' में बृहस्पति मित्र, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, खारवेल ऐतिहासिक पात्र हैं। कालिन्दी, इरावती, धनदत्त, मणिमाला, आनन्द ये कल्पित पात्र हैं। ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पना की तूलिका से भावना के रंगों से चित्रित करने में 'प्रसाद' पूर्ण पटु हैं। प्रस्तुत उपन्यास इस दृष्टि से सफल है। पाठक इतिहास के पृष्ठों में अपने को खो देता है। खेद है कि 'प्रसाद' इसे अधूरा छोड़ गये। श्री विनोदशंकर व्यास का अनुमान है कि यह उपन्यास अधिक विस्तृत न बनाया जाता। वे लिखते हैं—'एक दिन रुग्णावस्था में उन्होंने कहा था एक लेखक महोदय मेरे 'इरावती' उपन्यास को पूरा करना चाहते हैं। हम लोग उनका नाम जानने के लिये उत्सुक हो उठे। 'प्रसाद' जी ने बतलाया। उनका नाम सुनते ही हम लोग हँस पड़े। मैंने कहा—अपनी रचनाओं को आपही पूरा कर सकते हैं।'

नाटककार 'प्रसाद'

'प्रसाद' ने कुल ११ नाटकों की रचना की है। सज्जन (१९१० ई०), करुणालय (१९१२), प्रायश्चित (१९१३), राज्यश्री (१९१४ ई०), विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२), जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६), कामना (१९२७), चन्द्रगुप्त (१९२८), स्कन्दगुप्त (१९२८), एक घूँट (१९२९ ई०), ध्रुवस्वामिनी (१९३२)।

इन नाटकों में 'प्रसाद' की नाट्य-कला क्रमशः विकसित होती रही है।

सज्जन का कथानक महाभारत से लिया गया है। इसमें युधिष्ठिर की सज्जनता दिखाई गई है। पांडवों का अहित करने के लिये दुर्योधन, कर्ण, शकुनी आदि को साथ लेकर 'द्वैत-सरोवर' के समीपवर्ती वन में मृगया खेलने आता है। गन्धर्व राज चित्ररथ नम्रतापूर्वक उस वन में मृगया करने से रोकता है। युद्ध होता है। दुर्योधन बन्दी बनाया जाता है। वन के दूसरे भाग में स्थित पांडव समाचार पाकर दुर्योधन को छुड़ाने का निश्चय करते हैं। युधिष्ठिर अर्जुन को भेजते हैं। इस प्रकार युधिष्ठिर की सज्जनता से दुर्योधन की रक्षा होती है।

नाटक में प्राचीन-पद्धति के अनुसार नान्दीपाठ, मंगलाचरण, भरत-वाक्य रखे गये हैं। बीच-बीच में पात्रों का पद्यबद्ध सम्वाद भी मिलता है। लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन भी हैं। शास्त्रीय दृष्टि से यह एकांकी रूपक है।

प्रायश्चित्त में जयचन्द्र के मूर्खतापूर्ण कुचक्र के कारण पृथ्वीराज का अन्त दिखाया गया है। अन्त में जयचन्द्र को संयोगिता की याद आने से ग्लानि होती है। वह गंगा में कूद पड़ता है।

इसमें नान्दी-पाठ, प्रस्तावना, भरत-वाक्य, पद्यमय सम्वाद आदि कुछ नहीं है।

कल्याणी-परिणय—में इतिहास-प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त मौर्य और सिल्यूकस की कहानी है। युद्ध में सिल्यूकस हार जाता है। वह अपनी पुत्री कार्नेलिया (कल्याणी) का ब्याह सम्राट चन्द्रगुप्त से कर देता है। कार्नेलिया के ब्याह से उभयपक्षों का कल्याण होता है, इसलिये यह कल्याणी है। 'चन्द्रगुप्त' नाटक इसी का परिवर्द्धित रूप है।

इसमें नान्दीपाठ है। अन्त में प्रशस्ति रूप में भारतीय मंगल-विधान की झलक है। सम्वाद भी पद्यात्मक है। चरित्रों का पूर्ण विकास नहीं दिखाया जा सकता है।

करुणालय में हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र के प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान का आधार लिया गया है। अयोध्या नरेश हरिश्चन्द्र नौका-विहार के समय आकाशवाणी द्वारा स्मरण दिलाये जाने पर पुत्र रोहित की बलि की आज्ञा देते हैं। रोहित भागकर ऋषि अजीगर्त के यहाँ जाता है। वहाँ सौ गायों के बदले में ऋषिपुत्र शुनःशेप को बलि के लिये खरीद लाता है। वशिष्ठ यज्ञ कर्म कराने के लिये प्रस्तुत होते हैं। इसी समय विश्वामित्र अपने पुत्रों सहित आकर यज्ञ रोक देते हैं। एक दासी, जो वस्तुतः विश्वामित्र की पत्नी है और शुनःशेप जिसका पुत्र है, अकस्मात् वहाँ आ जाती है। दासी को मुक्ति मिलती है और बलि का प्रश्न समाप्त हो जाता है।

इसमें नान्दी, भरत-वाक्य, प्रस्तावना आदि कुछ नहीं है। वस्तुतः यह गीति-नाट्य है। इसमें चरित्रगत विशेषताओं के चित्रण की ओर प्रसाद की प्रवृत्ति मुड़ी है।

राज्यश्री में प्रसिद्ध वर्द्धन राजवंश की कुमारी राज्यश्री का चरित्रांकन किया गया है। नाटक का आधार 'हर्षचरित' तथा चीनीयात्री युवानच्वांग का ऐतिहासिक विवरण है। कन्नौज का राजा ग्रहवर्मा राज्यश्री का पति है। वह मृगया खेलने जाता है। मालव नरेश देवगुप्त छल से उसकी हत्या करा देता है। राज्यश्री बन्दी बनाई जाती है। राज्यवर्द्धन प्रतिकार लेने आता है। देवगुप्त मारा जाता है। इस बीच भिक्षु शान्तिदेव (विकटघोष) बनकर राज्यश्री को कारागार से मुक्त कर लेता है। विकटघोष, राज्यवर्द्धन की भी हत्या कर डालता है। अब

राज्यश्री पूर्णतः विकटघोष के पञ्जे में पड़ जाती है। वह उस पर अत्याचार करना चाहता है। उसका आर्तनाद सुनकर परिव्राजक दिवाकर मित्र रक्षा करता है। हर्षवर्द्धन राज्यश्री को ढूंढता हुआ वहीं पहुंचता है। राज्यश्री चिता में कूदकर प्राणान्त करना चाहती थी। हर्षवर्द्धन के समझाने पर वह जीवन-धारण करना स्वीकार करती है। अन्त में दोनों बौद्ध हो जाते हैं।

नाटक पूर्णतः ऐतिहासिक है। विकट घोष और सुरमा कल्पित पात्र हैं। प्रारंभ में नान्दीपाठ और अन्त में भरत-वाक्य भी हैं। पद्यात्मक सम्वाद हैं पर अपेक्षाकृत कम। राज्यश्री के दूसरे संस्करण में एक अंक और बढ़ाकर अनावश्यक विस्तार किया गया है। नान्दीपाठ भी निकाल दिया गया है। राज्यश्री में प्रसाद की नाट्यकला प्रौढ़ता की ओर उन्मुख हुई है। सम्पूर्ण नाटक में केवल राज्यश्री का चरित्र ही पूर्ण प्रस्फुटित हो सकता है। घटनाओं की तीव्रता के कारण अन्य पात्र विकास नहीं कर सके हैं।

विशाख का कथानक कल्हण की राजतरंगिणी के आरम्भिक अंश के आधार पर निर्मित हुआ है। नरदेव, काश्मीर का राजा है। उसने नाग सर्दार सुश्रवा की भूमि छीनकर बौद्ध-विहार को दे दी है। वह निराश्रित है। उसकी 'चन्द्रलेखा' और 'इरावती' दो पुत्रियां हैं। 'विशाख' एक ब्राह्मण कुमार है। गुरुकुल में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् राज्य में भ्रमण करता है। एक दिन 'चन्द्रलेखा' को वह देखता है। आकर्षित होता है। चन्द्रलेखा भुवन-मोहिनी है। एक दिन कानीर विहार के बौद्ध महन्त की दृष्टि उस पर पड़ती है। वह उसे अपने विहार में बन्दिनी बनाता है। 'विशाख' के प्रयत्न से वह मुक्त होती है। अब उस पर दूसरी आपत्ति आती है। नरदेव उस पर मुग्ध होता है। प्रजा विद्रोह करती है। वह सुधरता है। अन्त में विशाख, चन्द्रलेखा को प्राप्त करता है।

नाटक पूर्णतः ऐतिहासिक है। नाटककार ने घटना-क्रम में कुछ परिवर्तन कर लिया है। अन्यथा कथानक का स्वरूप 'राजतरंगिणी' के आधार पर ही रखा गया है। बौद्ध भिक्षु 'देवानन्द' कल्पित पात्र है। वह बौद्ध भिक्षुओं के उज्ज्वल पक्ष का प्रतीक है। इस नाटक में 'प्रसाद' ने नाट्यकला के सामान्य धरातल को स्पर्श कर लिया है।

अजातशत्रु में सम्पूर्ण कथानक तीन प्रमुख केन्द्रों में बिखरा हुआ है। मगध, कोशल और कौशाम्बी। मगध में बिम्बसार और अजातशत्रु का गृह-कलह चलता है। उसकी माता छलना (लिच्छवि कुमारी, बिम्बसार की दूसरी रानी) उसका साथ देती है। देवदत्त (बुद्ध का प्रतिद्वन्दी) उसे प्रेरित करता है। गौतम बुद्ध की प्रेरणा से सम्राट बिम्बसार अजातशत्रु को राज्य देना स्वीकार कर लेता है। उसके हृदय में घोर अन्तर्द्वन्द्व है।

बिम्बसार की प्रथम रानी वासवी कोशलकुमारी है। काशी का रा
दहेज में प्राप्त हुआ था। अतः वह काशी की आय बिम्बसार के लिये
रखना चाहती है। काशी की प्रजा उसका साथ देती है। अजातश
नहीं सहन कर सकता। फलस्वरूप मगध और कोशल में भीषण यु
जाता है।

कोशल-नरेश प्रसेनजित का पुत्र विरुद्धक भी अजातशत्रु से प्रेरित होकर
के विरुद्ध विद्रोह करता है। कोशल का सेनापति बन्धुल महारथकर्मी है।
प्रसेनजित उससे आतंकित है। पिता से विद्रोह करके कुमार विरुद्धक का
गम्भीर शैलेन्द्र डाकू बनकर आतंक फैलाता है। सीमाप्रान्त का विप्लव दबा
लिये जाते हुए सेनापति बन्धुल काशी से होकर गुजरता है। वहाँ डाकू श
छल से उसे मार डालता है। इसमें उसके कई प्रयोजन हैं। एक तो वह ब
की पत्नी मल्लिका की ओर आकर्षित है। दूसरे कुमार अजातशत्रु की इससे
सहायता भी हो जाती है। सम्राट प्रसेनजित भी बन्धुल के प्रभाव से आत
थे। इसीलिये उसे राजधानी से दूर रखना चाहते थे। बन्धुल की हत्या में उ
भी गुप्त हाथ था।

कौशाम्बी नरेश उदयन को महारानी वासवी की पुत्री पद्मावती ब्याही थ
उनकी दूसरी रानी मागन्धी नीच प्रकृति की थी। वह गौतम बुद्ध से द्वेष क
थी। लड़कपन में गौतम ने उसके विवाह प्रस्ताव को अस्वीकार कर उस
अपमान किया था। इसी का भीषण प्रतिकार वह लेना चाहती थी। पद्माव
मगधकुमारी होने के कारण गौतम के प्रति श्रद्धालु थी। मागन्धी, पद्मावती
चरित्र पर गौतम को लेकर आक्षेप लगाती है, साथ ही उस पर मिथ्यारोप य
भी लगाती है कि वह (पद्मावती) वीणा में साँप छिपाकर महाराज उदयन
हत्या करना चाहती थी। रहस्य खुलने पर उदयन पद्मावती से क्षमा माँगता है
मागन्धी ग्लानिवश महल में आग लगाकर भाग जाती है। काशी में श्यामा ना
से वेश्यावृत्ति करती है। शैलेन्द्र को वह प्यार करने लगती है। शैलेन्द्र उसक
गला दबाकर, सारी सम्पत्ति लेकर भाग जाता है। गौतम के प्रभाव और सेवा से
बच जाती है। और अन्त में अम्बपाली नाम से भिक्षुणी बन जाती है।

राजा प्रसेनजित और उदयन मिलकर मगध पर आक्रमण करते हैं। अजात-
शत्रु बन्दी बनाया जाकर कोशल भेज दिया जाता है। कोशल में कारागार में
उसे देखकर कोशल-कुमारी बाजिरा उसपर मुग्ध होती है। वह उसे मुक्त कराना
चाहती है। इसी समय प्रसेनजित और वासवी वहाँ आकर उसे मुक्त करती हैं।
ी बाजिरा से उसका ब्याह हो जाता है। अजातशत्रु, बाजिरा और वासवी
लौट जाते हैं।

राजा प्रसेनजित मल्लिका से क्षमा माँगते हैं। वह क्षमा कर देती है। विरुद्धक और उसकी माता को भी महाराज क्षमा कर देते हैं।

अजातशत्रु को पुत्र प्राप्त होता है। वह वात्सल्य का अनुभव करता है। उसे पिता के महत्व की अनुभूति होती है। बिम्बसार उसे क्षमा कर देते हैं। नाटक की सम्पूर्ण घटना के ऊपर गौतम के व्यक्तित्व की अप्रत्यक्ष और कहीं प्रत्यक्ष छाया देखी जा सकती है।

नाटक पूर्णतः एतिहासिक है। बुद्धदेव, बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उदयन ये सभी पात्र पूर्णतः एतिहासिक हैं। वासवी, पद्मावती, विरुद्धक, छलना, देवदत्त, मागन्धी, मल्लिका, वन्धुल आदि पात्रों का उल्लेख भी जातक कथाओं तथा कुछ अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में मिल जाता है। विरुद्धक और शैलेन्द्र तथा मागन्धी-श्यामा-आम्रपाली का एकीकरण 'प्रसाद' की रहस्यमयी कल्पना के सुन्दर विधान हैं।

शास्त्रीयता की दृष्टि से नाटक विरोध-मूलक होने के कारण पाश्चात्य कार्यावस्थायें ही इसमें देखी जा सकती हैं। 'आरम्भ', 'विकास', 'चरमसीमा' (निगति नहीं है) के पश्चात् सहसा 'समाप्ति' कर दी गई है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पात्रों के तीन वर्ग स्पष्ट हैं। गौतम, वासवी, मल्लिका, पद्मावती देवत्व की कोटि में हैं। प्रसेनजित, बिम्बसार सामान्य मानव हैं। किन्तु इनके सद्-संस्कार जगाये जा सकते हैं। अजातशत्रु, छलना, विरुद्धक, देवदत्त, मागन्धी आदि नीच श्रेणी के पात्र हैं। प्रत्येक प्रमुख पात्र का विरोधी पात्र खड़ा करके 'प्रसाद' ने चरित्र-उत्कर्ष दिखाने का सुन्दर प्रयत्न किया है। गौतम का देवदत्त, वन्धुल का विरुद्धक, वासवी की छलना, बिम्बसार का अजातशत्रु, पद्मावती की मागन्धी विरोधी है।

सम्पूर्ण नाटक बाह्य-परिस्थितियों के द्वन्द्व पर विकसित है। अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर उदाहरण बिम्बसार के चरित्र में मिल जाता है। घटनायें तीन केन्द्रों पर बिखरी हैं अतः उनका एकसूत्रीकरण जटिल हो गया है। बड़े ही क्षीण कथा-तन्तुओं से वे जोड़ी गई हैं। उस ऐतिहासिक युग का सम्पूर्ण घटना-चक्र नाटक में सम्मुख रखा गया है।

नाटक का नायक अजातशत्रु है। वह धीरोद्धत है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार नायिका 'मल्लिका' है। नाटक का स्थायीभाव उत्साह है। अन्तिम दृश्य में बिम्बसार में निर्वेद की स्थिति दिखाई गई है। नाटक विरोध-मूलक है अतः रसनिष्पत्ति शुद्ध नहीं है।

इस नाटक के रूप में 'प्रसाद' ने प्रथम बार एक महान प्रयोग किया है। वाजपेयीजी के शब्दों में 'यह प्रसादजी का प्रथम सफल नाटकीय प्रयत्न कहा जा सकता है।'

जनमेजय का नागयज्ञ में परीक्षित का प्रतापी पुत्र जनमेजय पिता बदला लेने के लिये नागों का विध्वंस करना चाहता है। सोमश्रवा राज-पुर है। काश्यप इस पद से हटा दिया गया है। अतः कुपित है।

उत्तंक वेदऋषि के आश्रम में शिक्षा समाप्त करता है। गुरुपत्नी दा उससे दक्षिणा रूप में रानी का मणिकुंडल चाहती हैं। रानी वपुष्टमा दानशीलता के कारण उत्तंक मणिकुंडल प्राप्त कर लेता है और गुरु-पत्नी सन्तुष्ट करता है। यह मणिकुंडल तक्षक से हरण किया गया था।

काश्यप तक्षक को सूचित करता है कि तुम्हारा कुण्डल उत्तंक के पास वह उत्तंक की हत्या में प्रयत्नशील होता है।

मृगया खेलते हुये जनमेजय द्वारा भ्रम-वश ऋषि जरत्कारु की हत्या हो ज है। वह प्रायश्चित के लिये अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करता है। इसी स तक्षक-कन्या मणिमाला को देखकर वह उसकी ओर आकर्षित होता है। उ जनमेजय को उत्तेजित करता है। अश्वमेध के पहले नागयज्ञ का अनुष्ठान होता है

दूसरी ओर विरोधी दल संगठित होता है। तक्षक, काश्यप, नागसरद वासुकी, उनकी बहन मनसा और पत्नी सरमा, जरत्कारु ऋषि की पत्नी, स इस कुचक्र में सम्मिलित होते हैं। युद्ध होता है। तक्षक पकड़ा जाता है। काश्य की कूटनीति के प्रभाव में आकर जनमेजय ब्राह्मणों को निर्वासन की आज्ञा दे है और नागों की आहुति देना चाहता है। इसी समय वेदव्यास आते हैं। विरो समाप्त होता है। जनमेजय और मणिमाला का विवाह होता है।

नाटक का कथानक शिथिल है। पात्रों का बाहुल्य है। कार्य की अवस्था ठीक से लक्षित नहीं हो पातीं। नायक को तीसरे दृश्य में सामने लाया गया है आर्यों और नागों का संघर्ष प्रधान हो गया है। आर्यों में क्षत्रिय और ब्राह्मणों के संघर्ष की झलक दिखाई गई है। नाटक में दार्शनिकता अधिक आ गई है।

कामना संस्कृत के 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की भाँति अन्यापदेशिक नाटक है। इसमें भावनाओं को नाटकीय पात्रों का रूप दिया गया है। समुद्र-तट पर फूलों का एक द्वीप है। इस द्वीप में कामना, लीला, लालसा, विनोद निवास करते हैं। विदेश से युवक 'विलास' आता है। लीला, कामना के प्रयत्न से विनोद से ब्याह करती है। कामना विलास को चाहती है पर ब्याह नहीं करती। लालसा के साथ विलास का विवाह होता है। स्वर्ण, मदिरा और विलासिता का प्राधान्य सारा द्वीप हो जाता है। 'विवेक' सबको सावधान करता है। कोई नहीं सुनता। 'सन्तोष', स्वर्ण एवं विलास प्रिय सभ्यता पर व्यंग्य करता है। एक दिन भूकम्प आता है। सारा नगर ध्वस्त हो जाता है। अन्त में कामना सन्तोष का हाथ पकड़ती है।

इस नाटक में 'प्रसाद' ने तीन व्यंग्य एक साथ रखे हैं। मनोविकारों का मानवीकरण, प्रकृति की गोद में प्रारम्भिक जीवन विकास, सरल जीवन में कुटिल राजनीति का प्रभाव, ये सभी एक साथ दिखाये गये हैं। इस नाटक को रंगमञ्च की दृष्टि से नहीं देख सकते। यह 'प्रसाद' की भावुकता, कल्पनाशीलता तथा मानवता के विकास-क्रम के सूक्ष्म अध्ययन की प्रवृत्ति का परिचायक है।

स्कन्दगुप्त प्रसाद का सर्वोत्तम नाटक है। गुप्त साम्राज्य के सम्राट कुमारगुप्त विलासी हैं। वे अपनी छोटी रानी अनन्तदेवी के प्रभाव में हैं। अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त को राज्य दिलाना चाहती है। बड़ी रानी देवकी असहाय है। उसका पुत्र स्कन्दगुप्त योग्य है। वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है।

मालव राज्य पर विदेशियों का आक्रमण होता है। स्कन्दगुप्त रक्षा के लिये जाता है। राजधानी में अनन्तदेवी कुचक्र करती है। कुमारगुप्त का निधन होता है। मंत्री पृथ्वीसेन, महादण्डनायक और महाप्रतिहारी अन्तर्विद्रोह नहीं चाहते अतः आत्महत्या करते हैं। भटार्क अनन्तदेवी के साथ है। बौद्ध कापालिक प्रपञ्च बुद्धि भी इन्हीं लोगों के साथ मिला हुआ है। अनन्तदेवी, देवकी की हत्या कराना चाहती है। शर्वनाग को इसके लिये तैयार किया जाता है। उसकी साध्वी स्त्री रामा विरोध करती है। ठीक समय पर पहुँचकर स्कन्दगुप्त रक्षा करता है। माता के साथ स्कन्दगुप्त उज्जयिनी जाता है। वहाँ उसका राज्याभिषेक होता है। स्कन्दगुप्त मालव के धनकुबेर की कन्या विजया की ओर आकर्षित है। मालवकुमारी देवसेना स्कन्द को चाहती है। विजया को यह विश्वास है कि देवसेना के सामने स्कन्द हमें स्वीकार नहीं करेगा। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वह भटार्क को वरण करती है। देवसेना को ज्ञात हो जाता है कि स्कन्द वस्तुत. विजया की ओर आकर्षित है। अतः वह उदासीन हो जाती है। राज्याभिषेक के उपरान्त अनन्तदेवी मुक्त होकर पुनः हूणों से मिलकर विद्रोह करती है। भटार्क उसका साथ देता है। ठीक समय पर युद्ध में वह कुभा का बाँध काट देता है। स्कन्दगुप्त सेना के साथ वह जाता है। साम्राज्य की शक्ति छिन्न-भिन्न हो जाती है।

स्कन्दगुप्त पुनः सैन्य-संगठन करता है। अब भटार्क उसके साथ है। विजया स्कन्दगुप्त का प्रेम पुन. प्राप्त करना चाहती है पर विफल होने पर आत्महत्या कर लेती है। विजया का रत्नगृह मिल जाता है। उससे सेना सगठन में सुविधा होती है। युद्ध होता है। हूण पराजित होते हैं। स्कन्दगुप्त, पुरगुप्त को ही राज्य दे देता है। स्वयं आजीवन कुमार रहता है।

नाटक में पाश्चात्य और भारतीय नाट्य-विधियों का सुन्दर समन्वय हुआ है। कथावस्तु में दोनों नाट्यविधियों के विकास-तत्त्व देखे जा सकते हैं। प्रथम अंक में

आरंभ नामक कार्यावस्था (भारतीय) का सुन्दर स्वरूप देखा जा सक
द्वितीय अंक में 'प्रयत्नावस्था' स्पष्ट है। तृतीय अंक में भारतीय 'प्राप्त्याश
के स्थान पर पाश्चात्य 'चरम सीमा' का रूप अधिक स्पष्ट है। चौथे
नियताप्ति के स्थान पर पाश्चात्य 'निगति' का स्वरूप स्पष्ट है। पाँच
में 'फलागम' होता है। भारतीय अर्थ-प्रकृतियाँ और सन्धियाँ भी स्पष्ट
होती हैं—

अर्थ प्रकृतियाँ

पर्णदत्त—'*सम्म प्रजा की रक्षा के लिये .....आपको अधिकारों का*
करना होगा—'बीज'
मातृगुप्त और गोविन्दगुप्त का सहसा प्रकट होना। हूणों
भागना—'बिन्दु'
बन्धुवर्मा का चरित—'पताका'
शर्वनाग, मातृगुप्त, धातुसेन के प्रसंग—'प्रकरी'
भटार्क—(स्कन्दगुप्त के सामने घुटने टेककर) जैसी आज्ञा होगी वैसा
करूँगा—'कार्य'

संधियाँ

पर्णदत्त—'युवराज! आज यह वृद्ध हृदय से प्रसन्न हुआ—'मुखसन्धि'
हूणों की पराजय—'प्रतिमुख'
अनन्तदेवी, भटार्क, पुरगुप्त, विजया आदि का गुप्त *मिलन*
स्कन्दगुप्त का विचित्र अवस्था में प्रवेश—'विमर्श'
भटार्क का पश्चाताप और स्कन्द से *मिलन*—'*निर्वहण*'

इस नाटक में 'प्रसाद' की नाट्यकला विकास की चरम स्थिति पर पहुँ
गई है। वस्तुविन्यास एवं चरित्र-चित्रण दोनों में 'प्रसाद' की कलात्मकता दि
है। वस्तुविन्यास सामाजिक एवं पारिवारिक दो स्तरों पर किया गया है। फल
सजीवता अधिक आ गई है। कुछ दोष भी हैं जो उभर आये हैं। ब्राह्मणों औ
बौद्धों का संघर्ष केवल युगचेतना की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है। कथा
मुख्य धारा से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है। प्रख्यातकीर्ति नाटक का अनिवा
पात्र नहीं बन सका है। विरोधी चरित्रों की अवतारणा यहाँ भी है। *अन्तः* ए
बहिर्द्वन्द्व का सफल निर्वाह हुआ है। पात्रों की दार्शनिक प्रवृत्ति अधिक उभ
आई है।

आलोचकों ने इसे 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्वीकार किया है। डॉ
जगन्नाथ शर्मा लिखते हैं—

"रचना-पद्धति और नाटकीय-गुण के विचार से 'प्रसाद' का सर्वोत्तम नाटक स्कन्दगुप्त है। इसमें पाश्चात्य एवं भारतीय-नाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का व्यावहारिक-प्रयोग बड़ा अच्छा हुआ है। वस्तुतत्त्व चरित्रांकन, सम्वाद और देशकाल का चित्रण इसमें बड़ी सूक्ष्मता से किया गया है। स्वय लेखक को अपनी इस रचना से बड़ा सन्तोष था। संपूर्ण नाटक में पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार सक्रियता का प्राधान्य है और भारतीय परम्परा के रस-सिद्धान्त का भी सुन्दर समन्वय जितना इस कृति में दिखाई पड़ता है उतना और कहीं नहीं। भले ही कुछ लोग काव्यात्मकता के आधिक्य के कारण नाक-भौं सिकोड़ें, परन्तु भारतीय-नाट्य-परम्परा की विशिष्टताओं से अवगत सहृदय समालोचक अवश्य ही उसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं।"

चन्द्रगुप्त का कथानक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं—अलक्षेन्द्र का आक्रमण, नन्दवंश का नाश, सिल्यूकस का पराभव, चन्द्रगुप्त की प्रतिष्ठा—के आधार पर निर्मित है। कार्य व्यापार के दो प्रमुख केन्द्र हैं मगध और तक्षशिला। मगध में नन्द विलासी और अत्याचारी है। शकटार, चाणक्य, चन्द्रगुप्त उसके विरोधी हैं। शिखा खींची जाने पर, चाणक्य नन्दवंश के नाश की प्रतिज्ञा करता है।

उधर पश्चिम में सिकन्दर का आक्रमण होता है। पर्वतेश्वर सिकन्दर का सामना करता है। आम्भीक सिकन्दर से मिल जाता है। पर्वतेश्वर और सिकन्दर में सन्धि हो जाती है।

तक्षशिला के गुरुकुल में चन्द्रगुप्त, मालव राजकुमार सिंहरण, गान्धार का राजकुमार आम्भीक और राजकुमारी अलका तथा चाणक्य एक दूसरे से परिचित हो चुके हैं। चाणक्य की नीति के आवश्यक परिणाम-स्वरूप मालव राजकुमार सिंहरण तथा क्षूद्रक गण-राज्य मिलकर चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में अलक्षेन्द्र का भीषण प्रतिरोध करते हैं। वह घायल होता है और लौट जाता है। गान्धार राजकुमारी भाई का विरोध करके इन लोगों के साथ है। उसका सिंहरण से ब्याह होता है। अब चन्द्रगुप्त का व्यक्तित्व निखर उठता है। वह मगध-कुमारी 'कल्याणी' ग्रीक-कुमारी 'कार्नेलिया' तथा (सिन्धु देश का स्वर्गीय कुसुम) 'अलका' तीनों के आकर्षण का केन्द्र बनता है।

चाणक्य आधे मगध का लोभ देकर पर्वतक को अपनी ओर कर लेता है। विद्रोह की तय्यारी पूरी होने पर मगध-नरेश नन्द की राजसभा में चाणक्य, शकटार, चन्द्रगुप्त पहुँचते हैं। नन्द का एक मात्र सहायक मन्त्री राक्षस, चाणक्य की कूटनीति तथा नन्द की मूर्खता के कारण नन्द द्वारा पहले ही बन्दी बना लिया गया है। इससे प्रजा में असन्तोष है। शकटार नन्द की हत्या करता है। पर्वतेश्वर कल्याणी द्वारा मारा जाता है साथ ही वह भी आत्महत्या कर लेती है।

राक्षस दक्षिणापथ से लौटते हुये चन्द्रगुप्त को मारने का कुचक्र करता है। बेचारी मालविका (चन्द्रगुप्त की प्रेमिका) इस कुचक्र में मारी जाती है।

सिल्यूकस भारत पर आक्रमण करता है। आम्भीक चन्द्रगुप्त से मिल जाता है। सिल्यूकस हार जाता है। उसकी पुत्री कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का ब्याह होता है। राक्षस प्रधान-मन्त्रित्व ग्रहण करता है। चाणक्य वन में चला जाता है।

चन्द्रगुप्त 'प्रसाद' की श्रेष्ठ रचना है। अनेक आलोचक इसे ही 'प्रसाद' का सर्वश्रेष्ठ नाटक मानते हैं। नाटक में ई० पू० ३२७ से लेकर ई० पू० ३०५ तक (लगभग २२ वर्षों) का सम्पूर्ण घटनाचक्र सजीव हो उठा है। 'प्रसाद' ने अपने सम्पूर्ण कौशल से कथा की एक सूत्रता तथा अन्विति की रक्षा की है। घटना बहुलता इस नाटक में भी कम नहीं है। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण के साथ ही यदि नाटक की समाप्ति हो जाती तो सुन्दर होता। नाटककार ने चन्द्रगुप्त के पूर्ण उत्कर्ष के लिये सिल्यूकस-विजय की घटना को अनिवार्य मान लिया। पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व इसमें भी दिखाया गया है। युग-युग के सूखे चाणक्य को हृदय प्रदान कर 'प्रसाद' ने अपनी सहृदयता का परिचय दिया है।

शास्त्रीय दृष्टि से नाटक भारतीय आदर्शों के अनुकूल है।

कार्य की अवस्थायें

१. तक्षशिला में सभी प्रमुख पात्रों का परिचय—'आरम्भ'
२. नन्द द्वारा निष्कासित होने पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त की सम्मिलित चेष्टायें—सिंहरण आदि की अनुकूलता—'प्रयत्न'
३. चन्द्रगुप्त का राजसत्ताधिकार—'प्राप्त्याशा'
४. आम्भीक की अनुकूलता—'नियताप्ति'
५. मौर्य साम्राज्य की स्थापना—'फलागम'

अर्थ प्रकृतियाँ

१. चन्द्रगुप्त—'गुरुदेव ! यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे—'बीज'
२. द्वितीय और तृतीय अंक की समस्त कथा—'बिन्दु'
३. पर्वतेश्वर का प्रसंग—'पताका'
४. सिकन्दर तथा अन्य व्यक्तियों के छोटे-छोटे प्रसंग—'प्रकरी'
५. सिल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि—'कार्य'

सन्धियाँ

१. चन्द्रगुप्त के उद्धार-प्रयत्न से लेकर चाणक्य के पर्वतेश्वर के पास सहायता याचना के लिये जाने तक—'मुख सन्धि'

२. पर्वतेश्वर द्वारा चाणक्य के अपमानित होने से लेकर अलक्षेन्द्र के भारत-त्याग तक—'प्रतिमुख'
३. अलक्षेन्द्र-प्रस्थान से लेकर चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण तक—'गर्भ'
४. चन्द्रगुप्त—'पिता गये, माता गई, गुरुदेव गये, कंधे से कंधा भिड़ाकर प्राण देनेवाला चिर सहचर सिंहरण गया। तो भी चन्द्रगुप्त को रहना पड़ेगा'—'विमर्श'
५. सिल्यूकस का पराभव और सन्धि प्रस्ताव—'निर्वहण'

रस की दृष्टि से 'वीर' प्रधान तथा 'शृंगार' सहयोगी रस है। नाटककार ने ऐतिहासिक दृष्टि से नाटक को पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। फलतः घटना-प्राचुर्य है। काल-सकलन पर ध्यान नहीं दिया गया है। वस्तु-योजना में शिथिलता आ गई है। चार अंकों में प्रत्येक अंक एक-एक स्थान पर केन्द्रित किया गया है। अतः वस्तु-विधान बिखरा सा लगता है। शास्त्रीय दृष्टि से नायक चन्द्रगुप्त है। नायिका का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार 'कार्नेलिया' नायिका है। कल्याणी की सहसा आत्महत्या कराकर कार्नेलिया को इस पद का अधिकारी बनाया गया है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व उभर नहीं पाया है। राष्ट्रीयता की भावना पर नाटककार ने पर्याप्त बल दिया है।

ध्रुवस्वामिनी—विशाख के 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के आधार पर लिखा गया है। रामगुप्त, गुप्त साम्राज्य का सम्राट् है। ध्रुवस्वामिनी उसकी साम्राज्ञी है। रामगुप्त हतवीर्य है। ध्रुवस्वामिनी से चन्द्रगुप्त का गुप्त प्रेम है। शकराज, रामगुप्त की शक्तिहीनता से परिचित है। वह सन्धि की शर्त में महादेवी की माँग करता है। मन्त्री शिखर-स्वामी सन्धि की शर्त प्रकट करता है। रामगुप्त सहमत हो जाता है। चन्द्रगुप्त वंश मर्यादा की रक्षा के लिये इस शर्त का विरोध करता है। वह स्वयं स्त्री-वेश में शकराज के शिविर में जाता है। अवसर देखकर उसकी हत्या करता है। रामगुप्त छल से चन्द्रगुप्त को मारना चाहता है किन्तु एक सामन्त कुमार के हाथों वह स्वयं मारा जाता है। चन्द्रगुप्त, सम्राट बनता है और ध्रुवस्वामिनी, महादेवी।

इस नाटक में प्रसादजी ने नूतन प्रयोग किया है। इसमें 'प्रसाद' समस्या-नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करते से जान पड़ते हैं। समस्या, नारी की सामाजिक स्थिति से सम्बद्ध है। मुख्यतः अनमेल विवाह का प्रश्न सामने रखा गया है। विधान की दृष्टि से भी नाटक में नवीन प्रयोग मिलता है। नाटक में कुल तीन अंक हैं प्रत्येक अंक में केवल एक ही दृश्य है। नाटककार ने व्यापार पर अधिक ध्यान दिया है। स्वगत भाषण नहीं है। भाषा सरल है। वाक्य छोटे-छोटे हैं। दृश्य की सृष्टि में भी नवीनता है। संकेत-निर्देशन के स्वरूप में भी परि-

गुप्त' में 'कार्नेलिया', 'कल्याणी' और 'अलका' तीनों का प्रेम शुद्ध और सात्विक है। तीनों का आलम्बन चन्द्रगुप्त है। अतः समस्या विषम हो गई है। नाटककार ने कल्याणी और अलका को नियति के कठोर चक्र में पीसकर अलग कर दिया है। प्रेम और सौंदर्य 'प्रसाद' की जीवन धारा के दो कूल थे। नाटकों में इनकी स्थिति का यही रहस्य है।

आधुनिक पाश्चात्य नाटयविधान में अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व की बड़ी महिमा है। इसके लिये नाटक के वस्तु-विधान में विरोध का प्राधान्य अनिवार्य है।

अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व

द्वन्द्व की उपस्थिति से कार्यव्यापार सजीव और पात्र प्राणवान् हो जाते हैं। 'प्रसाद' के प्रारम्भिक नाटकों को छोड़कर परवर्ती सभी नाटकों में इनकी उपस्थिति स्पष्ट है। 'अजातशत्रु' में विम्बसार; 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना, विजया, भटार्क, तथा स्वयं स्कन्द; 'चन्द्रगुप्त' में राक्षस और चाणक्य के व्यक्तित्वों में अन्तर्द्वन्द्व की झलक मिलती है। बहिर्द्वन्द्व से तो प्रायः सभी नाटक भरे हुये हैं।

'प्रसाद' का कवि कहीं भी नहीं दब सका है। उनके नाटकों में तो वह अपनी सम्पूर्ण विशेषता एवं शक्ति के साथ प्रकट हुआ है। काव्यों में नाटकों की रम-

काव्यत्व का प्राधान्य

णीयता का पोषण करने के लिये यह अनिवार्य था। स्थल-स्थल पर हम काव्यात्मक गद्य-खंडों के झुरमुट से गुजरते हैं। प्रकृति की भीषणता और रमणीयता, नारी का रूप, प्रेम, त्याग और ईर्ष्या, पुरुषों के वीरत्व की अपूर्व व्यञ्जना, इन सबने मिलकर 'प्रसाद' के नाटकों में काव्य की अनिवार्य एवं अनुकूल सामग्री उपस्थित की है। इसीलिये ये नाटक दर्शनीय ही नहीं पठनीय भी हो गये हैं।

'प्रसाद' के नाटक उनके देशप्रेम के अमर गायक हैं। 'प्रसाद' में देश के प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। इसी प्रेम ने उन्हें संस्कृति, धर्म, दर्शन के अध्ययन की ओर

देश-प्रेम

प्रेरित किया था देश-प्रेम की प्रधानता के कारण ही इतिहास के उज्ज्वल रत्नों को 'प्रसाद ने नाटकों में प्रदीप्त किया है। व्यास, गौतम, चाणक्य, दाण्डायन, स्कन्द, चन्द्रगुप्त, आदि का देश-प्रेम 'प्रसाद' के ही देश प्रेम का आधार लेकर खड़ा हुआ है। 'प्रसाद' का यह देश प्रेम न तो जातीयता को तिरस्कृत करता है और न विश्वप्रेम का विरोध ही उपस्थित करता है। वह बड़ी ही उदात्त भावना के आधार पर मूर्त हुआ है।

'प्रसाद' ने न तो प्राचीन भारतीय नाट्य-शास्त्र से अपने को अलग किया है और न पाश्चात्य नाट्य-विधियों का अन्धानुसरण। दोनों का उचित सामञ्जस्य उनकी नाटयकला की प्रमुख विशेषता है। पूर्वरंग, प्रस्तावना, नान्दी पाठ, भरत आदि का त्याग, (प्रारम्भिक नाटक इसके अपवाद हैं) अन्तर्द्वन्द्व और

नाट्यविधानों का पाश्चात्य और भारतीय समन्वय

बहिर्द्वन्द्व का प्राधान्य, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों को अवतारणा, वस्तुविन्यास का प्राधान्य, स्थिति परिवर्तन उपस्थित करने के लिये करुणा और भय का सम्मिलित चित्रण ('अजातशत्रु' में पद्मावती को मारने के लिये उदयन का उद्यत होना, 'स्कन्दगुप्त' में 'देवसेना' का प्रपञ्च-बुद्धि के जाल में फँसना इत्यादि)। इन सबका उचित ग्रहण पाश्चात्य शैली के आधार पर किया गया है। 'अजातशत्रु' में तो कार्य-व्यापार का विकास भी पाश्चात्य नियमों के ही आधार पर हुआ है। साथ ही नाटकों में 'रस' की प्रधानता, कार्य की अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा सन्धियों की उपस्थिति (स्कन्दगुप्त तथा चन्द्रगुप्त में तीनों स्पष्ट लक्षित होती हैं), नायकों का उदात्त व्यक्तित्व, 'प्रख्यात कथानक' आधिकारिक और प्रासंगिक कथानकों का उचित सम्बन्ध, यह सब भारतीय आदर्शों के आधार पर हुआ है। स्वगत कथन का बाहुल्य, रंगमञ्च की रचना के लिये निर्देश का अभाव, गीतों का बाहुल्य, हास्य का स्वरूप, इन सबकी उपस्थिति भी भारतीय परम्परा के आधार पर ही की गई है। इस प्रकार 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में दोनों का सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है।

आधुनिकता की झलक

'प्रसाद' के नाटकों में आधुनिक समाज की झांकी भी मिल जाती है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार का अजातशत्रु की अयोग्यता की आड़ में राज्यभार न देने का बहाना आधुनिक साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का सूचक है। भारत को स्वतन्त्रता न देने की नीति को ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ भी अयोग्यता की आड में छिपाते रहे हैं। 'स्कन्दगुप्त' में देश-भक्ति के क्षेत्र में स्त्रियों का पूर्ण सहयोग, आधुनिक नारी-जागरण का परिचायक है। साथ ही 'देवसेना' से गाना गवाकर भीख देने समय युवकों का चित्रण आज के युवकों को सामने ला देता है। इसी प्रकार 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण और अलका की राष्ट्रीय भावना में वर्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन सजीव हो उठा है। 'ध्रुवस्वामिनी' में तो नारी के अनमेल ब्याह की स्पष्ट समस्या उठाई गई है।

अभिनेयता

'प्रसाद' के नाटकों की अभिनेयता का प्रश्न पुराना पड़ चुका है। जब हिन्दी का अपना रंगमञ्च ही नहीं है तो किस आधार पर अभिनेयता की परख की जाय? सामान्यतः नाटकों का बड़ा होना, भाषा की अति-साहित्यिकता, संवादों की दीर्घता, स्वगत कथनों का आधिक्य, गीतों का बाहुल्य, दृश्य-विधान में कठिनाई, आकस्मिक और अस्वाभाविक घटनाओं की उपस्थिति, निर्देशन का अभाव, इन नाटकों की अभिनेयता में बाधक माने गये हैं। जहाँ तक नाटकों के बड़े होने का प्रश्न है, यह सभी

नाटकों पर चरितार्थ नहीं होता। 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' को ही इसी दृष्टि से अनुपयुक्त कहा जा सकता है। शेष नाटक छोटे हैं। गीतों को निकाला जा सकता है। भाषा, शिष्ट जनों के लिये अत्यधिक दुरूह नहीं है। यदि अभिनय सजीव हो तो भाषा की क्लिष्टता दर्शकों के लिये अधिक कठिनाई उपस्थित नहीं कर सकती। वस्तुतः सबसे बड़ी कठिनाई दृश्यों की उपस्थिति सम्बन्धी है। 'प्रसाद' के नाटकों में दृश्यों की योजना मञ्च की दृष्टि से नहीं की गई है। उदाहरण के लिये स्कन्दगुप्त नाटक के चौथे अंक के दृश्य-विधान पर विचार कीजिये। दृश्य-योजना में क्रमशः 'प्रकोष्ठ', 'शिविर', 'न्यायाधिकरण', 'पथ', 'कुटी' का विधान है। 'प्रकोष्ठ' के दृश्य के उपरान्त तुरन्त ही 'शिविर' का दृश्य तभी दिखाया जा सकता है जब उसकी आवश्यक योजना पहले से हो। मञ्च पर इतना स्थान नहीं होता कि बाहर 'प्रकोष्ठ' का दृश्य चलता रहे और भीतर 'शिविर' का दृश्य भी प्रस्तुत रखा जाय। यह कठिनाई 'शिविर' को 'न्यायाधिकरण' के रूप में बदलने में और भी बढ़ जाती है। 'ध्रुवस्वामिनी' को छोड़कर शेष सभी नाटकों में इस प्रकार की थोड़ी-बहुत कठिनाई है। पात्रों की वेशभूषा के सम्बन्ध में उचित निर्देश न होने से भी मञ्चालक को पर्याप्त कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है। इन सभी कठिनाइयों के बावजूद भी थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ 'प्रसाद' के नाटक खेले जा सकते हैं। आवश्यकता परिष्कृत रुचि के साहित्यिक अभिनेताओं तथा आदर्श रंगमञ्च की है।

गद्य-काव्यकार 'प्रसाद'

'प्रसाद' की गद्य-काव्य के रूप में कोई स्वतन्त्र कृति उपलब्ध नहीं है किन्तु यह निश्चित है कि साहित्यिक जीवन के प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने कुछ गद्य-गीत लिखे थे। इन गद्य-गीतों का इतिहास राय कृष्णदासजी ने इस प्रकार लिखा है—

"इन्हीं दिनों (१९१८) जयशंकर जी ने पहले-पहल 'साधना' को देखा। उन्होंने भी उसे बहुत पसन्द किया। केवल जबानी ही नहीं, एक दिन आये, सुदामा की तरह कुछ छिपाये हुये, उसे बहुत खींचा-तानी और हाँ नहीं के बाद, बड़े हाव-भाव से उन्होंने दिखाया।

"वह एक सादा-मुखरी छोटी-सी कापी थी, जिसमें बीस के लगभग गद्य-गीत उनके लिखे हुये थे। मैंने पढ़ने को माँगा, सुन्दर थे। एक में का संध्या-वर्णन अभी तक नहीं भूला। × × मैंने सुनते ही कहा—'वाह गुरु, मुझ पर हाथ फेरना!' वे मेरी मर्मवेदना पहचान गये। कई दिन बाद, कोई मुनासिब बात कहकर उसे उठा ले गये और उन कापी में से कविता को छापाछ कर डाला। उनके 'झरना' के प्रथम संस्करण का अधिकांश उन्हीं कविताओं का संकलन है।'"[1]

---

१. 'प्रसाद' का विकासात्मक अध्ययन—पृष्ठ २६०।

'प्रसाद' ने अपनी कहानियों में भी गद्य-गीत दिये हैं। विभिन्न पात्रों के मुख से गवाये गये गीत पद्य में न होकर गद्य में ही उपस्थित किये गये हैं। 'पत्थर की पुकार', 'बुलबुल का गीत', 'जीवन के प्रति', 'बनजारे का गीत', 'मेरा अस्तित्व', 'पथिक का गीत', 'विरह का गीत', 'हँसी' इसी प्रकार के गद्य-गीत हैं। नाटकों में 'स्वगत' या संवाद रूप में आनेवाले गद्य खंडों से तो हम भली भाँति परिचित हैं। ये श्रेष्ठ गद्यगीतों के उदाहरण-स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं।

चम्पू

'प्रसाद' ने कुल तीन चम्पू लिखे हैं। 'उर्वशी-चम्पू' (१९०६), 'बभ्रुवाहन' (चित्रांगदा चम्पू), १९०७, 'उर्वशी' (१९१८), प्रथम चम्पू अब उपलब्ध नहीं है। हिन्दी-साहित्य में ये 'चम्पू' अपनी विशिष्ट स्थिति के कारण बहुमूल्य हैं। 'उर्वशी' में कालिदास के प्रसिद्ध 'विक्रमोर्वशी' त्रोटक की छाया है। 'बभ्रुवाहन' की कथा महाभारत से ली गई है। इसमें अर्जुन के पुत्र बभ्रुवाहन का शौर्य प्रकट हुआ है।

भाषा और शैली

'प्रसाद' की भाषा में उनकी चेतना का पूर्ण प्रतिनिधित्व देखा जा सकता है। जब वे विचार एवं चिन्तन की गहराइयों में पैठकर 'साहित्य', 'कला' तथा दार्शनिक विषयों को अभिव्यक्ति देते हैं तब भाषा का स्वरूप मौक्तिक, संयमित, गम्भीर एवं संस्कृतनिष्ठ हो जाता है। जब ऐतिहासिक तथ्यों को अतीत के अंधकार से निकालकर प्रकाश में ले आते हैं तो भाषा में तर्क, इतिवृत्तात्मकता, सूत्र-शैली तथा विश्वास-जनित दृढ़ता झलकती है। इसी प्रकार जब वे उपन्यासों और कहानियों में वर्तमान युग की यथार्थता को स्पर्श करते हैं तो उनकी भाषा में जीवन की वस्तु-स्थिति सिमट आती है। वाक्य छोटे-छोटे हो जाते हैं। अलंकरण की प्रवृत्ति के दर्शन भी नहीं होते। सरलता बिखर जाती है। 'व्यक्तित्व' या 'दृश्य-चित्रण' के समय वस्तुतः 'प्रसाद' वर्णमय चित्र खींच देते हैं। अतीत के खंडहरों में विचरण करते समय उनकी भाषा, कल्पना की विभूति से भर जाती है। काव्यात्मक एवं भाव-प्रधान स्थलों पर तो भाषा की स्निग्धता, प्रवाह, भाव-प्रवणता, शब्द-चयन, कोमलकान्त पदावली देखते ही बनती है। 'प्रसाद' की कला कोमल एवं भयानक, प्रत्यक्ष एवं रहस्यमय सभी प्रकार की वृत्तियों को पूर्णतः मूर्त कर देती है। नाटकों में पात्रों के अनुकूल भाषा के विविध रूप के प्रदर्शन को आप उचित नहीं मानते। प्रारम्भ के दो-एक नाटकों में पात्रानुकूल भाषा-परिवर्तन अवश्य देखा जा सकता है। संक्षेप में प्रसाद की भाषा के पाँच प्रमुख स्वरूप (अभिव्यक्ति शैलियाँ) देखे जा सकते हैं—

(क) विचारात्मक (ख) अनुसन्धानात्मक (ग) इतिवृत्तात्मक (घ) चित्रात्मक (ङ) भावात्मक। भाषा की दृष्टि से 'भावात्मकता', *'प्रसाद' की प्रधान शैली*

है। नाटकों, उपन्यासों, कहानियों, गद्यगीतों सभी में इसका समान प्र
होता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण 'अजातशत्रु' के प्रथम अंक में
मागन्धी है—"हृदय नीरव अभिलाषाओं का नीड़ हो रहा है। जीवन के
वह मनोहर स्वप्न, विश्व भर की मदिरा बनकर मेरे उन्माद की
कोमल कल्पनाओं का भाण्डार हो गया। मल्लिका! तुम्हें मैंने अपने
पहले ग्रीष्म की अर्द्धरात्रि में आलोकपूर्ण नक्षत्र लोक से कोमल हीरक
रूप में आते देखा। विश्व के असंख्य कोमल कण्ठ की रसीली तानें पुका
तुम्हारा अभिनन्दन करने, तुम्हें सम्हाल कर उतारने के लिये नक्षत्र
गई थी...... ......।"

इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग प्राय कथा-साहित्य में हुआ है। एक
देखिये—

"आगन्तुक ने कहा—मंगली दुर्ग के अधिपति देव-पाल का मैं मृ
चंगेज खाँ ने समस्त गांधार प्रदेश जलाकर, लूट-पाट कर उजाड़ दिय
कल ही इस उद्यान के मंगली दुर्ग पर भी उन लोगों का अधिकार हो
देवपाल बंदी हुए। उनकी पत्नी तारादेवी ने आत्महत्या की। यह बालक
पुत्र है। बालिका मेरी पुत्री है। इसकी माता नहीं है। लज्जा ने दोन
शरण दी।"

(स्वर्ग का ख

'प्रसाद' ने चित्रात्मक शैली में 'रेखाचित्र', 'भाव-द्वन्द्व-चित्र' तथा
प्रकृति-चित्र' सभी का चित्रण किया है। एक रेखाचित्र देखिये 'तितली अ
चञ्चल लड़की न रही, जो पहले मधुबन के साथ खेलने आया करती थी;
काली रजनी-सी उनींदी आँखें जैसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहत
लम्बा छरहरा बदन, गोरी पतली उँगलियाँ, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिंची
भौंहें और छोटा-सा पतले-पतले ओठों वाला मुख, साधारण कृषक बालिक
कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे, कानों के ऊपर से घूंघट था, जिससे
निकली पड़ती थी, उसकी चौड़े किनारे की धो काली चम्पई रंग उसके शरी
घुला जा रहा था, वह संध्या के निरभ्र गगन में विकसित होनेवाली—
ही मधुर आलोक से सन्तुष्ट—एक छोटी-सी तारिका थी।"

(तितली)

वर्णमय चित्र का इससे सुन्दर उदाहरण और क्या हो सकता है?

अनुसन्धानात्मक शैली गवेषणापूर्ण निबन्धों में देखी जा सकती है। 'नाट
का आरंभ' निबन्ध मे एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

"संस्कृत के आदि काव्य रामायण में भी नाटकों का उल्लेख है। 'बहुनाटक-सर्वस्व सयुक्ता सर्वत: पुरीम्' ये नाटक केवल पद्यात्मक ही रहे हों, ऐसा अनुमान नहीं किया जा सकता। सम्भवतः रामायण काल के नाटक गद्य बहुल प्राचीन काल में प्रचलित भारतीय वस्तु थे।'

इस शैली में प्रसाद जी कहीं प्रमाणों, कहीं अनुमानों और कहीं युक्तियों तथा तर्कों के आधार पर स्वमत निर्धारण करते हैं।

विचारात्मक शैली का स्वरूप चिन्तन-प्रधान निबन्धों में स्पष्ट हुआ है। आचार्य शुक्ल की रस विषयक मान्यता का खण्डन करते हुए प्रसादजी कहते हैं—

"इधर एक निम्नकोटि की रसानुभूति की भी कल्पना हुई है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब अत्याचारी के अत्याचार का हम रंगमंच पर देखते हैं, तो हम उस नट से अपना साधारणीकरण नहीं कर पाते। फलत. उसके प्रति रोष-भाव ही जाग्रत होता है, यह तो स्पष्ट विषमता है। किन्तु रस में फलयोग अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य है, इन बीच के व्यापारों में जो सञ्चारी भावों के प्रतीक हैं; रस को खोजकर उसे छिन्न-भिन्न कर देना है।"

स्पष्ट है कि किसी भी मान्यता को पूर्ण अध्ययन एवं गम्भीर विचार-मन्थन के उपरान्त ही 'प्रसाद', स्वीकार कर सकते थे। इस विचार-मन्थन का भार वहन करती हुई उनकी भाषा-शैली विचारात्मक एवं गम्भीर हो गई है।

'प्रसाद' अपनी कोमल कल्पना, स्निग्ध भावुकता, गम्भीर अध्ययन, प्रखर प्रतिभा, उदात्त चरित्र तथा सहज सहृदयता के कारण हिन्दी-साहित्य में अमर रहेंगे।

प्रेमचन्द

गद्यकार प्रेमचन्द मुख्यतः कथाकार के रूप में सामने आते हैं। वे क
साहित्य के सम्राट् हैं। आधुनिक युग-जीवन एवं जन-चेतना की प्रत्येक हि
उनके साहित्य में लहरा उठी हैं। उनका दूसरा रूप निबन्ध-लेखक का भी है
उनके निबन्धों का सम्बन्ध भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी उनकी निजी मान्यता
से है। कथाकार प्रेमचन्द का व्यक्तित्व इतना आकर्षक, सरल और प्रभावशा
है कि उनके निबन्धकार को लोग प्रायः भूल से गये हैं, फिर भी उसका हिन्
गद्यसाहित्य में स्थायी महत्व है।

निबन्धकार में प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के निबन्धों का एक संग्रह 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हु
था। इधर 'हंस' की पुरानी फाइलों में प्रेमचन्द की दबी हुई सामग्री को श्रम
पूर्वक संकलित करके उसका परिवर्धित संस्करण 'साहित्य क
उद्देश्य' नाम से प्रकाशित हुआ है। जोड़ी हुई नवीन साम
प्रायः विविध साहित्यिक प्रश्नों, विवादों एवं समस्याओं प
समय-समय पर प्रेमचन्द द्वारा दी गई सम्पादकीय टिप्पणी है
महत्वपूर्ण विषयों में निम्नलिखित प्रधान हैं।

(क) साहित्य सम्बन्धी—साहित्य का उद्देश्य, जीवन में साहित्य का स्थान,
साहित्य का आधार, साहित्य में बुद्धिवाद, संग्राम में साहित्य, साहित्य में समा-
लोचना, साहित्य और मनोविज्ञान, फिल्म और साहित्य, साहित्य की नयी प्रवृत्ति,
अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान, साहित्यिक उदासीनता, साहित्य में ऊँचे-
ऊँचे विचार, स्त्री साहित्य और हिन्दी।

(ख) भाषा सम्बन्धी—राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें, कौमी
भाषा के विषय में कुछ विचार, हिन्दी-उर्दू की एकता, 'उर्दू', 'हिन्दी' और 'हिन्दु-
स्तानी'।

(ग) लिपि सम्बन्धी—'शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिये।'

(घ) कहानी सम्बन्धी—कहानी कला (१, २, ३,), हिन्दी-गल्पकला का
विकास', गल्प-कथाओं का महत्व, एक प्रसिद्ध गल्पकार के विचार, प्रेमविषयक
गल्पों से अरुचि।

(ङ) उपन्यास सम्बन्धी—उपन्यास, उपन्यास का विषय।

शेष निबन्ध सामयिक साहित्यिक गतिविधि से सम्बद्ध हैं जिनमें समकालीन
अंग्रेजी ड्रामा, रोमें रोलाँ की कला, सिनेमा और जीवन, समाचार पत्रों के [illegible]
[illegible], बंगाल में पुस्तकों का प्रचार, रुचि की भिन्नता आदि अनेक विषयों

पर स्फुट विचार प्रकट किये गये हैं। निबंधों में साहित्य सम्बन्धी निबन्ध सैद्धान्तिक विषयों को लेकर नहीं चले हैं। प्रेमचन्दजी ने सरल ढंग से उनके व्यावहारिक मूल्यों पर ही विचार किया है। 'कहानी' और 'उपन्यास' सम्बन्धी निबन्धों में कथा-साहित्य की इन दोनों विधाओं के सैद्धान्तिक स्वरूप पर भी विचार किया गया है। भाषा सम्बन्धी निबन्धों में प्रेमचन्द जी की स्पष्ट एवं सरल भाषा-नीति का परिचय मिलता है।

शेष निबन्ध इस तथ्य के साक्षी हैं कि प्रेमचन्द के नेत्र और कान देश-विदेश में होने वाली साहित्यिक घटनाओं और चर्चाओं पर सदैव लगे रहते थे।

निबन्धकार प्रेमचन्द की सबसे बड़ी विशेषता दृष्टिकोण की व्यापकता, विचारों की उदारता तथा कथन की सरलता और स्पष्टता है। जीवन में गुलझा हुआ कलाकार विचारों में सदैव स्पष्ट रहा है।

नाटककार प्रेमचन्द

प्रेमचन्दजी ने 'कर्बला' और 'संग्राम' दो नाटकों की रचना भी की थी। इस क्षेत्र में उनको सफलता न मिली। ये नाटक भी वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गये हैं। इनके बाद उन्होंने इस दिशा में कोई प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर समझा।

कथाकार प्रेमचन्द

हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द युग-प्रवर्तक हैं। उन्होंने जीवन-संग्राम में सौंदर्य के दर्शन किये। उन्होंने सुप्त जन-चेतना को जगा दिया। *उन्होंने साहित्यकार के महान् उत्तरदायित्व को समझा और* यथाशक्ति उसका निर्वाह किया। उन्होंने घोषणा की—'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिये बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।' उन्होंने सच्चे साहित्य का सृजन किया।

उपन्यास

प्रेमचन्द ने हिन्दी-जगत् को—'सेवासदन' (१९१८), 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' (१९२१), 'रंगभूमि' (१९२२), 'कायाकल्प' (१९२४), 'निर्मला' (१९२२-२३), 'प्रतिज्ञा', 'गबन' (१९३१), कर्मभूमि (१९३२), 'गोदान' (१९३६), *'मंगलसूत्र'—कुल ग्यारह उपन्यास दिये।* इन सभी उपन्यासों में कलाकार प्रेमचन्द ने युग-धारा के साथ चलने का प्रयत्न किया है। सभी उपन्यास वर्तमान जीवन की समस्याओं से सम्बद्ध हैं। समस्याओं का उठान बहुत ही सुन्दर है, हाँ, उनके लिये दिये गये *समाधान प्रेमचन्द-युग की सीमाओं से आगे नहीं जा सकते हैं।*

प्रेमचन्द

गद्यकार प्रेमचन्द मुख्यतः कथाकार के रूप में सामने आते हैं। वे कथा साहित्य के सम्राट् हैं। आधुनिक युग-जीवन एवं जन-चेतना की प्रत्येक हिलोर उनके साहित्य में लहरा उठी हैं। उनका दूसरा रूप निबन्ध-लेखक का भी है उनके निबन्धों का सम्बन्ध भाषा एवं साहित्य सम्बन्धी उनकी निजी मान्यताओं से है। कथाकार प्रेमचन्द का व्यक्तित्व इतना आकर्षक, सरल और प्रभावशाली है कि उनके निबन्धकार को लोग प्रायः भूल से गये हैं, फिर भी उसका हिन्दी गद्यसाहित्य में स्थायी महत्व है।

निबन्धकार में प्रेमचन्द

प्रेमचन्द के निबन्धों का एक संग्रह 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हुआ था। इधर 'हंस' की पुरानी फाइलों में प्रेमचन्द की दबी हुई सामग्री को श्रमपूर्वक संकलित करके उसका परिवर्द्धित संस्करण 'साहित्य का उद्देश्य' नाम से प्रकाशित हुआ है। जोड़ी हुई नवीन सामग्री प्रायः विविध साहित्यिक प्रश्नों, विवादों एवं समस्याओं पर समय-समय पर प्रेमचन्द द्वारा दी गई सम्पादकीय टिप्पणी हैं। महत्वपूर्ण विषयों में निम्नलिखित प्रधान हैं।

(क) साहित्य सम्बन्धी—साहित्य का उद्देश्य, जीवन में साहित्य का स्थान, साहित्य का आधार, साहित्य में बुद्धिवाद, संग्राम में साहित्य, साहित्य में समालोचना, साहित्य और मनोविज्ञान, फिल्म और साहित्य, साहित्य की नयी प्रवृत्ति, अन्तरप्रान्तीय साहित्यिक आदान-प्रदान, साहित्यिक उदासीनता, साहित्य में ऊँचे-ऊँचे विचार, स्त्री साहित्य और हिन्दी।

(ख) भाषा सम्बन्धी—राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसकी समस्यायें, कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार, हिन्दी-उर्दू की एकता, 'उर्दू', 'हिन्दी' और 'हिन्दुस्तानी'।

(ग) लिपि सम्बन्धी—'शिरोरेखा क्यों हटानी चाहिये।'

(घ) कहानी सम्बन्धी—कहानी कला (१, २, ३,), हिन्दी-गल्पकला का विकास', दल-कथाओं का महत्व, एक प्रसिद्ध गल्पकार के विचार, प्रेमविषयक गल्पों से अरुचि।

(ङ) उपन्यास सम्बन्धी—उपन्यास, उपन्यास का विषय।

शेष निबन्ध सामयिक साहित्यिक अभिरुचि से सम्बद्ध हैं जिनमें समकालीन अंग्रेजी ड्रामा, रोमें रोलाँ की कला, सिनेमा और जीवन, समाचार पत्रों के गुलगपाड़े, देहात में पुस्तकों का प्रचार, रुचि की विभिन्नता आदि अनेक विषय

पर स्फुट विचार प्रकट किये गये हैं। निबन्धों में साहित्य सम्बन्धी निबन्ध सैद्धान्तिक विषयों को लेकर नहीं चले हैं। प्रेमचन्दजी ने सरल ढग से उनके व्यावहारिक मूल्यों पर ही विचार किया है। 'कहानी' और 'उपन्यास' सम्बन्धी निबन्धों में कथा-साहित्य की इन दोनों विधाओं के सैद्धान्तिक स्वरूप पर भी विचार किया गया है। भाषा सम्बन्धी निबन्धों में प्रेमचन्द जी की स्पष्ट एवं सरल भाषा-नीति का परिचय मिलता है।

शेष निबन्ध इस तथ्य के साक्षी हैं कि प्रेमचन्द के नेत्र और कान देश-विदेश में होने वाली साहित्यिक घटनाओं और चर्चाओं पर सदैव लगे रहते थे।

निबन्धकार प्रेमचन्द की सबसे बडी विशेषता दृष्टिकोण की व्यापकता, विचारो की उदारता तथा कथन की सरलता और स्पष्टता है। जीवन में सुलझा हुआ कलाकार विचारों में सदैव स्पष्ट रहा है।

नाटककार प्रेमचन्द

प्रेमचन्दजी ने 'कर्बला' और 'सग्राम' दो नाटको की रचना भी की थी। इस क्षेत्र मे उनको सफलता न मिली। ये नाटक भी वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गये हैं। इसके बाद उन्होंने इस दिशा में कोई प्रयोग न करना ही श्रेयस्कर समझा।

कथाकार प्रेमचन्द

हिन्दी-कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द युग-प्रवर्तक हैं। उन्होंने जीवन-संग्राम में सौंदर्य के दर्शन किये। उन्होंने सुप्त जन-चेतना को जगा दिया। उन्होंने साहित्यकार के महान् उत्तरदायित्व को समझा और यथाशक्ति उसका निर्वाह किया। उन्होंने घोषणा की—'जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा सकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिये बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं।' उन्होंने सच्चे साहित्य का सृजन किया।

उपन्यास

प्रेमचन्द ने हिन्दी-जगत् को—'सेवासदन' (१६१८), 'वरदान', 'प्रेमाश्रम' (१६२१), 'रगभूमि' (१६२२), 'कायाकल्प' (१६२४), 'निर्मला' (१६२२-२३), 'प्रतिज्ञा', 'गबन' (१६३१), कर्मभूमि (१६३२), 'गोदान' (१६३६), 'मगलसूत्र'—कुल ग्यारह उपन्यास दिये। इन सभी उपन्यासों में कलाकार प्रेमचन्द ने युग-धारा के साथ चलने का प्रयत्न किया है। सभी उपन्यास वर्तमान जीवन की समस्याओं से सम्बद्ध हैं। समस्याओं का उठान बहुत ही सुन्दर है, हाँ, उनके लिये दिये गये समाधान प्रेमचन्द-युग की सीमाओं से आगे नहीं जा सकते हैं।

के राजा 'मालदेव' और उसकी रूठी रानी 'उमादे' की कहानी है। जिस मालदेव ने शेरशाह के छक्के छुड़ा दिये थे वह अपनी रूठी रानी को न मना सका। इसमें उपन्यासकार ने राजपूतों की वीरता और आपसी फूट का अच्छा वर्णन किया है। साथ ही महलों में चलनेवाली सामन्त-जीवन की रंगरेलियाँ भी दिखाई गई हैं। प्रारम्भिक कृति होने के कारण रचना साधारण कोटि की है।

रूठी रानी

'सेवासदन' प्रेमचन्दजी का पहला उपन्यास है। हिन्दी-जगत् में इसका अच्छा स्वागत हुआ था। इस उपन्यास में प्रेमचन्दजी ने वेश्याओं के सुधार की समस्या उठाई है। इस प्रधान समस्या के साथ-साथ अन्य छोटी-बड़ी समस्यायें भी गुम्फित हो गई हैं 'दहेज की समस्या', 'अनमेल-विवाह', 'झूठी नैतिकता', 'सामाजिक रूढ़ियाँ' 'पुलिस वर्ग के कारनामे' आदि अनेक प्रश्न भी बीच-बीच में उठते रहे हैं। प्रमुख समस्या—'वेश्या-जीवन में सुधार'—का समाधान लेखक ने सेवासदन की स्थापना में ढूँढ़ा है। कहना न होगा कि इस समाधान का व्यावहारिक जीवन में कोई मूल्य नहीं। निश्चय ही प्रेमचन्द सुधारवादी दृष्टिकोण लेकर चले हैं और अपने युग की सुधारक-प्रवृत्ति से आगे नहीं बढ़ सके हैं किन्तु उनकी महत्ता इस स्पष्ट स्वीकृति में है 'हमें उनसे घृणा करने का कोई अधिकार नहीं है। यह उनके साथ घोर अन्याय होगा। यह हमारी ही कुवासनायें, हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथायें हैं जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया है।'

सेवासदन

कला की दृष्टि से यह प्रथम कृति पर्याप्त सुन्दर है। उपन्यास का पूर्वार्द्ध, जिसमें समस्या का उठान है, बहुत सफल है। उत्तरार्द्ध में लेखक हमारा ध्यान 'शान्ता' की ओर आकर्षित कर देता है। 'सुमन' कथा का केन्द्र-बिन्दु नहीं रह जाती। उपन्यास-कला की दृष्टि से यह बहुत बड़ा दोष है। म्युनिसिपैलिटी की कार्रवाइयों में भी व्यर्थ विस्तार किया गया है। 'सुमन' के जीवन में सद्-भावना का जागरण मनोवैज्ञानिक आधार पर नहीं दिखाया जा सका है।

'वरदान' उर्दू में लिखे गये एक परिहास-प्रधान उपन्यास, जिसकी रचना प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' से भी पहले की थी, का हिन्दी रूपान्तर है। हिन्दी जगत् ने इसका स्वागत नहीं किया।

वरदान

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्दजी ने जीवन के विशाल चित्रपट को सामने रखा। 'सेवासदन' में वे नगर की गलियों में ही चक्कर लगाते रहे किन्तु 'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द का ध्यान भारतीय ग्रामीण जीवन की विषमताओं पर केन्द्रित हुआ। किसानों की दुरवस्था, जमींदारों का अत्याचार, बड़े ताल्लुकेदारों का विलासमय

प्रेमाश्रम

जीवन, वकीलों की बेरहमी, पटवारियों, कारिन्दों और मुंशियों के कारनामे, पुलिस की ज्यादती, अदालतों की पोल, अफसरों की धांधली आदि प्रेमचन्द की कुशल लेखनी से मूर्त हो उठे हैं। प्रेमचन्द इस उपन्यास में भी एक महत्वपूर्ण घोषणा करते हैं। 'भूमि या तो ईश्वर की है जिसने इसकी सृष्टि की या किसान की जो ईश्वरीय इच्छा के अनुसार इसका उपयोग करता है।' यह घोषणा आज भी जन-चेतना के जागरण के इतिहास में महत्वपूर्ण है।

किसानों की दुरवस्था का समाधान उन्होंने लखनपुर ग्राम में 'प्रेमाश्रम' की स्थापना द्वारा प्रस्तुत किया है। यह 'प्रेमाश्रम' प्रेमचन्दजी के स्वप्नों की साकार कल्पना है। सुधरे हुये गाँव का चित्र देखिये 'वहाँ खूब रौनक और सफाई है। प्रायः सभी द्वारों पर सायबान थे, उनमें बड़े-बड़े तख्ते बिछे हुये थे। अधिकांश घरों में सुफेदी हो गई थी। फूस के झोंपड़े गायब हो गये थे, अब सभी घरों पर खपरैल थे। द्वारों पर बैलों के लिये चरनियाँ बनी हुई थीं और कई द्वारों पर घोड़े बँधे हुये दिखाई देते थे। पुराने चौपाल में अब पाठशाला थी और उसके सामने एक पक्का कुआँ और धर्मशाला थी। सुक्खू चौधरी के मंदिर पर इस समय बड़ी बहार थी। चौतरे पर बैठे हुये चौधरी रामायण पढ़ रहे थे और कई स्त्रियाँ बैठी सुन रही थीं।'

इस कल्पना को मूर्त करने के लिये प्रेमचन्दजी ने जो नुसखा दिया है वह बहुत सस्ता है। अमेरिका से उदात्त भावनायें लेकर आये हुये 'प्रेमशंकर' का प्रयत्न। उनके प्रयत्न से लोभी और निर्मम डाक्टर प्रियानाथ, घूसखोर थानेदार दयाशंकर, स्वार्थी डाक्टर इर्फान अली, सभी जनता के सच्चे सेवक बन जाते हैं। इतना बड़ा हृदय-परिवर्तन सहज नहीं। निश्चित है कि यहाँ भी प्रेमचन्द युग के सुधारवादी दृष्टिकोण से ऊपर नहीं उठ सके हैं।

कला की दृष्टि से 'प्रेमाश्रम' का पूर्वार्द्ध भी बहुत सफल है। ग्राम्यजीवन का इतना बड़ा कलाकार सम्भवतः भारत की अन्य भाषाओं में नहीं है। उत्तरार्द्ध में घटनाओं को समेटने में प्रेमचन्द अधिक सफल नहीं हुये हैं। मनोहर की आत्महत्या, विद्यावती की मृत्यु, ज्ञानशंकर और गायत्री का अन्त, यह सब कुछ कथानक को समेटने के प्रयत्न में हुआ है। इस प्रकार विरोधी पात्र या तो सुधर गये हैं या चुपचाप मृत्यु के शान्त अञ्चल में छिप गये हैं। कथानक का इस प्रकार अन्त कर देना प्रौढ़ कलाकार के लिये चुनौती है।

रंगभूमि 'रंगभूमि' भारतीय जन-जीवन का रंगमंच है। वर्तमान युग-जीवन के सभी प्रतिनिधि पात्र इस मञ्च पर सच्चा अभिनय करते हैं। यह कृति प्रेमचन्द की विराट उद्भावना है। इसमें कलाकार ने मुख्यतः औद्योगिक सभ्यता के दुर्गुणों की ओर एक सच्चे

...की तरह दृष्टिपात किया है। 'रंगभूमि' में एक साथ औद्योगिक और कृषि-जीवन की तुलना, पूंजी-केन्द्रीकरण का विरोध, औद्योगिक सभ्यता का विरोध, व्यक्ति के अधिकारों की सुरक्षा, धार्मिक रूढ़िवादिता का विरोध, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के लिये जनान्दोलन का समर्थन, देशी राज्यों की राजनीति, अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नकली और थोथी आदर्शवादिता, सब कुछ मूर्त हो उठा है। इस जीवन के मञ्च पर हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पादरी, राजा, कुँवर, दीवान, जमींदार, किसान, मिल मालिक, मजदूर, पंडे और गुंडे, देश-सेवक, देशसेवी, आत्मसेवी और आत्मदर्शी सभी ने अपना-अपना अभिनय किया है।

इस उपन्यास में प्रेमचन्द का वस्तु-बोध अधिक सजग है। कथा के कलात्मक विकास में भी उन्होंने अस्वाभाविकता नहीं आने दी है। आलोचकों की दृष्टि में प्रेमचन्दजी ने इस उपन्यास में पहली बार चरित्रप्रधान उपन्यास लिखने में सफलता प्राप्त की है। वस्तुतः 'सूरदास' का चरित्र तो प्रेमचन्द की अनुपम सृष्टि है। कुछ आलोचक 'सूरदास' को गांधी का ही दूसरा रूप मानते हैं।[1]

'रंगभूमि' की सफलता के बाद प्रेमचन्द ने अध्यात्मभूमि का कोना भी झांकना चाहा किन्तु आवागमन के चक्कर में बुरी तरह फँस गये। 'कायाकल्प' में यही गोरखधन्धा देखा जा सकता है। जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ तो आश्चर्य की आँखें खुली रह गईं। रब्त और रवानी गायब हो गई। 'देवप्रिया' का चरित्र समझने के लिये फरिश्ते उतर आये। पृथ्वी पर के दर्शकों को भानुमती का पिटारा दिखलाई पड़ा। साथ चलनेवालों ने प्रेमचन्द को पीछे मुड़ता हुआ पाया। कला-विवेचकों को नये असफल प्रयोग की अनुभूति हुई। और विचारपूर्वक देखनेवालों ने प्रजा की ऊब में विद्रोह देखा, सर्वगुण-सम्पन्न नारी को अज्ञात-कुल-शील होने के कारण समाज से बहिष्कृत होते देखा, मजहबी जोश को त्याग के सामने झुकते देखा और प्रेमचन्द को क्षमा कर दिया। प्रेमचन्दजी ने जिन्दगी में फिर ऐसी गलती नहीं की।

कायाकल्प

प्रेमचन्दजी पुनः 'कर्मभूमि' में आ गये। कर्मभूमि में वे नागरिक और ग्रामीण दोनों जीवन-धाराओं में राजनैतिक चेतना फूंकना चाहते हैं। शहर की क्रान्ति का नेतृत्व डॉ० शान्तिकुमार तथा सुखदा ने किया है। गाँवों का आन्दोलन अमरकान्त और आत्मानन्द के द्वारा सञ्चालित किया गया है। मन्दिर में अछूतों का प्रवेश-निषेध, महन्तों का आडम्बर और भोगलिप्सा,

कर्मभूमि

---

1. प्रेमचन्द जीवन और कृतित्व, हँसराज रहबर,—पृष्ट १६७

जनता का अन्धविश्वास, मदिरा-सेवन की अनैतिकता आदि सामाजिक और धार्मिक समस्याओं के साथ ही कलाकार ने मजदूरों और किसानों की हीनावस्था, सरकारी दमन, पूँजीपतियों का शोषण, आदि राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को भी उठाया है। उपन्यास के अन्त में प्रेमचन्द ने पाँच आदमियों की ऐसी कमेटी बनाई है जिसके सुझाव सरकार को मान्य होंगे। इस आधार पर वे समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं। यहाँ भी उनका सुधारवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। सम्भवतः इस कमेटी सम्बन्धी धारणा के मूल में सन् १९३१ का गांधी-इरविन समझौता कार्य कर रहा था।

कला की दृष्टि से कर्मभूमि असफल कृति नहीं मानी जा सकती कथा-संगठन में स्वाभाविकता है। जहाँ कहीं लेखक ने लम्बे-लम्बे भाषणों और विवादों द्वारा अपने विचार व्यक्त करने की चेष्टा की है वहाँ उपन्यास के स्वाभाविक प्रवाह में व्याघात पैदा हो गया है। कुछ पात्र पूर्ण विकसित नहीं हो सके हैं किन्तु उनकी अनावश्यक हत्या नहीं की गई है। कथानक की दो विभिन्न धाराओं को जोड़ने में भी प्रेमचन्द को पर्याप्त सफलता मिली है। सब मिलाकर कर्मभूमि प्रेमचन्द की दूसरी श्रेणी की कृति है।

गबन

गबन में प्रेमचन्द ने पारिवारिक जीवन का मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया। नारी की आभूषणप्रियता और पुरुष का आत्मप्रदर्शन इन दोनों मनोवैज्ञानिक सत्यों को पति-पत्नी के जीवन में बाँधकर प्रेमचन्द ने बड़ा ही स्वाभाविक कथा-विकास प्रस्तुत किया है। प्रथम बार प्रेमचन्द ने पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित किया। परिस्थितियों में पड़कर व्यक्ति को संघर्ष करते हुये दिखाया। व्यक्ति की दुर्बलता को प्रत्यक्ष किया। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में पुलिस, न्यायालय, तथा वेश्या जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः कथानक के दो केन्द्र हो गये हैं। 'प्रयाग' से सम्बन्धित कथानक पूर्णतः पारिवारिक है। 'कलकत्ते' का घटनाचक्र राजनैतिक और सामाजिक जीवन को भी समेट लेता है।

उपन्यास के अंत में प्रेमचन्द का सुधारवाद इस उपन्यास में भी स्वर्ग बनकर सामने आ गया है। सभी पात्रों को उन्होंने अनासक्त और कर्मयोगी बना दिया है। किन्तु इस स्वर्ग में उल्लास के स्थान पर उदासीनता है। ऐसा लगता है कि इस प्रकार के सुधारवादी स्वर्गों से उनकी आस्था डिगने लगी थी।

कला की दृष्टि से 'गबन' प्रथम श्रेणी का उपन्यास है। यद्यपि इसमें भी दुर्बलतायें हैं। 'रतन' की कथा मूल कथानक से अलग कुछ खिंची हुई-सी है। 'जालपा' का चरित्र अन्त में पूर्ण आदर्शवादी हो गया है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सरल नहीं। यह आदर्शवादिता जोहरा को भी ऊपर उठा देती है। इस प्रकार

कुछ छोटी-मोटी खामियाँ देखी जा सकती हैं किन्तु रचना की सफलता सन्देह से परे है।

'गोदान' प्रेमचन्द का चिर अमर-कीर्ति स्तम्भ है। यह उनकी प्रौढ़तम कृति है। 'गोदान' में प्रेमचन्द का सम्पूर्ण जीवन-अनुभव सिमट आया है। इसकी कथा के दो प्रमुख सूत्र हैं। होरी, गोबर, धनिया झुनियाँ तथा अन्य ग्रामीण व्यक्तियों—दातादीन, नोखेराम, पटेश्वरी झिंगुरी सिंह—को लेकर चलनेवाला कथा-सूत्र ग्राम्यजीवन के साथ विकसित होता है। दूसरी ओर नागरिक जीवन को लेकर चलनेवाला दूसरा कथा सूत्र है। इसमें पंडित ओंकारनाथ (सम्पादक), श्यामबिहारी तंखा (बीमा कम्पनी के दलाल), मिस्टर खन्ना (उद्योगपति), मिस्टर मेहता (दर्शनशास्त्र के अध्यापक), मिस्टर मिर्जा (जूते के दुकानदार), मिस मालती (लेडी डाक्टर) प्रधान पात्र हैं। दोनों कथा-सूत्रों को जोड़नेवाले इलाके के जमींदार रायसाहब अमरपाल सिंह हैं। होरी की कथा आधिकारिक है और नागरिकों की कथा प्रासंगिक। किन्तु प्रासंगिक कथा प्रमुख कथा के विकास में अनिवार्य नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। उसकी उपादेयता ग्रामीण जीवन और नागरिक जीवन की विषमता प्रत्यक्ष करने में ही है।

गोदान

'होरी' उपन्यास का नायक है। वह किसानों का प्रतिनिधि है। धर्म के ठेकेदारों, छोटे-बड़े महाजनों और जमींदारों की जाल में उलझा हुआ मर्यादाधारी किसान मिटते-मिटते मजदूर हो जाता है और पिसते-पिसते शव। संक्षेप में यही उसका जीवन है। दूसरी ओर सभ्य नागरिक समाज की स्थिति भी सामाजिक उत्थान के लिये आशाप्रद नहीं है। जनता के सेवक कहलानेवाले पत्रकार स्वार्थी हैं। अमीरों से चुपके-चुपके रुपया खाते हैं। दार्शनिक दृष्टिवाले प्रोफेसर इस सीमा तक तटस्थ हैं कि तमाशा बन गये हैं। उद्योगपति मजदूरों की हड्डी पर महल खड़ा करते हैं। गाँवों और नगरों के बीच में विशाखुल्य लटके हुए अधिकार किसानों को चूसकर शासकों को सन्तुष्ट करते हैं। यही आज का युग-जीवन है। ऐसे समाज का उत्थान सुधारों से नहीं हो सकता। प्रेमचन्द इस निष्कर्ष पर पहुँच गये हैं। इसीलिये उपन्यास के अन्त में वे स्वप्न को साकार नहीं, सत्य को अनावृत कर देते हैं।

"धनिया यंत्र की भाँति उठी, आज जो सुतली बेची थी उसके बीस आने पैसे लाई और पति के ठंडे हाथ में रखकर सामने खड़े दातादीन से बोली—महाराज, घर में न गाय है न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है। और पछाड़ खाकर गिर पड़ी।"

प्रेमचन्द के दो अन्य छोटे-छोटे उपन्यास—'प्रेमा' और 'निर्मला'—

प्रारम्भिक कृतियाँ हैं। 'प्रतिज्ञा' में विधवाओं और अछूतों का प्रश्न उठाया गया है। यह सन् १९०६ में लिखा गया था। यह एक सामाजिक उपन्यास है। इसमें प्रेमचन्द सच्चे सुधारवादी के रूप में सामने आते हैं। अन्त में कमलाप्रसाद का स्वभाव-परिवर्तन इसी सुधारवादी मनोवृत्ति का द्योतक है।

'प्रतिज्ञा' और 'निर्मला'

निर्मला में दहेज और अनमेल विवाह का भीषण परिणाम दिखाया गया है। यह उपन्यास भी पूर्णतः सामाजिक है। परिणाम की भयंकरता दिखाने के लिये घटनाओं के साथ मनमानी की गई है। मंसाराम बोर्डिंग हाउस में बीमार पड़ता है और अस्पताल में मर जाता है, जियाराम आत्महत्या कर लेता है। छोटा लड़का सियाराम साधू हो जाता है। डाक्टर आत्महत्या कर लेता है। तोताराम घर छोड़कर भाग जाता है। इसमें उपन्यासकार कोई सुधारवादी समाधान उपस्थित नहीं करता।

प्रेमचन्द की अन्तिम कृति 'मंगलसूत्र' है। यह अधूरी है। सम्भवतः इसमें प्रेमचन्दजी अपनी जीवन-गाथा प्रस्तुत कर रहे थे। उपन्यास का नायक देवकुमार एक लेखक है। साहित्य-सेवा में सब कुछ खोकर दरिद्र हो चुका है। बड़ा लड़का सतकुमार वकील है। उसकी अलग दुनिया है। छोटा लड़का साधुकुमार पिता के आदर्शों पर चलने की कोशिश करता है। यह कथानक बहुत कुछ प्रेमचन्दजी के जीवन पर चरितार्थ हो जाता है।" 'मंगल सूत्र' जन-मंगल के लिये निश्चय ही किसी नवीन मान्यता का सूत्रपात करता, किन्तु वह अधूरा रह गया।

अन्तिम कृति

प्रेमचन्दजी ने अपनी कृतियों में जन-वाणी को रूप दिया है। असत्य न होगा यदि यह कहा जाय कि १९०५ से १९३६ तक का वास्तविक युग-प्रवाह उनकी कृतियों में ही प्रवाहित हुआ है। लोक-चेतना के इस गायक की कृतियों में कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान हठात् खिंच जाता है। इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है।

सामान्य विशेषतायें

(क) प्रेमचन्दजी सदैव सामाजिक और राजनैतिक प्रगति के साथ चलते रहे। इसीलिये उनकी कृतियों में आर्यसमाज की सुधार भावना, गांधीयुग की राष्ट्रीयता और सत्याग्रह तथा और आगे बढ़कर समाजवादी युग की वर्गचेतना तथा वस्तुवादी कला का रूप भी मिल जाता है।

(ख) युगजनित आन्दोलनों से प्रभावित होने पर भी प्रेमचन्दजी ने मानवता की व्यापक भूमि का तिरस्कार नहीं किया। इसीलिये किसी वर्ग विशेष से उनका मानसिक गठबन्धन न हो सका।

(ग) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का सृजन केवल कलात्मक सृजन नहीं है उनकी सामाजिक उपादेयता कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

(घ) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद प्रतिबिम्बित हुआ है। वे स्वयं कहते हैं 'इसलिये वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं।'[1]

(ङ) प्रेमचन्दजी के उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। चरित्र-प्रधान उपन्यासों में घटनायें और पात्र दोनों की स्थिति अन्योन्याश्रित होती है। पात्र ऊपर उठकर घटनासूत्र अपने हाथ में लेना चाहते हैं। उन पर नियन्त्रण करना चाहते हैं; परिस्थितियों से ऊपर उठना चाहते हैं; किन्तु परिस्थितियों के भीषण वात्याचक्र में पड़कर चीत्कार कर उठते हैं। पाठक के सामने उनका चित्र सजीव हो जाता है। परिस्थितियों से खिंचकर उसका ध्यान उस सजीव चित्र के ऊपर केन्द्रित हो जाता है। उसके साथ सहानुभूति हो जाती है। 'रंगभूमि' का 'सूरदास', 'गोदान' का 'होरी' तथा गबन का रमानाथ ऐसे ही सजीव मानव-चरित्र हैं।

(च) प्रेमचन्दजी पात्रों का सृजन करते समय उन्हें उदात्त दिखाने के लिये अपनी ओर से काँट-छाँट करना आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं "साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है × × × इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये जरूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें जो वासनाओं के पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुये निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।"[2] इसी मान्यता के कारण उनके प्रमुख पात्र आदर्शवादी हो गये हैं।

(छ) प्रेमचन्दजी उत्कृष्ट रचना के लिये ऊँची श्रेणी के चरित्रनायकों का चित्रण आवश्यक नहीं मानते।[3] इसीलिये उनके श्रेष्ठ उपन्यासों के नायक मध्यम-वर्ग या निम्नवर्ग से लिये गये हैं। साथ ही प्रेमचन्दजी चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखते समय उपन्यासों की योजना आवश्यक नहीं मानते हैं।

(ज) उपन्यासों के आलोचना की ओर संकेत करते हुये वे कहते हैं

---

१. 'साहित्य का उद्देश्य', प्रेमचन्द—पृष्ठ ५७
२. साहित्य का उद्देश्य—पृष्ठ, ५८
३. 'यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र नायक ऊँची श्रेणी के ही मनुष्य हों' 'साहित्य का उद्देश्य', पृष्ठ ६६

'यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढंग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो।' सम्भवतः 'मंगलसूत्र' की रचना उन्होंने इसी आदर्श पर प्रारम्भ की थी। उसका जितना अंश सामने है, वह इसी दिशा की ओर संकेत करता है।

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में दुर्बलतायें भी हैं। समय-समय पर आलोचकों ने जिन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है उन्हें निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं।

दुर्बलतायें

(क) प्रेमचन्दजी को उच्चवर्ग या नागरिक सभ्यता के चित्रण में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी ग्रामीण जीवन के चित्रण में। वस्तुतः उच्चवर्ग के जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति प्रेमचन्द को न थी। ग्रामीण जीवन उनका अपना जीवन था। अतः यह दुर्बलता स्वाभाविक है।

(ख) प्रेमचन्दजी समस्याओं का उठान बड़े कौशल से करते हैं किन्तु उनका उचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाते। वस्तुतः सुधारवाद,सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन ये उनके युग की सीमायें थीं। युग के साथ चलनेवाला कलाकार समस्याओं का समाधान इन्हीं में ढूँढना चाहेगा। प्रेमचन्दजी की आस्था, जीवन के अन्तिम दिनों में इस सुधारवाद से हट चली थी। यह उनकी सजग चेतना का सूचक है। भविष्य में उनकी कला का स्वरूप कुछ और ही होता।

(ग) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का उत्तरार्द्ध कथा-संगठन की दृष्टि से कलात्मक नहीं हो पाता। कथा-सूत्र को निश्चित योजना के अनुसार नियमित गति देने के लिये कभी-कभी अनेक पात्रों को वे बड़े ही अस्वाभाविक ढंग से मञ्च से अलग कर देते हैं। या उनकी मानसिक वृत्तियों में आमूल परिवर्तन कर देते हैं। वस्तुतः यह दुर्बलता भी कलाकार के आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण आ गई है।

(घ) प्रेमचन्द के पात्र वर्गविशेष के प्रतिनिधि हैं, उनका निजी व्यक्तित्व वर्गगत विशेषताओं के सामने नहीं उभर सका है। वस्तुतः प्रेमचन्दजी का क्षेत्र व्यापक था वे सम्पूर्ण समाज की गतिविधि का चित्रण करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन के विविध वर्गों को ही वे मूर्त कर सकते थे। पारिवारिक जीवन के चित्रण में वैयक्तिक विशेषतायें सुन्दर ढंग से व्यक्त की जा सकती हैं और यह निर्विवाद है कि प्रेमचन्दजी पारिवारिक जीवन के कलाकार नहीं हैं।

(ङ) उपन्यासों के बीच-बीच में थोड़ा भी अवसर मिलने पर प्रेमचन्दजी उपदेशक का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनका कथाकार पीछे रह जाता है। कला की दृष्टि से यह दोष है। प्रेमचन्दजी ने इसे निम्नलिखित रूप में स्वीकार भी किया

(ग) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का सृजन केवल कलात्मक उनकी सामाजिक उपादेयता कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

(घ) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है। वे स्वयं कहते हैं 'इसलिये वही उपन्यास उच्चकोटि के सम यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्श कह सकते हैं।'[१]

(ङ) प्रेमचन्दजी के उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं। चरित्र-प्रध घटनायें और पात्र दोनों की स्थिति अन्योन्याश्रित होती है। पा घटनासूत्र अपने हाथ में लेना चाहते हैं। उन पर नियन्त्रण क परिस्थितियों से ऊपर उठना चाहते हैं; किन्तु परिस्थितियों के भं में पड़कर चीत्कार कर उठते हैं। पाठक के सामने उनका चित्र स है। परिस्थितियों से खिचकर उसका ध्यान उस सजीव चित्र के हो जाता है। उसके साथ सहानुभूति हो जाती है। 'रंगभूमि' का 'सू का 'होरी' तथा गबन का रमानाथ ऐसे ही सजीव मानव-चरित्र हैं

(च) प्रेमचन्दजी पात्रों का सृजन करते समय उन्हें उदात्त बि अपनी ओर से काट-छाँट करना आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं का पद इससे कहीं ऊँचा होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये ज़रूरत है कि उसके चरित्र 1 जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकायें बल्कि उनको परास्त करें जो पंजे में न फँसें बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनाप शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुये निकलें। ऐसे ही चरि ऊपर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।'[२] इसी मान्यता के कारण पात्र आदर्शवादी हो गये हैं।

(छ) प्रेमचन्दजी उत्कृष्ट रचना के लिये ऊँची श्रेणी के चरि चित्रण आवश्यक नहीं मानते।[३] इसीलिये उनके श्रेष्ठ उपन्यासों के मा वर्ग या निम्नवर्ग से लिये गये हैं। साथ ही प्रेमचन्दजी चरित्रों को सृ देते समय उपकथाओं की योजना आवश्यक नहीं मानते हैं।

(ज) उपन्यासों के भावोत्कर्ष की ओर संकेत करते हुये वे

१. 'साहित्य का उद्देश्य', प्रेमचन्द—पृष्ठ ४७
२. साहित्य का उद्देश्य—पृष्ठ, ४६
३. 'यह ज़रूरी नहीं कि हमारे चरित्र नायक ऊँची श्रेणी के ही

'यों कहना चाहिये कि भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा, चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छुटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा कि जिन पर उसने विजय पायी है। हाँ, वह चरित्र इस ढग से लिखा जायगा कि उपन्यास मालूम हो।' सम्भवतः 'मगलसूत्र' की रचना उन्होंने इसी आदर्श पर प्रारम्भ की थी। उसका जितना अग सामने है, वह इसी दिशा की ओर संकेत करता है।

प्रेमचन्दजी के उपन्यासों में दुर्बलतायें भी हैं। समय-समय पर आलोचकों ने जिन दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है उन्हें निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं।

दुर्बलतायें

(क) प्रेमचन्दजी को उच्चवर्ग या नागरिक सभ्यता के चित्रण में उतनी सफलता नही मिली जितनी ग्रामीण जीवन के चित्रण में। वस्तुतः उच्चवर्ग के जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति प्रेमचन्द को न थी। ग्रामीण जीवन उनका अपना जीवन था। अतः यह दुर्बलता स्वाभाविक है।

(ख) प्रेमचन्दजी समस्याओं का उठान बड़े कौशल से करते हैं किन्तु उनका उचित समाधान प्रस्तुत नही कर पाते। वस्तुत सुधारवाद,सत्याग्रह, हृदय-परिवर्तन ये उनके युग की सीमायें थी। युग के साथ चलनेवाला कलाकार समस्याओं का समाधान इन्ही में ढूंढना चाहेगा। प्रेमचन्दजी की आस्था, जीवन के अन्तिम दिनों में इस सुधारवाद से हट चली थी। यह उनकी सजग चेतना का सूचक है। भविष्य में उनकी कला का स्वरूप कुछ और ही होता।

(ग) प्रेमचन्दजी के उपन्यासों का उत्तरार्द्ध कथा-सगठन की दृष्टि से कलात्मक नहीं हो पाता। कथा-सूत्र की निश्चित योजना के अनुसार नियमित गति देने के लिये कभी-कभी अनेक पात्रों को वे बड़े ही अस्वाभाविक ढग से मञ्च से अलग कर देते हैं। या उनकी मानसिक वृत्तियों में आमूल परिवर्तन कर देते हैं। वस्तुतः यह दुर्बलता भी कलाकार के आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण आ गई है।

(घ) प्रेमचन्द के पात्र वर्गविशेष के प्रतिनिधि है, उनका निजी व्यक्तित्व वर्गगत विशेषताओं के सामने नहीं उभर सका है। वस्तुत. प्रेमचन्दजी का क्षेत्र व्यापक था वे सम्पूर्ण समाज की गतिविधि का चित्रण करना चाहते थे। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन के विविध वर्गो को ही वे मूर्त कर सकते थे। पारिवारिक जीवन के चित्रण में वैयक्तिक विशेषतायें सुन्दर ढग से व्यक्त की जा सकती हैं और यह निर्विवाद है कि प्रेमचन्दजी पारिवारिक जीवन के कलाकार नहीं हैं।

(ङ) उपन्यासों के बीच-बीच में थोड़ा भी अवसर मिलने पर प्रेमचन्दजी उपदेशक का रूप ग्रहण कर लेते हैं। उनका कथाकार पीछे रह जाता है। कला की दृष्टि से यह दोष है। प्रेमचन्दजी ने इसे निम्नलिखित रूप में स्वीकार भी किया

है। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी को उत्तर देते हुये वे लिखते हैं "सभी लेखक कोई न कोई प्रोपेगंडा करते हैं—सामाजिक, नैतिक या बौद्धिक। अगर प्रोपेगंडा न हो, तो संसार में साहित्य की उत्पत्ति न रहे। जो प्रोपेगंडा नहीं कर सकता, वह विचारशून्य है और उसे कलम हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं। मैं उस प्रोपेगंडा को गर्व से स्वीकार करता हूँ। मेरा विरोध तो उस प्रोपेगंडा के आशय से है, जो मान, यश, कीर्ति और धन मोह के वश किया जाता है।"[1] स्पष्ट है कि किसी उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा के लिये वे उपदेशक या प्रोपेगंडिस्ट होना बुरा नहीं मानते।

(ख) प्रेमचन्दजी कथासूत्रों का संगठन करते समय कभी-कभी अनेक अनावश्यक प्रसंगों की उद्भावना कर देते हैं। अनेक स्थलों पर ये प्रसंग मूलकथा से विच्छिन्न हो जाते हैं और कथा संगठन में अन्विति दोष आ जाता है। 'रंगभूमि' में कथा प्रसंग इसी कारण बिखर गया है। प्रेमचन्दजी की इस दुर्बलता का कारण यह है कि वे जीवन में आनेवाली प्रत्येक संवेदनशील घटना को बहुत महत्त्व देते हैं। उनकी सम्पादकीय टिप्पणियों को देखने से यह प्रत्यक्ष है कि कभी-कभी वे हृदय को स्पर्श करनेवाले समाचारों को एक साथ रखकर उनपर भी संक्षिप्त टिप्पणी कर देते थे। उपन्यासों में भी थोड़ा सा अवसर मिलनेपर जहाँ-कहीं किसी संवेदनशील घटना के चित्रण का अवसर मिला है वे भावों में बह गये हैं और प्रधान कथासूत्र से उसकी विच्छिन्नता का ध्यान नहीं रहा है।

प्रेमचन्दजी के कुल नौ कहानी-संग्रह प्रकाशित हुये हैं। (१) 'सप्तसरोज', (२) 'नवनिधि', (३) 'प्रेम पूर्णिमा', (४) 'प्रेम-पचीसी', (५) 'प्रेम-प्रतिमा', (६) 'प्रेम द्वादशी', (७) 'समरयात्रा', (८) मानसरोवर: भाग १ : २, (९) कफन।

कहानियाँ

इन कहानियों में १९०७ से लेकर १९३६ तक के हिन्दी-प्रदेशीय जन-जीवन की प्रगति का संवेदनशील इतिहास प्रतिबिम्बित हुआ है। विषय की दृष्टि से ये कहानियाँ सामाजिक एवं राजनैतिक प्रगति से ही सम्बद्ध हैं। अधिकांश कहानियाँ ग्राम्य जीवन की सुन्दर झाँकियाँ हैं। 'प्रेम द्वादशी' की भूमिका में प्रेमचन्दजी ने लिखा है 'जिस देश के ८० फीसदी मनुष्य गाँवों में बसते हों, उसके साहित्य में ग्राम्य-जीवन ही प्रधानरूप से चित्रित होना स्वाभाविक है। उन्हीं का सुख राष्ट्र का सुख, उनका दुःख राष्ट्र का दुःख और उन्हीं की समस्यायें राष्ट्र की समस्यायें हैं।" प्रेमचन्द के समग्र कथा-साहित्य का यही मूल मन्त्र है। संक्षेप में उनकी कहानियों में निम्नलिखित विशेषतायें लक्ष्य की जा सकती हैं—

१. हिन्दी साहित्य–बीसवीं शताब्दी—पृष्ठ ९९

(१) कहानियों का चित्रपट विशाल है। इसमें हम किसान-जमींदार, कर्जदार-महाजन, अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, मजदूर-उद्योगपति, कारिन्दा-दारोगा, पटवारी-चौकीदार, नौकर-मालिक, हिन्दू-मुसलमान, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक सभी के यथार्थ चित्र देख सकते हैं।

(२) ग्रामीण-जीवन का यथार्थ चित्रण सर्वाधिक सजीव हुआ है। लेखक को इस जीवन की बड़ी गहरी अनुभूति थी।

(३) गाँधीवादी जीवन-दर्शन से लेखक सर्वाधिक प्रभावित है। इसीलिये गाँधी के नेतृत्व में चलनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलन का बड़ा ही हृदयग्राही चित्रण मिलता है। 'समरयात्रा' की कहानियाँ तो प्राय आन्दोलनों का जीता-जागता इतिहास बन गई हैं।

(४) इन कहानियों का शिल्पविधान भले ही पाश्चात्य आधार पर हुआ हो किन्तु इनकी आत्मा भारतीय आदर्शों से भिन्न नहीं है।

(५) प्रेमचन्दजी का मानवतावादी दृष्टिकोण इन कहानियों में सुरक्षित है। उनका विश्वास है 'बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोलकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है।'[1] 'बड़े घर की बेटी' 'पञ्चपरमेश्वर' आदि कहानियों में इसी देवता को जगाया गया है।

(६) प्रेमचन्दने मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन सुन्दर कहानी के लिये एक आवश्यक तत्त्व माना है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं 'मेरी 'सुजान भगत,' 'मुक्तिमार्ग', 'पञ्चपरमेश्वर', 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'महातीर्थ' नामक सभी कहानियों में एक न एक मनोवैज्ञानिक रहस्य को खोलने की चेष्टा की गई है।'[2]

(७) नारी जीवन के प्रति संवेदना-मिश्रित सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। प्रेमचन्द अत तक निर्णय नहीं कर सके थे कि नारी को पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये या नहीं। 'शान्ति' नामक कहानी में उनका यह द्वन्द्व भलीभाँति प्रकट हुआ है।

(८) कहीं-कहीं हम प्रेमचन्दजी की कहानियों में लोक-जीवन मे चलनेवाले अन्धविश्वासों—भूत-प्रेत नाग-पूजा आदि—का चित्रण भी पाते हैं। पता नहीं स्वयं लेखक इन पर कहाँ तक विश्वास रखता था।

(९) प्रेमचन्दजी की कहानियों में साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का स्पर्श भी नहीं है। उन्होंने मुसलमान पात्रों का भी उतनी ही संवेदना से चित्रण किया है जितनी

१. प्रेम-पीयूष की भूमिका

२. साहित्य का उद्देश्य,—पृष्ठ ५१

संवेदना से हिन्दू-पात्रों का। 'मुक्ति धन' कहानी में 'रहमान' का चित्रण बड़ा सुन्दर हुआ है। वह गरीब किसान पहले है और कुछ बाद को।

(१०) प्रेमचन्दजी की बाद की कहानियों में *यथार्थ का आग्रह प्रबल हो* गया है। 'कफन' संग्रह की कहानियों में साम्राज्य-विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट हो गया है। 'आहुति' में एक पात्रा कहती है—'अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व रहे और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थान्ध बना रहे, तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा। अँग्रेजी महाजनों की धन-लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही आज हमें पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिये आज हम प्राणों को हथेली पर लिये हुये हैं, उन्हीं बुराइयों को क्या प्रजा इसलिये सिर चढ़ायेगी कि वे विदेशी नहीं स्वदेशी हैं?"

(११) प्रेमचन्दजी की *कहानियों का सबसे प्रबल आकर्षण अनुभूति की* तीव्रता है। प्रत्येक कहानी, जीवन का एक अनुभूति-खंड है जिसे उन्होंने हृदय की सम्पूर्ण निश्छलता के साथ उपस्थित कर दिया है। हम उनकी शिल्प-विधि पर नहीं इसी सजग-सरल अनुभूति पर रीझते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रेमचन्दजी की कहानियों में अभिव्यक्ति-सौंदर्य है ही नहीं। उनकी कहानी भी क्रमशः प्रौढ़ता प्राप्त करती गई है और शिल्प-विधि में कलात्मकता आती गई है।

कला-विकास

उनकी प्रारम्भिक कहानियाँ घटना-बहुलता के कारण आकर्षक हैं। पात्र उभर नहीं पाये हैं। कलेवर अधिक लम्बा है। इन्हें कथानक-प्रधान कहा जा सकता है। आगे चलकर कथानक गौण हो गया है। पात्रों का चरित्र प्रधान हो गया है। कहानियाँ अपेक्षाकृत छोटी हो गई हैं। उनमें जीवन का एक अंश ग्रहण किया जाने लगा है। कला-विकास की तीसरी स्थिति में कथानक अत्यन्त छोटे हो गये हैं। व्यंग्य और प्रभाव को प्रधानता दी गई है। अब जीवन का एक अंश नहीं एक बिन्दु ग्रहण किया गया है और कहानियाँ मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्घाटन करती हैं। 'कफन', 'मनोवृत्ति', 'पूस की रात', 'कुसुम' आदि इसी काल की रचनायें हैं।

भाषा-शैली

प्रेमचन्दजी की भाषा में उर्दू की रवानगी, व्यावहारिक जीवन का प्रसार, ग्राम्यजीवन की अभिव्यञ्जना तथा स्वयं उनके व्यक्तित्व की सरलता के दर्शन एक साथ होते हैं। उनकी भाषा में हिन्दी की जातीय विशिष्टता देखी जा सकती है। उसमें वर्णन की अद्भुत क्षमता है। वह दृश्यों को इतने सुन्दर ढंग से मूर्त कर देती है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तु-सौन्दर्य साकार हो उठता है। उर्दू की रवानगी का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

'तगादा' कहानी में इक्केवाला अपना वैभव इस प्रकार वर्णन करता है 'घर कहाँ है हुजूर, जहाँ पड रहें, वहीं घर है। जब घर था तब था। अब तो बेघर, बेजर, बेदर हूँ और सबसे बड़ी बात यह है कि बेपर हूँ। तकदीर ने पर काट लिये। लेंडूरा बनाकर छोड़ दिया। मेरे दादा नवाबी में चकलेदार थे, हुजूर, सात जिले के मालिक, जिसे चाहें तोप दम कर दें, फाँसी पर लटका दें।' गाँवों के यौवन को साकार देखना हो तो प्रेमचन्दजी का यह वर्णमय चित्र देखिये—

'फागुन आया है, डफ और ढोल बज रहे हैं, महुआ महँक रहा है, खेत सोने से लदे हैं; कोयल कुहुक रही है; किसान फाग गा रहे हैं'...

गम्भीर विषयों पर लिखते समय भी प्रेमचन्दजी ने सरलता का ध्यान रखा। भाषा का प्रवाह वहाँ भी अक्षुण्ण रहा। देखिये—

'नीति-शास्त्र' और 'साहित्य-शास्त्र' का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अन्तर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।'[1]

वस्तुतः उर्दू और हिन्दी के कृत्रिम भेद को मिटाने के लिये प्रेमचन्दजी का भाषा विषयक आदर्श सर्वोत्तम है।

प्रेमचन्दजी की प्रमुख कथा-शैली वर्णनात्मक है। कहानियों में सवाद-शैली के भी अच्छे उदाहरण मिल जाते हैं। कुछ कहानियाँ आत्मकथात्मक शैली में भी हैं पर उपन्यास तो सभी वर्णनात्मक हैं। इस शैली को उन्होंने पूर्ण विकसित कर दिया है। प्रेमचन्दजी की प्रारम्भिक कहानियों में वर्णन की सजीवता नहीं है। कुछ भाषा सम्बन्धी दोष भी दृष्टिगत होते हैं किन्तु शीघ्र ही उन्होंने इन खामियों को दूर कर लिया था। प्रेमचन्दजी का अच्छा खासा पत्र-साहित्य भी होगा किन्तु अभी इस ओर उनके सुयोग्य सन्तानों की दृष्टि कदाचित् नहीं गई है। 'माधुरी', 'हंस' आदि पत्रिकाओं के सम्पादन काल में उन्हें अनेक लेखकों से पत्र-व्यवहार करना पड़ा होगा। इन पत्रों के प्रकाशन से तत्कालीन साहित्यिक गति-विधि का यथातथ्य और सजीव ब्योरा सामने आ जायगा। प्रेमचन्दजी के पत्रों की भाषा बड़ी ही सजीव और शैली आत्मीयतापूर्ण होती थी। एक नमूना देखिये[2]—

पत्र-साहित्य

१. साहित्य का उद्देश्य—पृष्ठ ५

२. 'प्रेमचन्द' जीवन और कृतित्व—पृष्ठ १२० (यह पत्र उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को लिखा गया है)

गणेशगंज, लखनऊ
२५ फरवरी १९३२

प्रिय बन्धु,

आशीर्वाद ! मुआफ करना, तुम्हारे दो सत आये। 'भिश्ती की बीवी' मैंने पढ़ा और बहुत पसन्द किया। तुमने उर्दू का एक और छोटा-सा चुटकुला भेजा था। मैं उसे हिन्दी मे दे रहा हूँ। मगर हिन्दी में जो चीजें तुमने अबतक भेजी हैं, उनमें अभी जबान की बहुत खामी है। हिन्दी के पत्र देखते रहोगे, तो साल छः महीने मे यह त्रुटियाँ दूर हो जायेंगी। कोई कहानी हमारे लिये हिन्दी में लिखो; मगर कहानी हो कैसी। नहीं, महान् व्यक्ति का जीवनचरित्र हो, तो उससे भी काम चल सकता है। मगर मेरी सलाह तो यही है कि बहुत लिखने के मुकाबिले मे लिट्रेचर और फिलासफी का अध्ययन करते जाओ। क्योंकि इस वक्त का अध्ययन जिन्दगी भर के लिये उपयोगी होगा।

और तो सब खैरियत है।

शुभेच्छु
धनपतराय

सम्पादक के रूप मे भी प्रेमचन्द सफल रहे हैं। अपने जीवन-काल में इन्हें 'माधुरी', 'मर्यादा', 'हंस', 'जागरण' आदि कई पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन करना पड़ा था। सम्पादक रूप में आप अपने को जाति का सेवक मानते रहे। 'डिग्री के रुपये' शीर्षक कहानी में आपने लिखा है—'पत्र का सम्पादक परम्परागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है वह जो कुछ देखता है जाति की विराट दृष्टि से ही।' वस्तुतः यही 'सेवा-भावना' और 'विराट-दृष्टि' प्रेमचन्द जी की सफलता के रहस्य हैं।

सम्पादक प्रेमचन्द

जब तक हिन्दी-साहित्य में युग-चेतना को मूर्त करनेवाले स्रष्टा कलाकारों का कृतित्व आदृत होता रहेगा, प्रेमचन्द अमर रहेंगे।

वृन्दावनलाल वर्मा

वर्मा जी का गद्य-साहित्य मुख्यतः उपन्यासों, नाटकों और कहानियों के रूप में बिखरा हुआ है। आपकी ख्याति उपन्यासकार और नाटककार के रूप में अधिक है। 'शरणागत', 'कलाकार का दण्ड', 'दबे पाँव' और 'तांगी' आपके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं। 'दबे पाँव' में आपकी शिकार-सम्बन्धी कहानियाँ सगृहीत हैं। वस्तुतः वर्माजी की ऐतिहासिक तथा आखेट-सम्बन्धी कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं। ऐतिहासिक कहानियों का आधार, इतिहास की छोटी या बड़ी कोई ऐसी घटना होती है जो पात्र-विशेष के जीवन की उज्ज्वलता को सामने लाकर राष्ट्रीय एवं जातीय गौरव का चित्र खींच देती है। आखेट सम्बन्धी कहानियों में विवरण की विशदता एवं सजीवता है। घटना में औत्सुक्य एवं नाटकीयता है। पशुओं की स्वाभाविक वृत्तियों के प्रकाशन के साथ ही शिकारियों की मानसिक स्थिति का चित्रण भी बहुत ही सुन्दर हुआ है।

नाटकों के क्षेत्र में भी वर्माजी को पर्याप्त सफलता मिली है। 'झाँसी की रानी', 'हंस मयूर', 'पूर्व की ओर', 'फूलों की बोली' तथा 'बीरबल' आपके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

नाटक 'पूर्व की ओर' का कथानक ईस्वी सन् ३८० के आस-पास का है। पल्लव राजकुमार अदवतुग अपने दुष्कर्मों के कारण निर्वासित होता है। वह नागद्वीप होता हुआ जावा और बोर्नियो में पहुँचता है। उसके साथ भारतीय संस्कृति का विस्तार भी पूर्वी द्वीपों में होता है। बौद्ध एवं शैव संस्कृतियों का समानान्तर चित्रण, नाटककार ने प्रस्तुत किया है।

'हंस मयूर' में विक्रमादित्य के उदयकालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों का चित्रण किया गया है। भारत पर शकों का आक्रमण तथा आर्य इन्द्रसेन के प्रयत्नों से मालव का उद्धार, यही इस नाटक का मूल कथानक है। 'फूलों की बोली' का कथानक ईस्वी सन् १०३० के आस-पास का है। इसमें उज्जैन के एक व्यापारी की कथा है, जो एक रसायनिक सिद्ध से सोना बनाने की विद्या सीखने के प्रयत्न में अपना सर्वस्व खो देता है। स्वर्ण-मोह की इस विडम्बना के साथ ही, इस नाटक में, वेश्याओं में नारीत्व की स्थिति भी दिखाई गई है, जिसे हम नाटक की दूसरी प्रमुख विशेषता मान सकते हैं। 'बीरबल' में अकबर के प्रसिद्ध दरबारी बीरबल की महानता का उद्घाटन किया गया है। 'झाँसी की रानी' में वर्मा जी ने अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' को ही नाटकीयता प्रदान कर दी है। कथानक का सम्बन्ध १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम से है।

वस्तु-विधान की सरलता के कारण वर्मा जी के बहुत से नाटक खेले जा सकते हैं; और कुछ तो सफलता पूर्वक खेले भी गये हैं। इस प्रकार हिन्दी-नाटककारो में वर्माजी अच्छा स्थान रखते हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

वर्मा जी की सृजनात्मक प्रतिभा का पूर्ण विकास उपन्यासो में हुआ है। उन्होंने सब मिलाकर अब तक लगभग दो दर्जन उपन्यासो का सृजन किया है।

उपन्यास

'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'मुसाहिब जू', 'कचनार', 'झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई', 'मृगनयनी', 'टूटे काँटे' उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है, जो अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। 'माधवजी सिंधिया', 'सत्रह सौ उन्तीस', 'राणा साँगा', 'छत्रसाल', 'आनन्दघन' आदि ऐतिहासिक उपन्यास शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले हैं। 'कुण्डली चक्र', 'प्रेम की भेंट', 'प्रत्यागत', 'कभी न कभी', 'हृदय की हिलोर', 'अचल मेरा कोई', 'अमरबेल', 'लगन', 'संगम' और 'सोना', वर्मा जी के प्रसिद्ध सामाजिक उपन्यास हैं।

'गढ़ कुण्डार' में चौदहवीं शती के बुन्देलखड के सामन्त-जीवन का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। कथानक का आधार ऐतिहासिक है किन्तु उसमें सञ्चरित होने वाली चेतना कलाकार की सृजनात्मक कल्पना का प्रतिफल है। बुन्देलों का जात्याभिमान, खगारो की जातिगत हीनता, वीरत्व की निरुद्देश्यता, भाई की प्रवञ्चना, आश्रयदाता का विश्वासघात, राष्ट्रीय-भावना का अभाव, गढ़कुण्डार में, इन सभी का चित्रण बड़ी सजीवता से किया गया है। कलाकार ने युद्ध की विभीषिका के भीतर प्रेम की स्निग्ध धारा भी प्रवाहित की है। वासनाजन्य विषम प्रेम—नागदेव और हेमवती—मानवीय सम प्रेम—अग्निदत्त और मानवती—तथा आदर्श सम प्रेम—तारा और दिवाकर—आदि प्रेम की सभी ऊँची-नीची भूमियाँ गढ़कुण्डार में देखी जा सकती हैं।

'विराटा की पद्मिनी' अधिक कलात्मक है। यह एक ऐतिहासिक रोमास है। लेखक ने ऐतिहासिक घटनाओं को नहीं, ऐतिहासिक वातावरण को सजीव किया है। अनेक कालों की घटनाये परस्पर सम्बद्ध करके एक साथ रख दी गई हैं। घटनायें इतिहास-प्रसिद्ध न होने पर भी लोक-परम्परा मे चलती रही हैं। ऐतिहासिक वातावरण उपस्थित करने में वर्मा जी को पूर्ण सफलता मिली है। मुगल शासन की निर्बलता, सामन्त राजाओं की स्वेच्छाचारिता, राजपूत राजाओं का विलास-जर्जर वीरत्व, नवाबों की लोलुपता, राजपूत नारियों का उत्सर्ग, दरबारियों की चालबाजी तथा जनता की स्वातन्त्र्यप्रियता, विराटा की पद्मिनी में, यह सभी कुछ साकार हो गया है। 'कुमद' का व्यक्तित्व तो बड़ा ही महिमामय है। प्रेम का सहज संयमित रूप उसके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता

। यह प्रेम जीवन में सक्रियता का सञ्चार करता है और बलिदान की प्रेरणा
ता है।

'मुसाहिब जू' भी ऐतिहासिक आधार पर लिखा गया है। उन्नीसवीं शती
प्रारम्भ तक अंग्रेजी सभ्यता अपना प्रभाव जमाने लगी थी। सामन्तशाही का
वसान हो रहा था। लेखक ने इसी समय के, दतिया राज के, एक मुसाहिब
लीपसिंह के विशिष्ट चरित्र का चित्रण किया है।

'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' विशुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। वर्मा जी ने
न् १६३२ से ही महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं की छान-
न प्रारम्भ कर दी थी। १६४६ ई० में यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। इस
कार इसके सृजन में लेखक को लगभग चौदह वर्ष तक लगा रहना पड़ा।
से लेखक ने चार भागों में विभक्त किया है। 'उषा के पूर्व', 'उदय', 'मध्याह्न'
र 'अस्त'। प्रथम भाग में झाँसी राज्य की स्थापना का वर्णन है। दूसरे में
नी का शैशव, विवाह, पुत्र की प्राप्ति और मृत्यु, दामोदरराव को गोद लेना,
जा की मृत्यु, अंग्रेजों की कूटनीति और दत्तक पुत्र की अस्वीकृति, रानी का
न्य संगठन, अंग्रेजो द्वारा झाँसी राज्य पर अधिकार आदि घटनाओं का विस्तृत
ल्लेख किया गया है। तीसरे भाग में रानी द्वारा देशव्यापी संगठन का प्रयत्न,
निकों में असन्तोष, सिपाही-विद्रोह; झाँसी में सैनिक विद्रोह, रानी का झाँसी
र अधिकार और दृढ़ शासन-व्यवस्था की स्थापना तथा अंग्रेजों का झाँसी-
भियान वर्णित है। चौथे भाग में, अंग्रेजो से युद्ध, रानी का वीरतापूर्ण पलायन,
ल्पी में पेशवा की सहायता से पुनः युद्ध और पराजय, ग्वालियर पर पेशवा
अधिकार और रानी के अन्तिम प्रयत्न तथा गौरवपूर्ण अवसान का चित्रण है।

इस उपन्यास का चित्रपट देशव्यापी और विस्तृत है। प्रथम बार वर्मा जी ने
देलखण्ड की परिचित भूमि से बाहर निकलकर देशव्यापी ऐतिहासिक वाता-
रण को सजीव किया है। 'रानी का शौर्य परिस्थितिजन्य था', वर्माजी ने
जों की इस भ्रान्त धारणा का सफलतापूर्वक निराकरण किया है। उन्होंने
िक ऐतिहासिक साक्ष्यों का उपयोग करते हुये स्पष्ट कर दिया है कि 'रानी
राज्य के लिये लड़ी थी, उसके विद्रोह के पीछे एक निश्चित देशव्यापी योजना
। रानी के व्यक्तित्व में भारत की अन्तरात्मा का जागरण सजग हो उठा था।'

घोर संघर्षों में भी दिव्य प्रेम की झलक दिखाना, वर्मा जी की कला की
विशेषता है। इस उपन्यास में भी मोतीबाई और खुदाबख्श, जूही और
स्पाटोने, मुन्दर और रघुनाथसिंह तथा नारायण शास्त्री और छोटी भंगिन
प्रेम की झलक बड़े कौशल से दिखाई गई है। यह प्रेम कहीं भी प्रेमी-युग्म
कर्तव्यच्युत नहीं करता वरन् उत्सर्ग की प्रेरणा देता है।

'कचनार' के विषय में वर्माजी ने स्वतः स्पष्ट किया है—'उपन्यास में वर्णित सब घटनायें सच्ची हैं। केवल समय और स्थान का फेर है।' इसका आधार भी ऐतिहासिक है। इसमें ह्रासोन्मुखी सामन्त व्यवस्था के चित्रण के साथ ही नारी मनोविज्ञान तथा बालोचित चेष्टाओं की सफल अभिव्यक्ति हुई है। लेखक ने मुगल-शासन के ह्रास तथा अँगरेजी राज्य की प्रतिष्ठा के पूर्व के सन्धि-युग में प्रबल हो उठने वाले धार्मिक सम्प्रदायों की ओर भी सकेत किया है। इस उपन्यास में वर्णित गोसाइयों का धार्मिक सम्प्रदाय, एक ऐसा ही प्रबल साम्प्रदायिक सगठन था जिसका प्रभाव तत्कालीन छोटे-बड़े सामन्तों पर भी था। उपन्यास का प्रबल आकर्षण कचनार का आदर्श चरित्र तथा दिव्य प्रेम है। दिलीप सिंह के प्रति मानसिंह का व्यवहार, मध्ययुगीन सामन्त-परिवारों की आदर्शच्युत पारिवारिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है। चरित्र-चित्रण एवं वातावरण निर्माण, दोनों दृष्टियों से, उपन्यास अच्छा बन पड़ा है।

'मृगनयनी' वर्माजी की उपन्यास-कला के चरम विकास की सूचना है। पन्द्रहवीं शती के अन्तिम चरण में ध्वस, बर्बरता तथा अराजकता ने जीवन की सृजनात्मक शक्तियों को कुण्ठित कर दिया था। वर्मा जी ने इस युग के जन-जीवन, सामन्त-जीवन तथा पुरोहित-पुजारी और मुल्ला-मौलवियों के जीवन की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। जन-जीवन धरती का जीवन है। जब वह पदाक्रान्त होती है तब वह कराह उठता है। जब वह (धरती) शस्यश्यामला होकर मुस्करा उठती है, तब वह गाने लगता है। उसके पर्व, त्योहार, विश्वास, सभी पूर्ववत् उससे जुड जाते है। 'राई' गाँव का चित्रण जन-जीवन के इसी स्वरूप की ओर संकेत करता है।

कलाकार ने तद्युगीन सामन्त-जीवन की अपूर्व झाँकी प्रस्तुत की है। मुसलमान सामन्तों के तीन प्रमुख वर्ग थे। एक अपनी शूरता और बर्बरता में दृढ था, दूसरा अर्थलोलुप था और तीसरा विलास में डूबा हुआ था। बघर्रा, सिकन्दर लोदी तथा गयासुद्दीन-नासिरुद्दीन क्रमशः इन्हीं तीनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं। हिन्दू-सामन्तों के दो वर्ग थे। एक वीर था किन्तु सकीर्ण। जात्यभिमान और बश-मर्यादा की रक्षा, यहीं तक इसके जीवन की सीमायें थीं। इसमें विवेक का अभाव था। राजसिंह, इसी वर्ग का प्रतिनिधि है। दूसरा वर्ग आदर्श सामन्त के रूप में उपस्थित किया गया है, जिसमें वीरत्व के साथ कर्त्तव्य-परायणता और कला-प्रेम भी है। मानसिंह इसी आदर्श राजपूत सामन्त का प्रतिनिधि है। राजपूत-नारी-जीवन अपनी सम्पूर्ण कोमलता में सिमटकर आत्मोत्सर्ग को जीवन का अन्तिम-लक्ष्य मान बैठा था।

जन और सामन्त जीवन, दोनों से समान रूप से सम्बन्धित पुजारी-पुरो-

हित गया मुल्ला-मौलवियों का जीवन था। मुल्ला-मौलवियों की धार्मिक दृष्टि संकीर्ण थी। हिन्दुओं के प्रति इनमें विद्वेष था। कलाओं के लिये इनके जीवनमें कोई स्थान न था। मुसलमान शासकों पर इनका बड़ा प्रभाव था। पुजारी-पुरोहित वर्ग की स्थिति इनसे भिन्न थी। युग-संक्रान्ति ने इन्हें वर्ग-व्यवस्था की रक्षा के लिये आवश्यकता से अधिक सतर्क कर दिया था। इस सतर्कता की परिणति आचारों और नियमों की कठोरता में हुई। सामाजिक गतिशीलता के साथ रखकर देखने से, निश्चय ही, यह पुरोहित-जीवन दुर्बल, संकीर्ण और प्रतिक्रियात्मक था, किन्तु व्यक्तिगत दृढ़ता और आत्मोत्सर्ग की इसमें कमी न थी। 'बोधन' का जीवन इसी सत्य का उदाहरण है। 'विजय जंगम' के व्यक्तित्व में कलाकार ने दक्षिण के लिंगायत शैव-सम्प्रदाय के विशुद्ध मानवता की भूमि पर प्रतिष्ठित जीवनादर्शों को मूर्त किया है।

वस्तुतः वर्मा जी ने इस उपन्यास में पन्द्रहवीं शती की युग-चेतना की पीठिका पर मृगनयनी के चेतन व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। युग की अराजकता, बर्बरता, ध्वंस, संकीर्णता, आत्मरति और वासना से ऊबकर बुन्देलखण्ड की भूमि विद्रोह करती है। उसकी पवनमालाओं की अपराजेय दृढ़ता, नदियों की तरलता और गतिमयता, धरातल की सभ्यता 'मृगनयनी' के रूप में साकार हो उठती है; जैसे ध्वंसों के बीच से सृजन की प्रेरणा फूट पड़ी हो। इसीलिये मृगनयनी के व्यक्तित्व में रक्षात्मक शौर्य तथा सृजनात्मक कला का समन्वित विकास होता है। इस व्यक्तित्व की उपलब्धि के लिये, युग की समस्त ध्वंसोन्मुख शक्तियाँ दौड़ पड़ती हैं। 'लाखी' और 'अटल' के रूप में बुन्देलखण्ड की भूमि अपनी दृढ़ता, सरलता तथा स्नेहमयता लेकर इस व्यक्तित्व की रक्षा में अपने को मिटा देती है। मानसिंह, जिसके शौर्य में रक्षा है, ध्वंस नहीं; जिसके स्वभाव में उदारता है, संकीर्णता नहीं; जिसकी भावना में सौंदर्यबोध है, वासना नहीं; और जिसके जीवन में प्रगति है, प्रतिक्रिया नहीं; मृगनयनी के व्यक्तित्व की उपलब्धि की पात्रता प्राप्त करता है। किंतु उसमें भी इस व्यक्तित्व को उपलब्ध कर सकने की क्षमता कदाचित् नहीं थी। अन्यथा, अन्ततक उपलब्धि के लिये सतत प्रयत्नशील रहने पर भी उसे यह प्रश्न न करना पड़ता—'कर्तव्य वाले अंग में अब कौन-सी कसर रह गई है, देवी?' और उस देवी को यह उत्तर न देना पड़ता—'प्रजा के सुख की, देश की स्वाधीनता की।'

वर्मा जी के इस उपन्यास पर विचार करते हुये कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है 'उपन्यासकार वर्मा जी ने सामन्ती संस्कृति के एक ऐसे मोहक राग को अलापन का प्रयत्न किया है जो पाठक को व्यामोह में डाल सकता है अवश्य?' वर्मा जी ने अपने नवीन उपन्यास 'अमरबेल' में इसका उत्तर दिया है। 'अमरबेल'

के दो पात्रों—'टहल' और 'सनेही'—के माध्यम से वर्माजी ने यह विवाद प्रस्तुत किया है। 'टहल' कुछ प्रगतिशील विचारों का है। वह घायल होकर अस्पताल में पड़ा है। 'सनेही' डाक्टर है। वह टहल को मन-बहलाव के लिये एक उपन्यास पढ़ने को देता है। टहल का मन नहीं लगता और वह उपन्यास रख देता है। 'सनेही' स्वयं उसे कहानी सुना देता है। कहानी सुनकर 'टहल' कहता है—'है न इसमें सामन्तवाद की उपासना और पुनरुद्धार की भावना?' विवाद में भाग लेता हुआ 'सनेही' पूछता है 'तुम उस काल में उस राजा की जगह होते तो क्या करते?' 'टहल' उत्तर देता है, 'वही करता जो उसने किया।' इसके बाद 'सनेही' फिर प्रश्न करता है—'और उस घटना का हाल अपनी कल्पना द्वारा वर्तमान का कोई लेखक लिखता तो आज तुम्हें कैसा लगता?' सम्भवतः वर्माजी को प्रगतिवादी आलोचकों से इतना ही कहना है।

'टूटे कांटे' आपका नवीनतम प्रकाशन है। कथानक का सम्बन्ध मुहम्मद-शाह 'रंगीले' के शासनकाल से है। स्वयं लेखक की दृष्टि में 'तत्कालीन भारत का इतिहास अंग्रेजों की दृढ़ कूटनीति और नवीन शस्त्रों से, मराठा, जाट किसानों के हलों की नोकों और सरदारों के घोड़ों की टापों से, तथा सिक्खों की तलवारों और मुगल-सम्राट् की बोतलों से लिखा जा रहा था।' लेखक ने इस ऐतिहासिक गतिविधि का सुन्दर चित्रण किया है। उपन्यास का नायक, फतेहपुर सीकरी के परकोटे के बाहर, समीप ही रहने वाला एक साधारण जाट किसान-सिपाही मोहनलाल है। नायिका, एक भारतीय नर्तकी 'नूरबाई' है। मुहम्मद शाह के मीर बख्शी सादतखाँ की उसपर विशेष कृपा है। मुहम्मदशाह के एक विशेष फरमान से 'नूरबाई' को शाही दरबार में जाना पड़ा। 'नूरबाई' का यह अपहरण, सादत खाँ को 'टूटे कांटों' की तरह चुभता रहा। इसी घटना के आधार पर उपन्यास का नाम 'टूटे कांटे' रखा गया है। नूरबाई में रूप और कला दोनों का सुन्दरतम सामञ्जस्य था। नादिरशाह के आक्रमण के समय, मुहम्मदशाह ने, उसकी बर्बरता से त्राण पाने के लिये, नूरबाई को नादिरशाह की सेवा में भेंट कर दिया। सादतखाँ ने नूरबाई के वियोग से पीड़ित होकर आत्मघात कर लिया। 'नूरबाई' ने नादिरशाह के साथ न जाने का निश्चय किया। मोहनलाल की सहायता से अनेक कठिनाइयों के बाद नूरबाई अपने को मुक्त कर सकी। नूरबाई का परिचय सूरदास, नन्ददास और रसखान के भावमय पदों से भी था। वासनामय जीवन से मुक्ति पाने पर उसकी जीवन-धारा बदल गई। मोहनलाल में, भुवनमोहन मुरलीधर की कल्पना करती हुई उसने अपने को साक्षात् राधा-भाव से भावित कर लिया। उपन्यास के उत्तरार्द्ध का सम्पूर्ण भाग नूरबाई के जीवन में राधा-भाव का विकास दिखाने में लग गया है। इस व्यक्तित्व के

राजनीति में दिलचस्पी लेनेवाला युवक है। कुन्ती उससे संगीत सीखती है। दोनों एक दूसरे के प्रति आकर्षित हैं। कुन्ती की सगाई सुधाकर से हो जाती है। जानकर भी वह प्रतिवाद नहीं करती। वह अपने माता-पिता का अपमान नहीं कर सकती थी, दूसरे उसे 'अचल' की गहराई का पता भी न था। सुधाकर बाह्य सौंदर्य का प्रेमी है। कुछ दिन कुन्ती उसके साथ जीवन की रंगीनियों में थिरकती रही। अचल ने विधवा 'निशा' से ब्याह कर लिया। 'कुन्ती' 'अचल' के यहाँ अब भी आती जाती थी। उसी की प्रेरणा से अचल यह ब्याह कर सका था। 'सुधाकर' को 'कुन्ती' की यह स्वच्छन्द वृत्ति खटकने लगी। दोनों में मनमुटाव हो गया। अन्ततः कुन्ती ने आत्महत्या कर ली। पुरुष, नारी से पूर्ण समर्पण चाहता है। आज की शिक्षित नारी के लिये यह सम्भव नहीं। कलाकार ने इसी समस्या की ओर संकेत किया है।

'अमरबेल' वर्मा जी का काफी बड़ा सामाजिक उपन्यास है। इसकी पट-भूमि भी वर्मा जी के अन्य सभी सामाजिक उपन्यासों से विस्तृत है। आज, स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी, हमारी जीवन-दृष्टि स्पष्ट नहीं हो पा रही है। बड़े-बड़े रजवाड़े तथा साधारण जमींदार राज्य और जमींदारी के चले जाने पर अनेक अवैध तरीकों से धन-संग्रह कर रहे हैं। शिक्षित युवतियाँ, कला के उद्धार के नाम पर, सरकारी कर्मचारियों को उल्लू बनाती हुई, चोरबाजारी कर रही हैं। सरकार, ग्राम पञ्चायतों तथा सहकारी समितियों की स्थापना द्वारा जन-कल्याण में रत है। अपढ़ जनता प्रत्येक सरकारी योजना को अविश्वास और सन्देह की दृष्टि से देखती है। उसकी स्वार्थ-भावना में किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया है। सरकारी कर्मचारी, समाज की सभी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का हल सरकार की ओर से चलाई जाने वाली योजनाओं तथा सहकारिता के सिद्धान्तों में ही देखते हैं। गाँवों में गरीबों का शोषण ज्यों का त्यों चल रहा है। पुराने जमींदार, रूप बदल कर जनता के सेवक तथा सरकार के कृपापात्र दोनों बनना चाहते हैं। उनकी आन्तरिक धनलोलुपता, स्वार्थ बुद्धि, विलास-प्रियता तथा शोषण-वृत्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। राज-नैतिक दलबन्दी गाँवों में भी पनपने लगी है। सरकारी न्यायालयों में न्याय का ढोंग रचा जाता है। अनीतिपूर्ण ढंग से धन-संग्रह की प्रवृत्ति को उपन्यासकार ने 'अमरबेल' का प्रतीक माना है। अमरबेल जिस वृक्ष पर छा जाती है, उसे चूस-कर स्वयं हरी रहती है। समाज में दूसरों को चूसकर स्वयं हरे होनेवालों की कमी नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास का कथासूत्र इन्हीं वर्तमान सामाजिक सत्यों के आधार पर संगठित हुआ है। 'बाघराज' और 'देशराज' अफीम का अवैध रोज-गार करते हैं। 'अफ्सर' [illegible]

'बाघराज', बाजीसिंह की सहायता से डाका भी डलवाता है। 'रामरतन', कर्मठ सरकारी कर्मचारी है। उसकी दृष्टि में 'सहकारी सिद्धान्त ही भारतीय समाज की अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का हल है।' 'सनेही', सच्ची सेवा-भावना से प्रेरित आदर्शवादी डाक्टर है। 'टहल', प्रगतिशील विचारों का सीधा-सादा अध्यापक है। धरनीधर, घाटीवाली, कालिन्दा कुञ्जीलाल, सभी किसी न *किसी रूप में जनता को चूसने वाले हैं। ये समाज की ऐसी अमरबेलें हैं जो* दिखाई भी नहीं पड़तीं। आदर्श की दृष्टि से 'सनेही' और 'राजदुलारी' के व्यक्तित्व अधिक महिमामय हैं। 'टहल' और 'हरको' को परिणय-सूत्र में बाँध कर उपन्यासकार ने प्रगतिशील वैवाहिक सम्बन्ध का समर्थन किया है। 'अञ्जना' और 'देवराज' का प्रेम वासनाजन्य एवं स्वार्थबुद्धि से प्रेरित है।

वर्मा जी ने इस उपन्यास के अन्त में अपना जीवन विषयक दृष्टिकोण भी स्पष्ट कर दिया है। उन्होंने अहिंसावादी 'सनेही' तथा प्रगतिशील 'टहल' के *सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित किया है।* सनेही स्वीकार करता है 'अध्यात्म के विकास के लिये विज्ञान की सहायता अत्यन्त आवश्यक है, अनिवार्य है।' साथ ही टहल भी स्वेच्छा से योग देता है 'और विज्ञान को अध्यात्म के निर्देशन की।' कलाकार इन्हीं दोनों के समन्वित विकास के आधार पर नये समाज की रचना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक प्राणी यह अनुभव करे कि—

'समानी प्रपा सह वो अन्न भागा, सह नौ भुनक्तु'

वर्मा जी के उपन्यासों में कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें हैं जो बरबस हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों में लक्ष्य किया जा सकता है।

उपन्यास कला की सामान्य विशेषतायें

(क) *वर्मा जी के प्रत्येक उपन्यास का आधार कोई न कोई घटना होती है, जो स्वयं अपने में बड़ी आकर्षक होती है।*

(ख) वर्मा जी को रोमान्स प्रिय है। अतः प्रायः सभी उपन्यासों में इसकी स्थिति देखी जा सकती है। ऐतिहासिक रोमान्स तो आपको बहुत ही प्रिय है।

(ग) वर्मा जी में वातावरण के निर्माण की अद्भुत क्षमता है। विशेषतः मध्ययुगीन ऐतिहासिक वातावरण को सजीव करने में आपकी समता का अन्य कोई कलाकार नहीं।

(घ) *ऐतिहासिक उपन्यासों में, भौगोलिक ज्ञान की पूर्णता तथा ऐतिहासिक* सामग्री की सत्यता दोनों देखी जा सकती हैं।

(ङ) पात्रों की चरित्रगत विशेषतायें, जो प्रारम्भ में आती हैं, उन्हीं का प्रत्येक परिस्थिति में विकास दिखाना, वर्मा जी के चरित्र-चित्रण की विशेषता है।

(च) नायिकाओं के व्यक्तित्व संगठन में वर्मा जी अधिक रुचि लेते हैं। इनकी नायिकायें सौंदर्य, कोमलता, भावुकता के साथ-साथ साहस, शक्ति और त्याग की मूर्ति होती हैं। कर्तव्य की कठोरता में वे अपने प्रणय की कोमलता को उसी प्रकार छिपाये रखती हैं जिस प्रकार पलकें पुतलियों को।

(छ) शृंगार और वीर रस का सामञ्जस्य, प्रायः आपके उपन्यासों में देखा जाता है।

(ज) वर्मा जी की चित्रण-कला पूर्ण विकसित हो चुकी है। प्रकृति के कोमल मोहक एवं भयंकर चित्रों के साथ ही, घटनाओं, पात्रों और मनोभावों का चित्रण भी, आप बहुत सुन्दर करते हैं।

(झ) वर्मा जी ललित कलाओं के प्रेमी हैं। उनका कला-प्रेम कई उपन्यासों में स्पष्ट लक्ष्य किया जा सकता है।

(ञ) वर्मा जी 'कला के लिये कला' को एक सुन्दर वाक्य मात्र मानते हैं। बिना किसी प्रेरणा और उद्देश्य के आप कला की स्थिति स्वीकार नहीं करते। आपके उपन्यास कोरी कला के प्रदर्शन के लिये नहीं लिखे गये हैं। बुन्देलखंड की मुक्त प्रकृति आपकी प्रेरणा का मूल स्रोत है। इसीलिये आप ऐतिहासिक रोमांस बहुत पसन्द करते हैं।

(त) बुन्देलखंड के जीवन को मूर्त करने में आपने प्रायः बुन्देलखंडी शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग किया है। ये प्रयोग आपके उपन्यासों की भाषा-सम्बन्धी विशेषता बन गये हैं। बुन्देलखंड के जन-जीवन, इतिहास, भूगोल तथा भाषा का सच्चा प्रतिनिधित्व करने के कारण आपको बुन्देलखंड का उपन्यासकार कहा जा सकता है।

(थ) वर्मा जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में भाषा सम्बन्धी त्रुटियाँ भी पाई जाती थीं, किन्तु क्रमशः उनकी भाषा प्रौढ़, सशक्त तथा परिमार्जित होती गई है और अब उसमें संयम, सरलता तथा चित्रण-क्षमता के साथ ही अलंकरण की प्रवृत्ति भी आ गई है।

(द) वर्मा जी के उपन्यासों को समाप्त कर लेने पर भी उनका मोहक प्रभाव हमारे हृदय को अभिभूत किये रहता है; उनके अनेक घटना-चित्र मानस-पटल पर अंकित रह जाते हैं; अनेक पात्रों का व्यक्तित्व हमारी चेतना को तरंगित करता रहता है और हम वर्मा जी के साथ गुनगुना उठते हैं—

मलिनियाँ, फुलवा ल्याओ नन्दन बन के,
बिन-बिन फुलवा लगाई बड़ी रास,
उड़ गये फुलवा रह गई बास।

—:o—

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी-साहित्य के विख्यात कृती हैं। अन्वेषक, हास-लेखक, आलोचक, निबन्ध-लेखक तथा उपन्यासकार के अतिरिक्त आप वक्ता और सफल अध्यापक भी हैं। उनके अध्ययन की विशालता के भीत सभी व्यक्तित्व निर्बन्ध होकर स्फुटित हुये हैं। *आज का कोई अन्य ग* व्यक्तित्व के इस बहुमुखी विकास का दावेदार नहीं है।

द्विवेदीजी को सर्वाधिक मान्यता आलोचना के क्षेत्र में मिली है यद्यपि उ अन्वेषक और निबन्धकार का व्यक्तित्व कम महिमामय नहीं है। आलोच रूप में आपने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों प्रकार की आलोचनायें प्र की हैं। *'साहित्य का मर्म' आपकी समीक्षा-पद्धति के सैद्धान्तिक स्वरूप को* र करता है। 'कबीर', 'सूर' तथा मध्ययुग के अन्य व्यक्तित्वों के मूल्यांकन में आ व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति के दर्शन होते हैं।

काव्य और साहित्य के स्वरूप के विषय में आपके सिद्धान्त घूम-फिरकर । रूप में प्रकट हुये हैं—

"एकत्व की अनुभूति ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है। यही मनुष्यता ज उच्छलित हो उठती है, उसका आनन्द जब अन्तर को पूर्ण रूप से भर कर बाह प्रकाशित हो उठता है तभी काव्य बनता है और काव्य ही जब तथ्य-जगत् ' विभिन्न उपादानों का आश्रय लेता है तो अन्यान्य साहित्यांगों के रूप में प्र *होता है। साहित्य, वस्तुतः मनुष्य का वह उच्छलित आनन्द है जो उसके अन्त में अँटाये नहीं अँट सका था।*"[1]

'काव्य' और 'विज्ञान' को आप एक ही मानवीय चेतना के दो किनारों की उपज मानते हैं। एक ही चेतना के परिणाम होने के कारण ये विरोधी नहीं हैं। इनके मूल्यांकन की कसौटी भी एक ही होनी चाहिये। और यह कसौटी मनुष्यता है क्योंकि यही जीव-तत्त्व की अन्तिम परिणति है। मनुष्य रूपी पुरुष ही—अर्थात् पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठा हुआ मनुष्यत्व धर्मी जीव ही—सृष्टि की सबसे बड़ी साधना है। अतः तथ्य-जगत् के विभिन्न स्थूल उपादानों का आश्रय लेकर विकसित मानव-चेतना, जो ज्ञान, विज्ञान, काव्य, कला आदि अनेक रूपों में स्फुटित हुई है—का उचित मूल्यांकन केवल 'मनुष्यता' के मानदण्ड से ही सम्भव है। अन्य सभी मानदण्ड छोटे पड़ेंगे।

---

१. ज्ञानशिखा, संख्या १. अक्टूबर-१९५१, पृ० १४

मनुष्य की चरम मनुष्यता—'एकत्व'—की अनुभूति समवेदना के आधार पर ही सम्भव है। समवेदना एक अपूर्व द्रावक रस है जो हमें दूसरों के लिये आत्म-बलि देना सिखाता है। यही समवेदना ललित कलाओं का प्राण है। इसी समवेदना के विस्तार से हम संसार की नाना ज्ञानधाराओं की बाहरी विरोध मूलक स्थिति को भेदकर उनके मूल में मानव-चेतना का अखंड विलास देख सकते हैं। अतएव ज्ञान-धाराओं को उनकी अखंडता में ग्रहण करने के लिये, साहित्य को उसकी पूर्णता में अनुभूत करने के लिये, हमें काव्य, धर्म, दर्शन, ज्योतिष, विज्ञान, इतिहास आदि सभी कुछ देखना होगा। मनुष्य-जीवन का अखड प्रवाह इन्ही के माध्यम से प्रवाहित हुआ है; और साहित्य का इतिहास वस्तुत. मनुष्य-जीवन के अखंड प्रवाह का इतिहास है।

मान्यता

द्विवेदीजी की इस मान्यता के मूल में वस्तुतः सन्तों का अखंड जीवन-दर्शन है। जीवन की ऊपरी पर्तों को खुरचकर कबीर की दृष्टि भी अखड मानवता तक पहुँची थी। बंगाल के बाउल सन्तों की 'मनेर मानुष' की अवधारणा भी इससे बहुत भिन्न नहीं। अपने को 'महाएक' को समर्पण कर 'एकत्व' की उपलब्धि सम्बन्धी द्विवेदीजी की मान्यता के भीतर भी रवीन्द्र की 'व्यक्तिगत मानव' और 'शाश्वत मानव' एवं इनकी भावनात्मक तद्रूपता झाँकती हुई दिखलाई पड़ती है। द्विवेदीजी की महत्ता इस मान्यता की उपलब्धि में नहीं उसकी व्याप्ति में है। 'महामानव', 'महाएक', या 'शाश्वत मानव' में 'मानव', 'एक' या 'व्यक्तिगत मानव' के निलय की साधना अभी तक व्यक्तिगत रूप से या साम्प्रदायिक रूप से होती आई थी। द्विवेदीजी बलपूर्वक कहते हैं—"परन्तु 'महाएक' की साधना के लिये समूचे समाज का प्रयत्न होना चाहिये। जब तक यह साधना नहीं होती तब तक वह सिद्धि भी नहीं मिलने की जिसके बिना संसार में मार-काट, नोच-खसोट, झगड़े-टटे, युद्ध-अकाल बढ़ते जा रहे हैं, और मनुष्य के नखदन्त नाना भाँति के मरणास्त्रों के रूप में प्रकट होते रहेंगे।"[१]

द्विवेदीजी 'शब्द' और 'अर्थ' को सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक मानते हैं। इस दृष्टि से साहित्य मनुष्य के सामाजिक रूप की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाली विद्या है। समाज से पृथक् उसकी कोई स्थिति नहीं। मनुष्य को सामाजिक रूप में 'महाएक' की साधना का प्रयत्न करना चाहिये। अतः साहित्य को इस साधना के प्रयत्न की व्याख्या करनी चाहिये। द्विवेदीजी ने अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में इसी व्याख्या का इतिहास प्रस्तुत किया है।

---

१. 'ज्ञानशिखा', अक्टूबर १९५१, पृष्ठ १४

इसीलिये हिन्दी साहित्य के इतिहास-निर्माण में आप मध्ययुग की समस्त
ृतिक चेतना का आधार—जैन और बौद्ध अपभ्रंश-साहित्य, काश्मीर का
साहित्य, सन्त-साहित्य, नाथ-साहित्य, वैष्णव-आगम, पुराण, निबन्ध-ग्रंथ, पूर्व
भारत बौद्ध वैष्णवों का साहित्य, विविध लौकिक कथाओं का साहित्य—अनि-
मानते हैं। हिन्दी साहित्य के माध्यम से पिछले सहस्र वर्षों की मानव-चेतना
लक्षित पाती रही है। अतः इस चेतना की उपलब्धि के लिये, वास्तविक
ास निर्माण के लिये, मानव के सभी प्रयत्नों की परख करनी होगी। द्विवेदी-
इसी दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।
-साहित्य की भूमिका' और 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' इसी आदर्श की
रचते हैं।

ाथ-सम्प्रदाय' में द्विवेदीजी का अन्वेषक अपनी सम्पूर्ण तटस्थता, सतर्कता
ानुसंधित्सा के साथ प्रकट हुआ है। नाथ-सम्प्रदाय का विस्तार, पुराने
मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, कौलमत, जालन्धरनाथ और कृष्णपाद कापालिक
ाड-प्रमाण, पातञ्जल योग तथा परवर्ती सिद्ध-सम्प्रदाय आदि शीर्षकों के
नाथ-सम्प्रदाय सम्बन्धी बिखरे तथ्यों को एकत्र किया गया है। लोक-
ों सम्प्रदाय के नैतिक उद्देश्यों का अध्ययन करते समय द्विवेदीजी का
ा इतिहास-लेखक सामने आ गया है। समूची पुस्तक तथ्यों, सूचनाओं,
, संकेतों, अनुमानों और दार्शनिक अध्ययनों से भरी हुई है; इसलिये
की सहृदयता अन्य ग्रंथों की भाँति इसमें उच्छलित नहीं हो पाई है।
तन और अध्ययन गाम्भीर्य के अतिरिक्त द्विवेदीजी की तटस्थता भी
पूर्ण ग्रन्थ की एक विशेषता है।

ाभट्ट की आत्मकथा' में आपका उपन्यास-लेखक का व्यक्तित्व व्यक्त
हिन्दी में यह कथा एक अभिनव प्रयोग है। बाणभट्ट की कृतियों तथा
अन्य साहित्य-ग्रन्थों के आधार पर बाणभट्ट के व्यक्तित्व की सृष्टि तथा
व्यक्तित्व में समाहार करके द्विवेदीजी ने अद्भुत कारयित्री प्रतिभा का
या है। वस्तुतः यह पुस्तक भी बाणभट्टयुगीन सामाजिक चेतना का
है। इस अध्ययन को पूर्ण बनाने के लिये लेखक ने 'कादम्बरी',
'रत्नावली', 'मेघदूत', 'मालती-माधव', 'वात्स्यायन का कामसूत्र',
ित', 'भागवत', 'रघुवंश', 'वृहत्संहिता', 'चण्डी शतक' आदि अनेक
रिलक्षित चेतना-सूत्रों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया है। यह व्यक्ति
था नहीं युग विशेष की सामाजिक चेतना का एक महिमामय व्यक्तित्व
है।

लेखक के रूप में द्विवेदीजी की निर्बन्ध लेखनशैली, बहुज्ञता, दृष्टि-

व्यापकता तथा जीवन में आनेवाली छोटी-छोटी घटनाओं के प्रति सम्वेदनात्मक अनुभूति का परिचय मिलता है। इन निबन्धों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः लेखक की सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास सम्बन्धी जिज्ञासा ही अनेक रूपों और विषयों का आधार लेकर प्रकट हुई है। 'नाखून क्यों बढ़ते हैं ?' इस सरल जिज्ञासा पर विचार करते-करते लेखक पशुता और मनुष्यता के मूल्य पर विचार करने लगता है। 'आम फिर बौरा गये' की चर्चा करते हुये वह कालिदास के युग-जीवन की चर्चा करने लगता है। 'उन दिनों भारतीय लोगों का हृदय अधिक संवेदनशील था। वे सुन्दर का सम्मान करना जानते थे। गृह-देवियाँ इस लाल-हरे-पीले आम्र कोरक को देखकर आनन्द विह्वल हो जाती थीं' आदि साथ ही आप यह भी कहना नहीं भूलते कि 'आज हमारा संवेदन भोथा हो गया है।' 'ठाकुरजी की बटोर' में ठाकुरजी के प्रति लोगों की उदासीनता की बात सोचते-सोचते आपके कल्पना-जगत में सारा प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक रंगमञ्च और उस पर होनेवाले अनेक परिवर्तन सजीव हो उठते हैं और फिर लेखक वर्तमान जीवन की समस्याओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुये कहता है 'इस मामूली-सी ठाकुरबारी की समस्या भी सारे विश्व की समस्या के साथ जटिल भाव से उलझी हुई है; उसको विच्छिन्न भाव से सुलझाया नहीं जा सकता।' वस्तुतः द्विवेदीजी के समस्त निबन्ध-साहित्य में भारतीय सामाजिक चेतना की धारा प्रवाहित होती हुई लक्ष्य की जा सकती है। साधारण पाठक ऊपरी किन्तु मोहक, रमणीय और आत्मीयता से भरी हुई बातों में इस प्रकार मुग्ध हो जाता है कि गहराई में प्रवेश ही नहीं कर पाता। 'प्राचीन भारत के कला-विनोद' की रचना का भी यही मूल रहस्य है। केवल मनोरञ्जन के लिये उनकी कोई कृति नहीं लिखी गई है। हाँ, लिखते समय लेखक अवश्य आनन्द से अपने अन्तर को भरे रहता है और यह आनन्द उच्छलित होकर पाठकों का भी रञ्जन कर दे तो बात दूसरी है।

द्विवेदीजी ने साहित्य और भाषा की समस्याओं को लेकर भी कम नहीं लिखा है। 'साहित्य का प्रयोजन लोक-कल्याण', 'साहित्य के नये मूल्य', 'साहित्य की नई मान्यतायें', 'हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध', 'प्राचीन और मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का अनुशीलन', 'लोक-साहित्य का अध्ययन', 'लोक-साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता', 'साहित्य में लोक-प्रचलित काव्य-रूपों का प्रवेश', 'साहित्य में व्यक्ति और समष्टि' आदि निबन्ध साहित्य के स्वरूप और समस्याओं को लेकर ही लिखे गये हैं। इसी प्रकार 'हिन्दी तथा अन्य भाषायें', 'सहज भाषा का प्रश्न', 'हिन्दी की शक्ति', 'हिन्दी-प्रचार की समस्या' आदि निबन्ध भाषा की समस्याओं से सम्बद्ध हैं। इन समस्याओं पर विचार करते समय आपकी

लेखक ने समानान्तर अन्य भाषाओं के शब्द उद्धृत कर दिये हैं या अभिव्यक्ति-प्रवाह में अन्य भाषाओं के शब्द स्वतः आ गये हैं। अतः इनकी उपस्थिति खटकती नही।

आपके निबन्धों में 'इतिवृत्तात्मकता', 'वर्णनात्मकता', 'भावात्मकता' 'व्यंग्यात्मकता', 'प्रशंसात्मकता', 'वक्तृतात्मकता' तथा वार्तालाप आदि कई शैली-रूप मिल जाते हैं। आपकी वर्णनात्मक शैली पर कादम्बरी का अद्भुत प्रभाव है। एक ओर तो आप सीधी, सरल, घरेलू बोल-चाल में इक्केवाले की भाषा—"बाबूजी, गंगा-मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना पड़ेगा। 'बहुत अच्छा'—कहकर मैंने अनुरोध पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा-मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहिले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आस-पास के गाँवों के धनी-दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं—"[1] का प्रयोग कर सकते हैं तो ठीक उसी जगह गुप्त-काल की ललनाओं की याद आने पर बाणभट्ट का स्थान ग्रहण कर लेते हैं—

"और अन्त में याद आई गुप्त-काल की ललनायें जिनके वदन-चन्द्र के लोध्र-रेणु से नित्य गंगा का जल पाडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चञ्चल लीला-विलास से बाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गण्डूप जल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणालखण्ड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को सम्भावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिये सैकतचारी हंस मिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध हो रहते होंगे।"[2]

गांधी के निधन पर लेखक की भावनायें जैसे झङ्कृत हो उठी थीं। उसकी सम्वेदना जैसे फूट पड़ी थी—"इतिहास ने इतनी क्षीण-काया में इतना बड़ा प्राण नहीं देखा था; मनुष्यता ने इतना बड़ा विजयोल्लास कभी अनुभव नहीं किया था। वह हँसता हुआ आया, रुलाता हुआ चला गया। तपस्या का शुभ्र हिमालय गल गया, सारा संसार उस शीतल वारिधारा से आर्द्र है। संसार के इस कोने से उस कोने तक एक ही मर्मभेदी आवाज आ रही है—वह चला गया, गांधी चला गया!!"[3]

आवेश में आने पर आपकी शैली प्रशंसात्मक हो जाती है—"धन्य है वह देश, जिसने गांधी को पैदा किया; धन्य है वह भूमि, जिसने गांधी को धारण किया; धन्य है वह जन समाज, जिसके लिये उसने अपने को निःशेष भाव से दे दिया।"[4]

---

१. विचार और वितर्क, पृष्ठ ११७
२. विचार और वितर्क, पृष्ठ ११७
३. कल्पलता पृष्ठ १०२
४. कल्पलता पृष्ठ १०५

द्विवेदीजी एक कुशल वक्ता हैं। अतः उनके निबन्धों में वक्तृतात्मक शै का प्रभाव भी कम नहीं है। निबन्ध लिखते लिखते आपकी मनःस्थिति भावों का रूप व्याख्यान बनकर खड़ा हो जाता है और आप भाषण दे लगते हैं—

"मित्रो! हम जो यहाँ आज एकत्र हुए हैं, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि ह हिन्दी को किसी प्रतिष्ठित पद पर बिठावें, बल्कि इसलिये कि वह जिस प्रतिष्ठि पद पर पहले से ही आसीन है, उसके योग्य बनने में जो त्रुटियाँ रह गई हैं उन्हें सुधारें।"

निबन्धों के बीच में कभी-कभी पाठक को गुदगुदाने के लिये और कभी-कभ स्वतन्त्र रूप से साहित्य की किसी प्रवृत्ति-विशेष पर आप बड़ा ही सुन्दर व्यंग करते हैं। 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है?' शीर्षक निबन्ध में आप कुछ आलो चकों पर व्यंग्य करते हुये लिखते हैं—

"मैं निश्चित जानता हूँ कि रहस्यवादी आलोचना लिखना कुछ हँसी खेल नहीं है। 'पुस्तक को छुआ तक नहीं और आलोचना ऐसी लिखी कि त्रैलोक्य विकम्पित'—यह क्या कम साधना है।"

आपकी वार्तालाप-शैली का सुन्दर नमूना 'साहित्य का नया कदम' शीर्षक निबन्ध है। इसमें पुस्तकालय के अध्यक्ष (पंडितजी), नवीन साहित्यिक (बलराज और मोहनलाल) तथा वृद्ध साहित्यिक (रत्नाकरजी) में वार्तालाप कराते हुये साहित्य की नवीन गतिविधि पर विचार किया गया है।

भाषा में प्रभावात्मकता लाने के लिये द्विवेदीजी विरोधी प्रवृत्तियों को तुलनात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं। सभ्यता के आरंभ में पुरुष-स्त्री की स्थिति पर टिप्पणी करते हुये आप लिखते हैं—

"पुरुष निरर्गल था, स्त्री सुशृंखल। पुरुष का पौरुष प्रतिद्वन्द्वी के पछाड़ने में व्यक्त होता था, स्त्री का स्त्रीत्व प्रतिवेशिनी की सहायता में। एक प्रतिद्वन्द्विता में बढ़ा, दूसरी सहयोगिता में।"[1]

आपकी शैली की बहुत बड़ी विशेषता उसकी आत्मीयता है। पाठकों से आप सीधा सम्बन्ध बनाये रखते हैं। कभी अपने बारे में कुछ कहने लगते हैं, कभी उन्हें आश्वस्त करते हैं, कभी उनका प्रसादन करते हैं और कभी उन्हें साथ लेकर चलते हैं। कदाचित् सोचते समय भी आप पाठक-समाज से अपने को अलग नहीं कर पाते इसीलिये गम्भीर बातों को भी सामाजिक रूप देकर प्रकट करते हैं। 'सुरा' और 'स्वधा', 'नमाज' और 'नमस', 'जादूगर' और 'यातुधान' की तुलना

---

१. कल्पलता, पृष्ठ ३७

दिखाते समय आप ध्वनि-नियमों की जटिलता अपने और पाठक के बीच में नहीं लाते। उसे सहज ढंग से कह जाते है।

द्विवेदीजी के सभी निबन्धों को अंग्रेजी के वैयक्तिक निबन्धों (Personal Essays) की कोटि में नहीं रख सकते। अंग्रेजी के ये निबन्ध बड़ी ही हल्की मानसिक भूमि की उपज होते हैं। द्विवेदीजी के निबन्धों में प्रसादन की शक्ति होते हुये भी वे हल्की मानसिक भूमि की उपज नहीं है।

वस्तुतः द्विवेदीजी सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के इतिहास-लेखक हैं। उनका यह रूप निबन्धों में अधिक स्पष्ट हुआ है। इसलिये अगली पीढ़ियाँ उन्हें आलोचक से अधिक निबन्ध-लेखक के रूप में स्मरण करेंगी।

बाबू गुलाबराय

बाबू गुलाबराय आलोचक और निबन्ध-लेखक के रूप में स्मरण किये ज
हैं। 'हिन्दी-नाट्य-विमर्श', 'नवरस', 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रू
आपकी सैद्धान्तिक समीक्षा सम्बन्धी कृतियाँ हैं। 'हिन्दी-काव्य-विमर्श', 'प्रस
की कला' और 'हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास' इन कृतियों में आप
व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप देखा जा सकता है। 'प्रबन्ध प्रभाकर' के अधिकां
निबन्ध हिन्दी-कवियों तथा अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों पर लिखे गये हैं। अ
इसमें भी गुलाबरायजी की व्यावहारिक समीक्षा-पद्धति का स्वरूप ही लक्षि
होता है।

बाबूजी ने स्वयं अपने विषय में बताया है, "मेरा दृष्टिकोण सर्वः
और इसीलिये आलोचना में भी समन्वयवादी है। काव्य-कला और साहित्यांगों के
विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा
'काव्य के रूप' में परिभाषायें देने में मैंने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय
करके ही अपनी परिभाषायें दी हैं।"[1] 'सिद्धान्त और अध्ययन' में भी आपने लिखा
है 'हमारे प्राचीन साहित्य में 'धर्म' के आध्यात्मिक मूल्यों, 'अर्थ' के भौतिक मूल्यों
और 'काम' के सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्यों (Aesthetic values) का समन्वय जीवन
का चरम लक्ष्य माना गया है। × × × साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्री-
करण है, विभाजन नहीं। आर्यों का आदर्श भी यही है।'[2]

शास्त्रीय दृष्टि से आप 'रसवादी' आलोचक हैं किन्तु न तो आचार्य शुक्ल
की भाँति आपकी रस-सम्बन्धी मान्यता 'शिवता' के आग्रह से दबी है और न
पं० नन्ददुलारे वाजपेयी की भाँति 'सौंदर्यबोध' को ही प्राधान्य देती है। उसमें
सत्य, शिव और सौंदर्य तीनों का समन्वित आग्रह है। इसी समन्वयवादी दृष्टि-
कोण के कारण आप अतिवादी मान्यताओं से दूर रहे हैं। इसीलिये आचार्य शुक्ल
की क्रोचे सम्बन्धी आलोचना तथा बाबू श्यामसुन्दरदास की मधुमती भूमिका
सम्बन्धी अवधारणा, दोनों को आप स्वीकार न कर सके। साथ ही आप प्रगतिवादी
आलोचना की उपेक्षा भी न कर सके। आपने स्वीकार किया "प्रगतिवादी आलो-
चना की सबसे बड़ी देन यह है कि उसने आलोचना में जीवन के साथ सम्पर्क
के मूल्य की ओर ध्यान आकर्षित किया।"

---

१. 'आलोचना' विशेषांक—पृ० १०७

२. सिद्धान्त और अध्ययन—पृ० २५६-५७

वस्तुतः दर्शन के विद्यार्थी के नाते आपके दृष्टिकोण में उदारता है। दूसरों के विचारों का मूल्यांकन आप किसी पूर्वाग्रह से नहीं करते। अध्यापक होने के नाते आपके संग्रह और अभिव्यक्ति दोनों में स्पष्टता और सरलता है। प्राचीन दरबारी संस्कारों से प्रभावित होने के कारण आप किसी भी प्रगतिशील विचारधारा के मूल्यों का आकलन तटस्थ रहकर ही कर सकते हैं। तर्क-शास्त्र के अध्येता होने के नाते आप विरोधी मान्यताओं की युक्तिपूर्ण तुलना करके उनमें से अपनी मान्यता के अनुकूल तत्त्व निकाल लेते हैं। इन सभी विशेषताओं के कारण आपका समन्वयवादी होना सहज सम्भाव्य है।

'कला' के विवेचन में भी बाबू साहब का यही दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। आपने लिखा है, "हम चाहे पाश्चात्य देशों की भाँति काव्य को कलाओं के अन्तर्गत न करें किन्तु काव्य का अध्ययन कलाओं से विमुक्त करके नहीं कर सकते हैं। × × रविवर्मा की चित्रकला तथा मैथिलीशरण गुप्तजी की प्रारम्भिक कविता में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। × × बंगाल के चित्रों में भी छायावादी कविता की भाँति स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की प्रवृत्ति अधिक है।"[1] 'साधारणीकरण' के सम्बन्ध में विचार करते हुये भी आपने अच्छा खासा समन्वय उपस्थित किया है। आचार्य शुक्ल आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं। डॉ० नगेन्द्र कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मानते हैं। बाबू साहब 'पाठक', 'कवि', 'भाव', 'आश्रय' सभी का साधारणीकरण मानते हैं। आपका स्पष्ट मत है, 'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। × × कवि भी अपने निज-व्यक्तित्व से उठकर साधारणीकृत हो जाता है × × पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोक सामान्य भाव-भूमि पर आ जाता है। × × भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनमें भी 'अयं निजः परो वा' की भावना आ जाती है।

बाबूजी की प्रयोगात्मक समीक्षा-पद्धति को 'समन्वयपरक व्याख्यात्मक शैली' कहा गया है। वस्तुत: व्याख्यात्मक पद्धति समन्वयपरक हो ही जाती है। व्याख्या को पूर्ण बनाने के लिये इतिहास, मनोविज्ञान, तुलना आदि सभी का आधार लेना पड़ता है। बाबू साहब ने यथावसर इन सभी का आधार लिया है। किन्तु प्रयोगात्मक समीक्षाओं में सम्भवतः विद्यार्थियों को दृष्टि में रखने के कारण आपने उपादेय अंगों पर ही अधिक ध्यान दिया है। फलस्वरूप आपकी प्रयोगात्मक समीक्षा विद्यार्थियोपयोगी समीक्षा-पुस्तकों की कोटि से ऊपर नहीं उठ सकी है।

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ३६

'मेरी असफलताएँ', 'फिर निराशा क्यों', 'प्रबन्ध प्रभाकर', 'मन की बातें' आपके प्रसिद्ध निबन्ध-संग्रह हैं 'अध्ययन और आस्वाद' तथा 'जगत् और जीवन' में भी अन्य निबन्ध-संग्रह ग्रंथ में प्रकाशित हो चुके हैं। 'नवरस', 'आत्म निर्णय', 'बौद्ध धर्म', 'कुलधर्म', 'शान्ति धर्म', 'मैत्री धर्म', 'कर्तव्य-शास्त्र', 'तर्कशास्त्र' तथा 'पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास' आपकी अन्य महत्त्वपूर्ण प्रकाशित कृतियाँ हैं। ये निबन्ध साहित्यिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, सामाजिक एवं अन्य जीवनोपयोगी विषयों पर लिखे गये हैं। साहित्यिक निबन्धों में सरल एवं सन्तुलित ढंग से साहित्य और जीवन से सम्बद्ध सामान्य विषयों का सर्व-जन-सुलभ परिचय है मनोवैज्ञानिक निबन्धों—'स्वप्न संसार', 'भावना-संघर्ष', 'हीनता-ग्रंथि', 'मस्तिष्क भण्डार', 'अँधेरी कोठरी', 'प्रसुप्त-कामना', 'प्रदर्शन', 'आन्तरिक संघर्ष व अन्तर्द्वन्द्व' आदि—में गहराई होते हुए भी विषय का प्रतिपादन ऐसे सुन्दर ढंग से किया गया है कि साधारण पाठक भी पूरी दिलचस्पी के साथ इनसे लाभ उठा सकता है।[1] 'मेरी असफलताएँ' में आत्मालोचन की प्रवृत्ति लक्षित होती है।

सरलता, सरसता, स्वच्छता आपकी गद्य-शैली की प्रमुख विशेषतायें हैं विषयों के अनुकूल भाषा का स्वरूप बदलता रहता है। साहित्यिक तथा अन्य गम्भीर विषयों में वह संयमित, तत्सम शब्दों से पूर्ण तथा स्पष्ट है। जीवनोपयोगी सामान्य विषयों में उसका रूप व्यावहारिक हो जाता है। देशज शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग धड़ल्ले से होता है। बीच-बीच में उद्धरणों द्वारा अपने मत को पुष्ट करते जाना आपकी विशेषता है। उद्धरण संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी सभी भाषाओं से दिये जाते हैं। कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्य के बड़े ही सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

विवेचन, व्याख्या, वर्णन के अतिरिक्त आपके निबन्धों में आत्मकथा का रूप भी मिलता है। आपके विवेचन में 'सन्तुलन' व्याख्या में 'स्पष्टता' तथा वर्णन में 'सरसता' रहती है।

सौन्दर्य का विवेचन करते हुये आप लिखते हैं—

"सौन्दर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसकी पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौन्दर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में एक-दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सौन्दर्य भाव-क्षेत्र का सामञ्जस्य है।"[2]

---

१. मैंने लोक रुचि का ध्यान रखते हुए यथा सम्भव इन लेखों में निबन्धों की साहित्यिकता लाने का प्रयत्न किया है। [मन की बातें : भूमिका]

२. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८५

'कल्पना' की व्याख्या करते हुये आप लिखते हैं—

"कल्पना वह शक्ति है जिसके द्वारा हम अप्रत्यक्ष के मानसिक चित्र उपस्थित करते हैं। कल्पना का अंग्रेजी पर्याय 'Imagination' है। यह शब्द 'Image' या मानसिक चित्र से बना है। संस्कृत में कल्पना शब्द 'कॢप' धातु से बना है। जिसका अर्थ है सृष्टि करना। स्वर्ग के कल्प वृक्ष की भाँति कल्पना भी मनचाही परिस्थिति उपस्थित कर देती है।"[1]

पहले सूत्र रूप में कल्पना की परिभाषा देने के पश्चात् बाबूजी ने अंग्रेजी और संस्कृत की व्युत्पत्तियों के आधार पर परिभाषा को स्पष्ट कर दिया है।

अपने वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध निबन्धों में आपने आत्म-कथात्मक शैली का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है। जीवन के अधिक निकट होने के कारण इस शैली में लिखे गये निबन्धों में बोल-चाल की भाषा व्यवहृत हुई है। कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक शैली का बड़ा अच्छा उदाहरण देखा जा सकता है:—

"खैर, आजकल उसका (भैंस का) दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी न पिला सकने की विवशता की झुंझल के होते हुये भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मठा दुर्लभ हो जाता है—'तक्रः शक्राय दुर्लभम्') उसके लिये भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और अभिव्यञ्जनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव! भुस खरीद कर मुझे भी गधे के पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत से लोग अकल के पीछे लाठी लेकर चलते हैं। कभी-कभी गधे के साथ कदम मिलाये रखना कठिन हो जाता है। लेकिन मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है। जितना कि पलायनवादी को जीवन से भागने में।"[2]

कहना न होगा कि उपर्युक्त गद्य-खण्ड में हास्य-व्यंग्य का प्राधान्य है किन्तु साहित्यिक शब्दावली से अपरिचित व्यक्ति को यह बोधगम्य नहीं है। साथ ही आचार्य शुक्ल के अमोघ व्यंग्यों जैसी गहराई भी उसमें नहीं है।

बाबूजी के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व को विजयेन्द्र स्नातक ने निम्नलिखित पंक्तियों में कुछ थोड़े से शब्दों में बड़े सुन्दर ढंग से बाँध दिया है—

"बाबूजी साहित्य-शास्त्र के सफल अध्यापक हैं, आचार्य नहीं। अध्यापक की सफलता इसमें है कि वह पक्ष-विपक्ष के विभिन्न मतमतान्तरों को एकत्र करके इस चातुर्य से अध्येता के समक्ष प्रस्तुत करे कि उसकी ज्ञान-वृद्धि के साथ जिज्ञासा

1. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ६७
2. हिन्दी-निबन्धकार, पृष्ठ १४१

पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी

'सूर' और 'प्रसाद' की प्रसिद्ध समीक्षाओं के अतिरिक्त, 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' तथा 'आधुनिक-साहित्य' वाजपेयीजी की प्रौढ़ आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। वाजपेयीजी ने समीक्षा-सिद्धान्त का कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं लिखा है, फिर भी इन कृतियों के आधार पर उनके सिद्धान्तों का स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' की भूमिका में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुये आपने आलोचना सम्बन्धी अपनी सात चेष्टाओं की ओर संकेत किया है। कवि की अन्तर्वृत्तियों का अध्ययन, कलात्मक सौष्ठव का अध्ययन, टेकनीक (शैली) का अध्ययन, समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओं का अध्ययन, कवि की जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन, कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन और काव्य के जीवन सम्बन्धी सामञ्जस्य और सन्देश का अध्ययन। विशेष बात यह है कि इन चेष्टाओं में ऊपर से नीचे की ओर प्रमुखता कम होती गई है। इस प्रकार वाजपेयीजी मूलतः कवि की अन्तर्वृत्तियों और कलात्मक सौष्ठव पर बल देते हैं।

वाजपेयीजी का दृष्टिकोण समझने के लिये 'आधुनिक-साहित्य' की भूमिका भी द्रष्टव्य है। इसमें आप पश्चिम के अस्ताचलगामी सूर्य से प्रकाशित चार प्रमुख समीक्षा-पद्धतियों से बचने की बात कहते हैं।

(१) वैयक्तिक मनोविज्ञान पर आधारित (फ्रॉयड, जुंग और एडलर से प्रभावित)

(२) समाजवादी समीक्षा (मार्क्सवादी)

(३) कला-विज्ञानवादी (Aesthetic) पुरानी परम्परा

(४) उपयोगितावादी या नीतिवादी (आइ० ए० रिचर्ड्स द्वारा उद्‌घाटित)

इसी ग्रंथ में आपका एक और महत्वपूर्ण वाक्य है, जिसका हमें ध्यान रखना होगा। आपने विश्वासपूर्वक कहा है कि 'पिछले पचास वर्षों से हिन्दी-साहित्य की जो मर्यादा बन गई है, उसे हम किसी भी स्थिति में टूटने न दें'[१] वाजपेयीजी को भारतीय साहित्य-शास्त्र का पूर्ण ज्ञान ही नहीं सम्यक् बोध भी है। यह उनके 'भारतीय काव्य-शास्त्र का नवनिर्माण' शीर्षक निबन्ध से तथा अन्य प्रयोगात्मक समीक्षाओं से सुस्पष्ट है। 'रस' को आप भारतीय काव्य-शास्त्र का अंतरंग तत्व मानते हैं। अलंकार को सौंदर्य का उद्‌घाटक तथा 'वक्रोक्ति', 'रीति'

---

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ४०

और 'ध्वनि' को काव्य के अभिव्यञ्जना-पक्ष से सम्बद्ध मानते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्र के नव निर्माण के लिये आप इन प्राचीन मान्यताओं को व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। साथ ही काव्य-शास्त्र के आधुनिक इतिहासकारों द्वारा प्रयुक्त दो प्रकार की सामग्रियों का आप सन्तुलित उपयोग करना चाहते हैं—एक तो 'युग-विशेष की प्रमुख सामाजिक और सांस्कृतिक धाराओं का विवरण' और दूसरे 'मुख्य विषय के साथ कला और साहित्य के क्षेत्र में होनेवाले तत्कालीन सृजन-कार्यों का परिचय।'

उपर्युक्त समस्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि वाजपेयीजी पश्चिम के अतिवादों से बचते हुये भारतीय साहित्य-शास्त्र की मान्यताओं को समुन्नत एवं व्यापक अर्थ में प्रतिष्ठित करके उनके आधार पर कवि की अन्तर्वृत्तियों का सामाजिक भूमि पर विश्लेषण करना चाहते है।

समीक्षात्मक दृष्टिकोण

वाजपेयीजी का समीक्षात्मक दृष्टिकोण समझने के लिये उनकी 'सूर' और 'प्रसाद' की प्रयोगात्मक समीक्षायें भी ध्यान देने योग्य है। सूर की आलोचना में आप लिखते हैं "स्थिति-विशेष का पूरा दिग्दर्शन भी करें, घटनाक्रम का आभास भी दें और साथ ही समुन्नत कोटि के रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य की परिपूर्ण झलक भी दिखाती जायें, यह विशेषता हमें कवि सूरदास में ही मिलती है। गोचारण अथवा गोवर्द्धन धारण के प्रसग कथात्मक हैं, किन्तु उन कथाओं को भी सजाकर सुन्दर भावगीतों में परिणत कर दिया गया है। हम आसानी से यह नहीं समझ पाते कि कथानक में भीतर रूप-सौन्दर्य अथवा मनोगीतियों के चित्र देख रहे हैं; अथवा मनोगीतियों और रूप की वर्णना के भीतर कथा का विकास देख रहे हैं।" स्पष्ट है कि वाजपेयीजी सौन्दर्य-बोध पर अधिक बल देते हैं। घटनाक्रम तथा स्थितिविशेष को आप पृष्ठ-भूमि में उपस्थित करना अधिक समीचीन मानते हैं। कदाचित् इसीलिये आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' आपको सर्वप्रिय हैं। 'प्रसाद' ने भी रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य को प्रमुख स्थान दिया है। घटनाओं को विशदता उनमें नहीं है। वाजपेयीजी रूप का स्थूल चित्रण भी नहीं चाहते, चेतन चेष्टाओं की झलक देखना चाहते हैं। कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यदि आचार्य शुक्ल के काव्य-सिद्धान्त 'तुलसी' के आधार पर निर्मित हुये हैं तो वाजपेयीजी की मान्यतायें 'प्रसाद' से प्रभावित हैं। प्रसादजी रसवादी (आनन्दवादी) कलाकार थे। वाजपेयीजी रसवादी समीक्षक; किन्तु प्रसादजी का 'रसवाद' नैतिकता या स्थूल उपयोगिता का आधार लेकर नहीं चला है। वाजपेयीजी भी नैतिकता का बन्धन स्वीकार नहीं करते। 'सौंदर्य' स्वतः 'शिव' है। ऐसा आपका विश्वास है। इसीलिये आप कहते हैं 'मेरी समझ में

इसका सीधा उत्तर यह है कि महान् कला कभी अश्लील नहीं हो सकती।' और 'सौंदर्य' असत्य तो हो नहीं सकता वह तो चेतना की झलक है। नैतिकता और स्थूल उपयोगिता के आग्रह से वाजपेयीजी को एक खतरा दिखलाई पड़ता है। वे कहते हैं कि 'इसमें साहित्य और समाज की विविध ऐतिहासिक स्थितियों और कवियों की रुचि और परिस्थिति से बननेवाले काव्य-व्यक्तियों का *आकलन नहीं किया जा सकता।*'[1] *अपनी इसी मान्यता के कारण आपने* आइ० ए० रिचर्ड्स तथा उनके समर्थक आचार्य शुक्ल दोनों से अपना पथ अलग कर लिया।

वाजपेयीजी के विषय में कहा गया है कि 'यह बतलाना कि उनका अमुक दृष्टिकोण पर आग्रह है, कठिन है। क्योंकि उनका स्वय का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है।'[2] वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। कलाकारों के विषय में उनकी धारणायें अवश्य बदली हैं किन्तु उनकी आलोचना का मानदण्ड नहीं बदला है। उसमें गहराई आ गई है। वे सच्चे भावक हैं। सौंदर्य के प्रति उनका आग्रह पहले भी था और आज भी है। प्रेमचन्द की आलोचना में उन्होंने कहा है, 'इस 'शिव' शब्द को हम व्यर्थ समझकर निकाल देना चाहते हैं। 'सत्य' और 'सुन्दर' पर्याप्त हैं।'[3] वाजपेयीजी न तो प्रभाववादी आलोचकों की भाँति हृदय की क्षणिक प्रतिक्रिया को आलोचना मानते हैं और न तो वाद-ग्रस्त प्रचारों को। उनका विश्वास है कि 'सुन्दरतम साहित्यिक रचनाओं में सार्वजनिकता होती है, युग का प्रतिबन्ध या वाद का वितंडा नहीं होता। × × यह असत्य नहीं कि *कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों तथा प्रवृत्तियों का उस पर भी* प्रभाव पड़ता है। ये दोनों मत नितान्त विरोधी नहीं हैं।'[4] अपनी इन्हीं मान्यताओं को लेकर आप आगे बढ़ रहे हैं।

समीक्षा-शैली

शैली की दृष्टि से आपकी समीक्षा व्याख्यात्मक और विवेचनात्मक है। आपके विवेचन में गहराई, सयम एव शालीनता है। कहीं-कहीं आप किसी कृति के सम्बन्ध में नवीन बातों का उल्लेख करते समय क्रमशः नम्बर देते हुये पहली, दूसरी, तीसरी विशेषताओं का उल्लेख करते हैं। यह पद्धति अपने को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिये ही अपनाई गई है। शुक्लजी की तरह आप किसी एक तथ्य को सूत्र

---

१. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ ५३
२. समीक्षा की समीक्षा, पृष्ठ २३६
३. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी, पृष्ठ १११
४. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ २८२

रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते वरन् बराबर एक के बाद दूसरे शब्दों का उल्लेख करते जाते हैं। व्याख्या को पूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये आप तुलना का आधार भी ग्रहण करते हैं। 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आप 'कामायनी', 'कुणाल' और 'मानस' सभी से उसकी तुलना कर जाते हैं। 'प्रसाद' की आलोचनाओं में कहीं-कहीं अधिक रसमग्न हो जाने के कारण आप आह्लादित से हो जाते हैं और प्रभाववादी आलोचना की झलक-सी आ जाती है। 'सूर' की आलोचना में भी यह स्थिति कहीं-कहीं आ गई है किन्तु बहुत कम। वैसे वाजपेयीजी ने इस प्रकार की आलोचना की निन्दा की है। वे कहते हैं, 'जिन्हें छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठ-पोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने में लगे हुये थे, जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था।'[1] कहीं-कहीं अपनी आलोचनाओं में अवांछित स्थल आ जाने पर आप आवेश में आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न कर जाते हैं। 'शेखर: एक जीवनी' की आलोचना में आप कहते हैं—

"शशि दुःखिनी है, शेखर दुःखी है। × × शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है × × वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुँचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रित हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। सत्कार के लिये? समाधान के लिये? शान्ति के लिये? नहीं, आत्म-प्रवचना के लिये, विषाद-तृप्ति के लिये अहं-पूर्ति के लिये।"[2]

यथास्थान वाजपेयीजी व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते। प्रसादजी के कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करते हुये आपने लिखा है, "हमारे विश्वविद्यालयों के गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तों का संग्रह करने में महाराज दक्ष को लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक-साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदव कायाप्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं।"[3]

१. जयशंकर प्रसाद, भूमिका, पृष्ठ ३
२. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८४
३. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७०

वाजपेयीजी की भाषा पूर्ण संयत तथा गम्भीर है। उसमें सूक्ष्मताओं के ग्रहण की अद्‌भुत शक्ति है। वाक्यों में विचार गुम्फित रहते हैं। आवश्यकतानुसार आप अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग भी करते हैं किन्तु उसके समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू के शब्द ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलते। जहाँ कोरे तथ्यों का उल्लेख करना होता है वहाँ वाक्य बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं, जहाँ भावों का प्रवाह रहता है वहाँ वाक्य बड़े हो जाते हैं।

भाषा

वस्तुतः शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अनेक वादों से बचते हुये भारतीय रसवाद सम्मत सौष्ठवादी समीक्षा की स्थापना में वाजपेयीजी सर्वश्रेष्ठ हैं। गुलाबरायजी के उदार दृष्टि-कोण ने सौंदर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था किन्तु एक तो वे 'शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे अत. उसके पृथक् मानदंड की स्थापना न कर सके दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ। साहित्य के वर्तमान गत्यवरोधों में इसकी क्या स्थिति होगी ? यह तो भविष्य ही बता सकता है।

रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते वरन् बराबर एक के बाद दूसरे प्रश्नों का उल्लेख करते जाते हैं। व्याख्या को पूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये आप तुलना का आधार भी ग्रहण करते हैं। 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आप 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी से उसकी तुलना कर जाते हैं। 'प्रसाद' की आलोचनाओं में कहीं-कहीं अधिक तन्मय हो जाने के कारण आप आह्लादित से हो जाते हैं और प्रभावकारी आलोचना की झलक-सी आ जाती है। 'सूर' की आलोचना में भी यह स्थिति कहीं-कहीं आ गई है किन्तु बहुत कम। स्वयं वाजपेयीजी ने इस प्रकार की आलोचना की निन्दा की है। वे कहते हैं, 'जिन्हें छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठ-पोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने में लगे हुए थे, जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था।'[1] कहीं-कहीं अपनी आलोचनाओं में अवाञ्छित स्थल आ जाने पर आप आवेश में आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न कर जाते हैं। 'शेखर: एक जीवनी' की आलोचना में आप कहते हैं—

"शशि दुःखिनी है, शेखर दुःखी है। ×× शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है ×× वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुँचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रित हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। संस्कार के लिये? समाधान के लिये? शान्ति के लिये? नहीं, आत्म-प्रवचना के लिये, विषाद-तृप्ति के लिये अहं-पूर्ति के लिये।"[2]

यथास्थान वाजपेयीजी व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते। प्रसादजी के कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करते हुये आपने लिखा है, "हमारे विश्वविद्यालयों के गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तों का संग्रह करने में महाराज दक्ष की लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक-साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदैव काया-प्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं।"[3]

---

१. जयशंकर प्रसाद, भूमिका, पृष्ठ ३
२. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८४
३. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७०

भाषा

वाजपेयीजी की भाषा पूर्ण संयत तथा गम्भीर है। उसमें सूक्ष्मताओं के ग्रहण की अद्भुत शक्ति है। वाक्यों में विचार गुम्फित रहते हैं। आवश्यकतानुसार आप अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग भी करते हैं किन्तु उसके समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू के शब्द ढूंढने पर भी नहीं मिलते। जहाँ कोरे तथ्यों का उल्लेख करना होता है वहाँ वाक्य बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं; जहाँ भावों का प्रवाह रहता है वहाँ वाक्य बड़े हो जाते हैं।

वस्तुतः शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र में अनेक वादों से बचते हुये भारतीय रसवाद सम्मत सौष्ठवादी समीक्षा की स्थापना में वाजपेयीजी सर्वश्रेष्ठ हैं। गुलाबरायजी के उदार दृष्टि-कोण ने सौंदर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था किन्तु एक तो वे 'शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे अतः उसके पृथक् मानदंड की स्थापना न कर सके दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ। साहित्य के वर्तमान गत्यवरोधों में इसकी क्या स्थिति होगी? यह तो भविष्य ही बता सकता है।

रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते वरन् बराबर एक के बाद दूसरे तथ्यों का उल्लेख करते जाते हैं। व्याख्या को पूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये आप तुलना का आधार भी ग्रहण करते हैं। 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आप 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी से उसकी तुलना कर जाते हैं। 'प्रसाद' की आलोचनाओं में कहीं-कहीं अधिक रसमग्न हो जाने के कारण आप आह्लादित से हो जाते हैं और प्रभाववादी आलोचना झलक-सी आ जाती है। 'सूर' की आलोचना में भी यह स्थिति कहीं-कहीं गई है किन्तु बहुत कम। वैसे वाजपेयीजी ने इस प्रकार की आलोचना की नि की है। वे कहते हैं, 'जिन्हें छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठ-पोषक समझा ज था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अ स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने में लगे हुये थे, जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के का समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुका भी लगा था।"[1] कहीं-कहीं अपनी आलोचनाओं में अवाञ्छित स्थल आ जाने आप आवेश में आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न कर जाते हैं। 'शेख एक जीवनी' की आलोचना में आप कहते हैं—

"यदि दुःखिनी है, शेखर दुःखी है। × × यदि केवल शेखर का उन्म दूर करना चाहती है × × वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सी तक पहुँचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रि हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। संस्कार के लिये? समाधान लिये? शान्ति के लिये? नहीं, आत्म-प्रवंचना के लिये, विषाद-तृप्ति के लि अहं-पूर्ति के लिये।"[2]

यथास्थान वाजपेयीजी व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते। प्रसादजी के कु आलोचकों पर व्यंग्य करते हुये आपने लिखा है, "हमारे विश्वविद्यालयों मे गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्त का संग्रह करने में महाराज दक्ष को लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक-साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदैव काया-प्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं।"[3]

---

१. जयशंकर प्रसाद, भूमिका, पृष्ठ ३
२. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८४
३. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७०

वाजपेयीजी की भाषा पूर्ण सयत तथा गम्भीर है। उसमें सूक्ष्मताओं के ग्रहण की अद्भुत शक्ति है। वाक्यों में विचार गुम्फित रहते हैं। आवश्यकतानुसार आप अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग भी करते हैं किन्तु उसके समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू के शब्द ढूंढने पर भी नही मिलते। जहाँ कोरे तथ्यों का उल्लेख करना होता है वहाँ वाक्य बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं; जहाँ भावों का प्रवाह रहता है वहाँ वाक्य बडे हो जाते हैं।

भाषा

वस्तुतः शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे अनेक वादो से बचते हुये भारतीय रसवाद सम्मत सौष्ठववादी समीक्षा की स्थापना में वाजपेयीजी सर्वश्रेष्ठ हैं। गुलाबरायजी के उदार दृष्टि-कोण ने सौंदर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था किन्तु एक तो वे 'शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे अतः उसके पृथक् मानदंड की स्थापना न कर सके दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षेत्र में उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ। साहित्य के वर्तमान गत्यवरोधों में इसकी क्या स्थिति होगी? यह तो भविष्य ही बता सकता है।

रूप में उपस्थित करके उसकी व्याख्या नहीं करते वरन् बराबर एक के बाद दूसरे शब्दों का उल्लेख करते जाते हैं। व्याख्या को पूर्ण एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिये आप तुलना का आधार भी ग्रहण करते हैं। 'साकेत' की आधुनिकता पर विचार करते समय आप 'कामायनी', 'कुरुक्षेत्र' और 'मानस' सभी से उसकी तुलना कर जाते हैं। 'प्रसाद' की आलोचनाओं में कहीं-कहीं अधिक रसमग्न हो जाने के कारण आप आह्लादित से हो जाते हैं और प्रभाववादी आलोचना की झलक-सी आ जाती है। 'सूर' की आलोचना में भी यह स्थिति कहीं-कहीं आ गई है किन्तु बहुत कम। वैसे वाजपेयीजी ने इस प्रकार की आलोचना की निन्दा की है। वे कहते हैं, 'जिन्हें छायावाद की नई प्रगति का पृष्ठ-पोषक समझा जाता था, वे समीक्षा के नाम पर बिल्कुल कोरे थे। वे समीक्षक नामधारी अपना स्वतन्त्र गद्यकाव्य लिखने में लगे हुए थे, जिसे वे अपनी 'मर्मज्ञता' के कारण समीक्षा समझने लगे थे और पाठकों का भावुक दल उन्हें समीक्षक कहकर पुकारने भी लगा था।'[1] कहीं-कहीं अपनी आलोचनाओं में अवाञ्छित स्थल आ जाने पर आप आवेश में आ जाते हैं और एक साथ कई प्रश्न कर जाते हैं। 'शेखर: एक जीवनी' की आलोचना में आप कहते हैं—

"शशि दुःखिनी है, शेखर दुःखी है। × × शशि केवल शेखर का उन्माद दूर करना चाहती है × × वह बहुत प्रयत्न करती है। असामाजिक सीमा तक पहुँचती है। पति द्वारा परित्यक्त हो जाती है। अब वह और भी निराश्रित हो गई, किन्तु शेखर को और भी बल मिला। संस्कार के लिये? समाधान के लिये? शान्ति के लिये? नहीं, आत्म-प्रवचना के लिये, विषाद-तृप्ति के लिये अहं-पूर्ति के लिये।"[2]

यथास्थान वाजपेयीजी व्यंग्य करने से भी नहीं चूकते। प्रसादजी के कुछ आलोचकों पर व्यंग्य करते हुये आपने लिखा है, "हमारे विश्वविद्यालयों के गम्भीरतावादी महानुभाव, जो सनातन शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य के सिद्धान्तों का संग्रह करने में महाराज दक्ष को लक्षणा का लक्ष्यभेद कर चुके हैं, पर जिनका सामयिक-साहित्य की परीक्षा करने का व्यावहारिक ज्ञान कछुए के मुँह के समान सदव काया-प्रवेश ही किये रहता है—उक्त अन्तर्दृष्टि के बहुत बड़े हिस्सेदार हैं।"[3]

---

१. जयशंकर प्रसाद, भूमिका, पृष्ठ ३
२. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ १८४
३. जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ ७०

वाजपेयीजी की भाषा पूर्ण सयत तथा गम्भीर है। उसमें सूक्ष्मताओं के ग्रहण की अद्‌भुत शक्ति है। वाक्यों में विचार गुम्फित रहते हैं। आवश्य-

भाषा

कतानुसार आप अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग भी करते हैं किन्तु उसके समानान्तर उपयुक्त हिन्दी शब्द भी रख देते हैं। उर्दू के शब्द ढूँढ़ने पर भी नही मिलते। जहाँ कोरे तथ्यों का उल्लेख करना होता है वहाँ वाक्य बहुत छोटे-छोटे हो जाते हैं, जहाँ भावों का प्रवाह रहता है वहाँ वाक्य बड़े हो जाते हैं।

वस्तुतः शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-समीक्षा के क्षेत्र मे अनेक वादों से बचते हुये भारतीय रसवाद सम्मत सौष्ठवादी समीक्षा की स्थापना में वाजपेयीजी सर्वश्रेष्ठ हैं। गुलाबरायजी के उदार दृष्टि-कोण ने सौंदर्य का आधार अवश्य ग्रहण किया था किन्तु एक तो वे 'शिव' के साथ उसका समन्वय चाहते थे अत. उसके पृथक् मानदंड की स्थापना न कर सके दूसरे प्रयोगात्मक आलोचना के क्षत्र में उनका व्यक्तित्व अधिक विकसित नहीं हुआ। साहित्य के वर्तमान गत्यव-रोधों में इसकी क्या स्थिति होगी? यह तो भविष्य ही बता सकता है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी का कृतित्व प्रधानतः अनुसन्धानात्मक एवं आलोचनात्मक है। उनके सम्पूर्ण कृतित्व को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) अनुसन्धानात्मक एवं आलोचनात्मक कृतियाँ।

(ख) फुटकल विषयों पर लिखित निबन्ध।

(ग) सम्पादित ग्रंथों की आलोचनात्मक भूमिकायें।

(घ) अन्य विद्वानों की महत्वपूर्ण कृतियों की भूमिकायें।

अनुसन्धानात्मक तथा आलोचनात्मक कृतियों में 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', 'वैष्णवधर्म', 'हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' तथा 'कबीर-साहित्य की परख' प्रधान हैं। सम्पादित ग्रंथों में 'मीरां बाई की पदावली', 'सूफीकाव्य-संग्रह', 'संत-काव्य' तथा 'मानस की रामकथा' प्रमुख हैं। फुटकल विषयों पर लिखित निबन्धों में कुछ तो संगृहीत होकर पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुये हैं। संगृहीत निबन्ध पुस्तकों में 'नव-निबंध', 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' तथा 'गार्हस्थ्य-जीवन और ग्राम-सेवा' उल्लेखनीय है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुये निबन्धों की भी विषय की दृष्टि से कई कोटियाँ हैं। कुछ संत-परम्परा, संत-साहित्य और संतमत से सम्बद्ध हैं। कुछ का सम्बन्ध सिद्ध-साहित्य से है। कुछ 'कबीर' से सम्बन्धित हैं। कुछ धार्मिक तथा व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध विषयों पर लिखे गये हैं और कुछ हिन्दी-साहित्य के प्राचीन एवं अर्वाचीन विविध विषयों पर लिखे गये हैं। इन बिखरे हुये निबन्धों की संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच चुकी है। अन्य विद्वानों की कृतियों की भूमिकाओं में 'मीरां-एक अध्ययन' (पद्मावती शबनम कृत), 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण संप्रदाय' (डॉ० बर्थवाल कृत), 'हिन्दी सन्त काव्य' (गणेश प्रसाद द्विवेदी कृत), 'सुन्दर-दर्शन' (डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित कृत) तथा 'भिखारिन' (जगदीश ओझा कृत) की भूमिकायें महत्वपूर्ण हैं।

चतुर्वेदीजी ने अनुसन्धानात्मक कृतियों में प्रामाणिक सामग्री के संग्रह पर ही बल नहीं दिया है, सामग्री के सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण को भी महत्व दिया है। उनके अनुसंधान का दृष्टिकोण शुद्ध ऐतिहासिक का दृष्टिकोण नहीं है, जो तथ्यों का संकलन, सम्पादन तथा उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण मात्र करके सन्तोष कर लेता है। उन्होने संत-परम्परा के अध्ययन में तटस्थ भाव से सामग्री जुटाने के साथ ही, उसका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। समस्त संत-परम्परा

को विभिन्न युगों में बाँटते समय उसमें होनेवाले प्रवृत्तिगत परिवर्तनों को भी लक्ष्य किया गया है और इन परिवर्तनो के मूल कारणो तथा प्रभावो का भी उल्लेख किया गया है। 'हिन्दी-काव्यधारा में प्रेम प्रवाह' में चतुर्वेदीजी का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो सका है। आदि मानव के शुद्ध सरल एवं स्वाभाविक प्रेम की तुलना में मध्ययुगीन सामन्तीय वातावरण में विकसित प्रेम निश्चय ही रोमानी एव स्वार्थ-प्रेरित हो गया और धार्मिक आन्दोलनों में इसका उदात्त रूप सामने आया। आधुनिक, आर्थिक, राजनैतिक, एव वैज्ञानिक क्रान्तियों ने मानव के सम्बन्धों में जटिलता ला दी है साथ ही राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से उद्वेलित मानव के रागात्मक सम्बन्धो में व्यापकता भी आ गई है। फलस्वरूप आज, प्रेम के स्वरूप में जटिलता तथा व्यापकता दोनो लक्षित होती हैं। लोक-गीतो में प्रकट प्रेम, आज भी अपनी स्थिति में बहुत कुछ सरल है। मानव की इस प्रधान वृत्ति को लेकर, साहित्य के अन्तर्गत उसकी अभिव्यक्ति में होनेवाले विविध परिवर्तनों को लक्ष्य करना, विश्लेषण-बुद्धि का ही परिचायक है।

चतुर्वेदीजी की विश्लेषण-पद्धति ऐतिहासिक कही जा सकती है। न तो वे लेखक के मानसिक स्तरों का विश्लेषण करके उसकी सृजनात्मक कृतियो से उसका सम्बन्ध दिखाते हैं और न वे रचना के मर्म को समझने के लिये रचयिता के व्यक्तिगत जीवन-वृतान्त को ही अधिक महत्व देते हैं। युग-विशेष की साहित्यिक कृतियों पर उस युग में होनेवाले आर्थिक वैषम्यगत सघर्षों का सीधा प्रभाव ढूँढने की चेष्टा भी आप नहीं करते। आपका स्पष्ट मत है—'किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओ के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणो से विचार किया गया हो, किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।'[1] उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में यथासाध्य इस दृष्टिकोण की रक्षा की है। काल-क्रमानुसार जनता की रुचि एवं प्रवृत्ति में होनेवाले परिवर्तनों तथा फलस्वरूप साहित्य के स्वरूप म होनेवाले क्रमागत विकास को, बिना किसी पूर्वग्रह के लक्ष्य करने की चेष्टा, आपने की है। पूर्वग्रह का त्याग तथा सिद्धान्त-विशेष के प्रति ममत्व की कमी यदि तटस्थता है तो वह आप में है। किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्त को आ बनाकर रचना के मूल में कार्य करनेवाली अन्य वैयक्तिक एवं णाओं की उपेक्षा कर देना, आपकी दृष्टि में अनुपात-सम्बन्धी

१. आलोचना विशेषांक, अक १, पृष्ठ १५

पं० परशुराम चतुर्वेदी

चतुर्वेदीजी का कृतित्व प्रधानतः अनुसन्धानात्मक एवं आलोचनात्मक है। उनके सम्पूर्ण कृतित्व को चार रूपों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) अनुसन्धानात्मक एवं आलोचनात्मक कृतियां।

(ख) फुटकल विषयों पर लिखित निबन्ध।

(ग) सम्पादित ग्रंथों की आलोचनात्मक भूमिकायें।

(घ) अन्य विद्वानों की महत्वपूर्ण कृतियों की भूमिकायें।

अनुसन्धानात्मक तथा आलोचनात्मक कृतियों में 'उत्तरी भारत की संत-परम्परा', 'वैष्णवधर्म', 'हिन्दी-काव्य-धारा में प्रेम-प्रवाह' तथा 'कबीर-साहित्य की परख' प्रधान हैं। सम्पादित ग्रंथों मे 'मीरां बाई की पदावली', 'सूफीकाव्य-संग्रह', 'संत-काव्य' तथा 'मानस की रामकथा' प्रमुख हैं। फुटकल विषयों पर लिखित निबन्धों में कुछ तो संगृहीत होकर पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं और अनेक, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुये हैं। संगृहीत निबन्ध पुस्तकों में 'नव-निबंध', 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' तथा 'गार्हस्थ्य-जीवन और ग्राम-सेवा' उल्लेखनीय है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में बिखरे हुये निबन्धों की भी विषय की दृष्टि से कई कोटियाँ है। कुछ संत-परम्परा, संत-साहित्य और संतमत से सम्बद्ध हैं। कुछ का सम्बन्ध सिद्ध-साहित्य से है। कुछ 'कबीर' से सम्बन्धित हैं। कुछ धार्मिक तथा व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध विषयों पर लिखे गये हैं और कुछ हिन्दी-साहित्य के प्राचीन एवं अर्वाचीन विविध विषयों पर लिखे गये हैं। इन बिखरे हुये निबन्धो की संख्या लगभग एक सौ तक पहुँच चुकी है। अन्य विद्वानों की कृतियों की भूमिकाओं में 'मीरां-एक अध्ययन' (पद्मावती शबनम कृत), 'हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' (डॉ० बड़थ्वाल कृत), 'हिन्दी सन्त काव्य' (गणेश प्रसाद द्विवेदी कृत), 'सुन्दर-दर्शन' (डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित कृत) तथा 'भिखारिन' (जगदीश ओझा कृत) की भूमिकायें महत्वपूर्ण हैं।

चतुर्वेदीजी ने अनुसन्धानात्मक कृतियों में प्रामाणिक सामग्री के संग्रह पर ही बल नहीं दिया है, सामग्री के सूक्ष्म निरीक्षण तथा विश्लेषण को भी महत्व दिया है। उनके अनुसधान का दृष्टिकोण शुद्ध ऐतिहासिक का दृष्टिकोण नहीं है, जो तथ्यों का संकलन, सम्पादन तथा उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण मात्र करके सन्तोष कर लेता है। उन्होंने संत-परम्परा के अध्ययन में तटस्थ भाव से सामग्री जुटाने के साथ ही, उसका विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। समस्त संत-परम्परा

को विभिन्न युगों में बाँटते समय उसमें होनेवाले प्रवृत्तिगत परिवर्तनों को भी लक्ष्य किया गया है और इन परिवर्तनों के मूल कारणों तथा प्रभावों का भी उल्लेख किया गया है। 'हिन्दी-काव्यधारा में प्रेम प्रवाह' में चतुर्वेदीजी का विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हो सका है। आदि मानव के शुद्ध सरल एवं स्वाभाविक प्रेम की तुलना में मध्ययुगीन सामन्तीय वातावरण में विकसित प्रेम निश्चय ही रोमानी एवं स्वार्थ-प्रेरित हो गया और धार्मिक आन्दोलनों में इसका उदात्त रूप सामने आया। आधुनिक, आर्थिक, राजनैतिक, एवं वैज्ञानिक क्रान्तियों ने मानव के सम्बन्धों में जटिलता ला दी है साथ ही राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से उद्वेलित मानव के रागात्मक सम्बन्धों में व्यापकता भी आ गई है। फलस्वरूप आज, प्रेम के स्वरूप में जटिलता तथा व्यापकता दोनों लक्षित होती हैं। लोक-गीतों में प्रकट प्रेम, आज भी अपनी स्थिति में बहुत कुछ सरल है। मानव की इस प्रधान वृत्ति को लेकर, साहित्य के अन्तर्गत उसकी अभिव्यक्ति में होनेवाले विविध परिवर्तनों को लक्ष्य करना, विश्लेषण-बुद्धि का ही परिचायक है।

चतुर्वेदीजी की विश्लेषण-पद्धति ऐतिहासिक कही जा सकती है। न तो वे लेखक के मानसिक स्तरों का विश्लेषण करके उसकी सृजनात्मक कृतियों से उसका सम्बन्ध दिखाते हैं और न वे रचना के मर्म को समझने के लिये रचयिता के व्यक्तिगत जीवन-वृत्तान्त को ही अधिक महत्त्व देते हैं। युग-विशेष की साहित्यिक कृतियों पर उस युग में होनेवाले आर्थिक वैषम्यगत संघर्षों का सीधा प्रभाव ढूँढ़ने की चेष्टा भी आप नहीं करते। आपका स्पष्ट मत है—'किसी साहित्यिक कृति-विशेष की आलोचना उसी दशा में पूर्ण कही जा सकती है जब उसमें उसकी विशेषताओं के अनुसार प्रायः सभी आवश्यक दृष्टिकोणों से विचार किया गया हो, किन्तु इसके साथ ही जिसमें किसी भी एक पक्ष पर उसके उचित अनुपात से अधिक बल भी न दिया गया हो।'[1] उन्होंने अपनी आलोचनात्मक कृतियों में यथासाध्य इस दृष्टिकोण की रक्षा की है। काल-क्रमानुसार जनता की रुचि एवं प्रवृत्ति में होनेवाले परिवर्तनों तथा फलस्वरूप साहित्य के स्वरूप में होनेवाले क्रमागत विकास को, बिना किसी पूर्वग्रह के लक्ष्य करने की चेष्टा, आपने की है। पूर्वग्रह का त्याग तथा सिद्धान्त-विशेष के प्रति ममत्व की कमी यदि तटस्थता है तो वह आप में है। किसी पूर्व निश्चित सिद्धान्त को ही आधार बनाकर रचना के मूल में कार्य करनेवाली अन्य वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रेरणाओं की उपेक्षा कर देना, आपकी दृष्टि में अनुपात-सम्बन्धी अनौचित्य है।

---

१. आलोचना विशेषांक, अंक ६, पृष्ठ १५

आलोचना के मानदंड के सम्बन्ध में आपकी किसी सार्वभौम एवं चिरस्थायी सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये आपने अपने एक पत्र में लिखा है—"मानदंड का स्वरूप कभी चिरस्थायी रूप से सार्वभौम नहीं हो सकता और न वह आलोच्य रचना के विषयादि की कभी उपेक्षा ही कर सकता है। जिन विशिष्ट रचनाओं ने आज साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है उनके रचना-काल का मानदंड ठीक आज ही का-सा नहीं था। उन दिनों जो बातें उसके लिये आधार स्वरूप थीं वे सभी आज मान्य नहीं हो सकतीं। आज उनके Form से अधिक उनके Matter पर ही हमारी दृष्टि जाती है और उसे भी हम बहुधा शुद्ध मानवता की ही व्यापक दृष्टि से देखना चाहते हैं। फिर किसी मानदंड को अपने सामने लाते समय हमारा ध्यान अनिवार्यतः विभिन्न दृष्टिकोणों की ओर भी चला जाता है, जो साहित्यिक, सामाजिक वा अन्य प्रश्नों के कारण उसे बहुत कुछ मर्यादित भी बना देते हैं। अतएव, आलोचना का मानदंड इस प्रकार की आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये और तभी वह न्यायसंगत व व्यापक भी हो सकेगा।"[1] 'कबीर-साहित्य की परख' में आपने इसी उदार किन्तु मर्यादित मानदण्ड का आधार ग्रहण किया है।

'वैष्णवधर्म' में विवरण की ही प्रधानता है। इसमें विश्लेषण का आधार नहीं लिया गया है। वस्तुत. यह वैष्णव धर्म का इतिहास कहा जा सकता है। इसमें न तो वैष्णवधर्म के मूल तत्वों का विश्लेषण किया गया है और न व्यावहारिक दृष्टि से उसके मूल्यों का आकलन ही प्रस्तुत किया गया है। इस धार्मिक आन्दोलन से प्रेरित मध्ययुग के साहित्य की प्रगतिशील तथा स्वस्थ चेतना की चर्चा भी चतुर्वेदीजी ने नहीं की है। किन्तु अन्य कृतियों में ऐसा नहीं हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोच्य विषय पर मनन करते समय, चतुर्वेदीजी, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विचारों की काट-छाँट मन में ही कर लेते हैं। अभिव्यक्त करते समय सारी सामग्री पूर्व निश्चित क्रम से सजा देते हैं। फलस्वरूप वह कोरे विवरण-सी प्रतीत होने लगती है। वे कभी भी इस प्रकार विचार करते हुये नहीं चलते कि 'अब प्रश्न यह उठता है; या यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो, आदि-आदि।' प्रायः वे इतिहासकार के दृष्टिकोण से ही 'कृति' की परख करने की चेष्टा करते हैं, अतः मत-वैभिन्य के लिए गुंजाइश नहीं रहती। आपने 'आलोचना और अनुसन्धान' शीर्षक निबन्ध में कुछ आलोचना-सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुये लिखा है—'युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्ति

---

१. [illegible] ९।१०।४८ के बलिया से लेखक को लिखे गये पत्र से।

की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रन्थ के कवि या लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्णरूप से समर्थ नहीं हो पाते।"[1] आप किसी भी कृतिकार को युग-विशेष की देन मात्र स्वीकार नहीं करते।

चतुर्वेदीजी का गद्य रोचक नहीं है। उसमे गम्भीरता प्रौढ़ता एवं व्यापकता होते हुये भी एक प्रकार की रुक्षता बराबर देखी जा सकती है। कहीं-कहीं तो आप कई-कई पंक्तियों में कृतिकार के ही वाक्यों, शब्दो एव प्रयोगों का हवाला देते चले जाते हैं। वाक्यो में सहृदय भावक की रसमग्नता के दर्शन नहीं होते वरन् दार्शनिक अध्येता की तटस्थता लक्षित होती है। ऐसा लगता है कि आपको अपने कथन पर विश्वास तो है किन्तु आसक्ति नहीं। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाँति बीच-बीच में हृदय को बरबस खींच लेनेवाले वाक्यों का पुट भी आप नहीं दे पाते। किसी प्रकार के व्यंग या हास्य की प्रवृत्ति आपकी गद्य-शैली में नहीं पाई जाती। आपकी गद्य-शैली के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"आवजेक्टिव दृष्टिकोण काफी सीमा तक सबजेक्टिव शैली में व्यक्त होने के कारण कसा हुआ और विश्लेषण में स्पष्ट नहीं हो सका है, किंतु चतुर्वेदीजी की शैली भी अपने ढंग की एक नई शैली है जिसकी विशेषता यह है कि सीधे और सरल ढंग से आत्माभिव्यक्ति में मर्यादित नीति का अनुसरण करते हुये चलती है।"[2]

जो भी हो, हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचक नहीं है कि आज, चतुर्वेदीजी के कृतित्व को यदि अलग कर दिया जाय तो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जायगा।

---

१. आलोचना विशेषांक, अंक ६, पृष्ठ १३

२. अवन्तिका वर्ष १, अंक १०, अगस्त १९५३, पृष्ठ ५५

आलोचना के मानदंड के सम्बन्ध में आपकी किसी सार्वभौम एवं चिरस्थायी सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये आपने अपने एक पत्र में लिखा है—"मानदंड का स्वरूप कभी चिरस्थायी रूप से सार्वभौम नहीं हो सकता और न वह अलौकिक रचना के विचारादि की सभी उपेक्षा ही कर सकता है। जिन विशिष्ट रचनाओं ने आज साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है उनके रचना-काल का मानदंड ठीक आज ही का-सा नहीं था। उन दिनों जो बातें उनके लिये आधार स्वरूप थीं वे सभी आज मान्य नहीं हो सकतीं। आज उनके Form से अधिक उनके Matter पर ही हमारी दृष्टि जाती है और उसे भी हम बहुधा शुद्ध मानवता की ही व्यापक दृष्टि से देखना चाहते हैं। फिर किसी मानदंड को अपने सामने लाते समय हमारा ध्यान अनिवार्यतः विभिन्न दृष्टिकोणों की ओर भी चला जाता है, जो साहित्यिक, सामाजिक वा अन्य प्रश्नों के कारण उसे बहुत कुछ मर्यादित भी बना देते हैं। अतएव, आलोचना का मानदंड इस प्रकार की आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये और तभी वह न्यायसंगत व व्यापक भी हो सकेगा।"[1] 'कबीर-साहित्य की परख' में आपने इसी उदार किन्तु मर्यादित मानदण्ड का आधार ग्रहण किया है।

'वैष्णवधर्म' में विवरण की ही प्रधानता है। इसमें विश्लेषण का आधार नहीं लिया गया है। वस्तुतः यह वैष्णव धर्म का इतिहास कहा जा सकता है। इसमें न तो वैष्णवधर्म के मूल तत्वों का विश्लेषण किया गया है और न व्यावहारिक दृष्टि से उसके मूल्यों का आकलन ही प्रस्तुत किया गया है। इस धार्मिक आन्दोलन से प्रेरित मध्ययुग के साहित्य की प्रगतिशील तथा स्वस्थ चेतना की चर्चा भी चतुर्वेदीजी ने नहीं की है। किन्तु अन्य कृतियों में ऐसा नहीं हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोच्य विषय पर मनन करते समय, चतुर्वेदीजी, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विचारों की काँट-छाँट मन में ही कर लेते हैं। अभिव्यक्त करते समय सारी सामग्री पूर्व निश्चित क्रम से सजा देते हैं। फलस्वरूप वह कोरे विवरण-सी प्रतीत होने लगती है। वे कभी भी इस प्रकार विचार करते हुये नहीं चलते कि 'अब प्रश्न यह उठता है; या यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो, आदि-आदि।' प्रायः वे कृतिकार के दृष्टिकोण से ही 'कृति' की परख करने की चेष्टा करते हैं, अतः मत-वैभिन्य के लिये गुंजाइश नहीं रहती। आपने 'आलोचना और अनुसन्धान' शीर्षक निबन्ध में कुछ आलोचना-सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुये लिखा है—'युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों

---

१. चतुर्वेदीजी के ३१।१०।५४ के बलिया से लेखक को लिखे गये पत्र से।

आलोचना के मानदंड के सम्बन्ध में आपकी किसी सार्वभौम एवं सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये ... पत्र में लिखा है—"मानदंड का स्वरूप कभी चिरस्थायी रूप से ... हो सकता और न वह आलोच्य रचना के विषयादि की कभी उपेक्षा ... सकता है। जिन विशिष्ट रचनाओं ने आज साहित्य के क्षेत्र में अपना बना लिया है उनके रचना-काल का मानदंड ठीक आज ही का-सा नहीं उन दिनों जो बातें उसके लिये आधार स्वरूप थीं वे सभी आज मान्य नहीं सकतीं। आज उनके Form से अधिक उनके Matter पर ही हमारी दृ... जाती है और उसे भी हम बहुधा शुद्ध मानवता की ही व्यापक दृष्टि से ... चाहते हैं। फिर किसी मानदंड को अपने सामने लाते समय हमारा ध्यान अनिवार्यतः विभिन्न दृष्टिकोणों की ओर भी चला जाता है, जो साहित्यिक, सामाजिक वा अन्य प्रश्नों के कारण उसे बहुत कुछ मर्यादित भी बना देते हैं। अतएव, आलोचना का मानदंड इस प्रकार की आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये और तभी वह न्यायसंगत व व्यापक भी हो सकेगा।"[1] 'कबीर-साहित्य की परख' में आपने इसी उदार किन्तु मर्यादित मानदण्ड का आधार ग्रहण किया है।

'वैष्णवधर्म' में विवरण की ही प्रधानता है। इसमें विश्लेषण का आधार नहीं लिया गया है। वस्तुतः यह वैष्णव धर्म का इतिहास कहा जा सकता है। इसमें न तो वैष्णवधर्म के मूल तत्वों का विश्लेषण किया गया है और न व्यावहारिक दृष्टि से उसके मूल्यों का आकलन ही प्रस्तुत किया गया है। इस धार्मिक आन्दोलन से प्रेरित मध्ययुग के साहित्य की प्रगतिशील तथा स्वस्थ चेतना की चर्चा भी चतुर्वेदीजी ने नहीं की है। *किन्तु अन्य कृतियों में ऐसा नहीं हुआ है।* हाँ, यह अवश्य है कि आलोच्य विषय पर मनन करते समय, चतुर्वेदीजी, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विचारों की काट-छाँट मन में ही कर लेते हैं। अभिव्यक्त करते समय सारी सामग्री पूर्व निश्चित क्रम से सजा देते हैं। फलस्वरूप वह कोरे विवरण-सी प्रतीत होने लगती है। वे कभी भी इस प्रकार विचार करते हुये नहीं चलते कि 'अब प्रश्न यह उठता है; या यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो, आदि-आदि।' प्रायः वे कृतिकार के दृष्टिकोण से ही 'कृति' की परख करने की चेष्टा करते हैं, अतः मत-वैभिन्य के लिये गुंजाइश नहीं रहती। आपने 'आलोचना और अनुसन्धान' शीर्षक निबन्ध में कुछ आलोचना-सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुये लिखा है—'युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों

---

१. चतुर्वेदीजी के ३१।१०।५४ के बलिया से लेखक को लिखे गये पत्र से।

आलोचना के मानदंड के सम्बन्ध में आपकी किसी सार्वभौम एवं चिरस्थायी सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये आपने अपने एक पत्र में लिखा है—"*मानदंड का स्वरूप कभी चिरस्थायी रूप से सार्वभौम नहीं हो सकता और न वह आलोच्य रचना के विषयादि की कभी उपेक्षा ही कर* सकता है। जिन विशिष्ट रचनाओं ने आज साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है उनके रचना-काल का मानदंड ठीक आज ही का-सा नहीं था। उन दिनों जो बातें उसके लिये आधार स्वरूप थीं वे सभी आज मान्य नहीं हो सकतीं। आज उनके Form से अधिक उनके Matter पर ही हमारी दृष्टि जाती है और उसे भी हम बहुधा शुद्ध मानवता की ही व्यापक दृष्टि से देखना चाहते हैं। फिर किसी मानदंड को अपने सामने लाते समय हमारा ध्यान अनिवार्यतः विभिन्न दृष्टिकोणों की ओर भी चला जाता है, जो साहित्यिक, सामाजिक वा अन्य प्रश्नों के कारण उसे बहुत कुछ मर्यादित भी बना देते हैं। अतएव, आलोचना का मानदंड इस प्रकार की आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये और तभी वह न्यायसंगत व व्यापक भी हो सकेगा।"[1] 'कबीर-साहित्य की परख' में आपने इसी उदार किन्तु मर्यादित मानदण्ड का आधार ग्रहण किया है।

'वैष्णवधर्म' में विवरण की ही प्रधानता है। इसमें विश्लेषण का आधार नहीं लिया गया है। वस्तुतः यह वैष्णव धर्म का इतिहास कहा जा सकता है। इसमें न तो वैष्णवधर्म के मूल तत्त्वों का विश्लेषण किया गया है और न व्यावहारिक दृष्टि से उसके मूल्यों *का आकलन* ही प्रस्तुत किया गया है। इस धार्मिक आन्दोलन से प्रेरित मध्ययुग के साहित्य की प्रगतिशील तथा स्वस्थ चेतना की चर्चा भी चतुर्वेदीजी ने नहीं की है। किन्तु अन्य कृतियों में ऐसा नहीं हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोच्य विषय पर मनन करते समय, चतुर्वेदीजी, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विचारों की काँट-छाँट मन में ही कर लेते हैं। अभि*व्यक्त करते समय सारी सामग्री पूर्व निश्चित क्रम से* सजा देते हैं। फलस्वरूप वह कोरे विवरण-सी प्रतीत होने लगती है। वे कभी भी इस प्रकार विचार करते हुये नहीं चलते कि 'अब प्रश्न यह उठता है; या यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो, आदि-आदि।' प्रायः वे कृतिकार के दृष्टिकोण से ही 'कृति' की परख करने की चेष्टा करते हैं, अतः मत-वैभिन्य के लिये गुंजाइश नहीं रहती। आपने *'आलोचना और अनुसन्धान' शीर्षक निबन्ध में* कुछ आलोचना-सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुये लिखा है—'युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियाँ

---

१. चतुर्वेदीजी के ३१।१०।५४ के बलिया से लेखक को लिखे गये पत्र से।

की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रन्थ के कवि या लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्णरूप से समर्थ नहीं हो पाते।"[1] आप किसी भी कृतिकार को युग-विशेष की देन मात्र स्वीकार नहीं करते।

चतुर्वेदीजी का गद्य रोचक नहीं है। उसमें गम्भीरता प्रौढ़ता एवं व्यापकता होते हुये भी एक प्रकार की रुक्षता बराबर देखी जा सकती है। कहीं-कहीं तो आप कई-कई पंक्तियों में इतिहास के ही वाक्यों, शब्दों एवं प्रयोगों का हवाला देते चले जाते हैं। वाक्यों में सहृदय भावक की रसमग्नता के दर्शन नहीं होते वरन् दार्शनिक अध्येता की तटस्थता लक्षित होती है। ऐसा लगता है कि आपको अपने कथन पर विश्वास तो है किन्तु आसक्ति नहीं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाँति बीच-बीच में हृदय को बरबस खींच लेनेवाले वाक्यों का पुट भी आप नहीं दे पाते। किसी प्रकार के व्यंग या हास्य की प्रवृत्ति आपकी गद्य-शैली में नहीं पाई जाती। आपकी गद्य-शैली के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं--"आबजेक्टिव दृष्टिकोण काफी सीमा तक सबजेक्टिव शैली में व्यक्त होने के कारण बमा हुआ और विश्लेषण में स्पष्ट नहीं हो सका है, किन्तु चतुर्वेदीजी की शैली भी अपने ढंग की एक नई शैली है जिसकी विशेषता यह है कि सीधे और सरल ढंग से आत्माभिव्यक्ति में मर्यादित नीति का अनुसरण करते हुये चलती है।[2]

जो भी हो, हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचक नहीं है कि आज, चतुर्वेदीजी के कृतित्व को यदि अलग कर दिया जाय तो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जायगा।

---

१. आलोचना विशेषांक, अंक ६, पृष्ठ १३
२. अवन्तिका वर्ष १, अंक १०, अगस्त १९५३, पृष्ठ ९५

आलोचना के मानदंड के सम्बन्ध में आपकी किसी सार्वभौम एवं चिरन्तन सिद्धान्त के प्रति आस्था नहीं है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुये आपने अपने एक पत्र में लिखा है—"साहित्य का स्वरूप कभी चिरन्तन रूप से सार्वभौम नहीं हो सकता और न वह व्यक्तिगत रचना के सिद्धान्तों की कसौटी होता ही रह सकता है। जिन विभिन्न रचनाओं ने आज साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थान बना लिया है उनके रचना-काल का मानदंड ठीक आज ही का-सा नहीं था। उन दिनों जो बातें उनके लिये आधार स्वरूप थीं वे सभी आज मान्य नहीं हो सकतीं। आज उनके Form से अधिक उनके Matter पर ही हमारी दृष्टि जाती है और उसे भी हम बहुधा शुद्ध मानवता की ही व्यापक दृष्टि से देखना चाहते हैं। फिर किसी मानदंड को अपने सामने लाते समय हमारा ध्यान अनिवार्य विभिन्न दृष्टिकोणों की ओर भी चला जाता है, जो साहित्यिक, सामाजिक या अन्य बातों के कारण उसे बहुत कुछ मर्यादित भी बना देते हैं। अस्तु, आलोचना का मानदंड इस प्रकार की आवश्यक बातों को ध्यान में रखकर ही निश्चित किया जाना चाहिये और तभी वह न्यायसंगत व व्यापक भी हो सकेगा।"[1] 'कबीर-साहित्य की परख' में आपने इसी उदार किन्तु मर्यादित मानदण्ड का आधार ग्रहण किया है।

'वैष्णवधर्म' में विवरण की ही प्रधानता है। इसमें विश्लेषण का आधार नहीं लिया गया है। वस्तुतः यह वैष्णव धर्म का इतिहास कहा जा सकता है। इसमें न तो वैष्णवधर्म के मूल तत्वों का विश्लेषण किया गया है और न व्यावहारिक दृष्टि से उसके मूल्यों का आकलन ही प्रस्तुत किया गया है। इस धार्मिक आन्दोलन से प्रेरित मध्ययुग के साहित्य की प्रगतिशील तथा स्वस्थ चेतना की चर्चा भी चतुर्वेदीजी ने नहीं की है। किन्तु अन्य कृतियों में ऐसा नहीं हुआ है। हाँ, यह अवश्य है कि आलोच्य विषय पर मनन करते समय, चतुर्वेदीजी, किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विचारों की काँट-छाँट मन में ही कर लेते हैं। अभिव्यक्त करते समय सारी सामग्री पूर्व निश्चित क्रम से सजा देते हैं। फलस्वरूप वह कोरे विवरण-सी प्रतीत होने लगती है। वे कभी भी इस प्रकार विचार करते हुये नहीं चलते कि 'अब प्रश्न यह उठता है; या यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो, आदि-आदि।' प्रायः वे कृतिकार के दृष्टिकोण से ही 'कृति' की परख करने की चेष्टा करते हैं, अतः मत-वैभिन्य के लिये गुंजाइश नहीं रहती। आपने 'आलोचना और अनुसन्धान' शीर्षक निबन्ध में कुछ आलोचना-सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हुये लिखा है—'युग-विशेष की विचार-धारा अथवा उसकी प्रवृत्तियों

---

१. चतुर्वेदीजी के ३।११।१०।५४ के बलिया से लेखक को लिखे गये पत्र से।

की ओर अधिक ध्यान देने के कारण कभी-कभी हम अपने आलोच्य ग्रन्थ के कवि या लेखक के व्यक्तित्व अथवा उसकी योग्यता के प्रति भी न्याय करने में पूर्णरूप से समर्थ नहीं हो पाते।'[1] आप किसी भी कृतिकार को युग-विशेष की देन मात्र स्वीकार नहीं करते।

चतुर्वेदीजी का गद्य रोचक नहीं है। उसमें गम्भीरता प्रौढ़ता एवं व्यापकता होते हुये भी एक प्रकार की रुक्षता बराबर देखी जा सकती है। कहीं-कहीं तो आप कई-कई पंक्तियों में कृतिकार के ही वाक्यों, शब्दों एवं प्रयोगों का हवाला देते चले जाते हैं। वाक्यों में सहृदय भावक की रसमग्नता के दर्शन नहीं होते वरन् दार्शनिक अध्येता की तटस्थता लक्षित होती है। ऐसा लगता है कि आपको अपने कथन पर विश्वास तो है किन्तु आसक्ति नहीं। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाँति बीच-बीच में हृदय को बरबस खींच लेनेवाले वाक्यों का पुट भी आप नहीं दे पाते। किसी प्रकार के व्यंग या हास्य की प्रवृत्ति आपकी गद्य-शैली में नहीं पाई जाती। आपकी गद्य-शैली के सम्बन्ध में श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—"आबजेक्टिव दृष्टिकोण काफी सीमा तक सबजेक्टिव शैली में व्यक्त होने के कारण कसा हुआ और विश्लेषण में स्पष्ट नहीं हो सका है, किंतु चतुर्वेदीजी की शैली भी अपने ढंग की एक नई शैली है जिसकी विशेषता यह है कि सीधे और सरल ढंग से आत्माभिव्यक्ति में मर्यादित नीति का अनुसरण करते हुये चलती है।"[2]

जो भी हो, हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी हिचक नहीं है कि आज, चतुर्वेदीजी के कृतित्व को यदि अलग कर दिया जाय तो मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का अध्ययन अधूरा रह जायगा।

---

१. आलोचना विशेषांक, अंक ६, पृष्ठ १३

२. अवन्तिका वर्ष १, अंक १०, अगस्त १६५३, पृष्ठ ३५

सुमित्रानन्दन पंत

पंतजी मुख्यतः कवि हैं। उनकी गद्य-रचनायें उनकी काव्य-कृतियों की भूमिका रूप में प्रस्तुत हुई हैं। एक प्रकार से अपने काव्य की अन्तर्धारा स्पष्ट करने के लिये ही उन्हें आलोचक बनना पड़ा है। इधर 'गद्य-पथ' नाम से उनकी समस्त गद्य-रचनाओं का एक संग्रह भी प्रकाशित हुआ है।

पन्तजी स्वीकार करते हैं कि उनकी चिन्ता-धारा क्रमशः कवीन्द्र-रवीन्द्र, विवेकानन्द, महात्मागांधी, मार्क्स और अरविन्द से प्रवाहित हुई है। साथ ही पंतजी यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उनकी मान्यताओं में कभी कोई आमूल परिवर्तन नहीं हुआ है। उनकी अन्तश्चेतना कभी समतल सञ्चरण और कभी ऊर्ध्व सञ्चरण करती रही है। संक्षेप में उन्होंने अपने विचारों को इस रूप में प्रकट किया है—"संक्षेप में मैंने मार्क्सवाद के लोक-संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय-दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्श-वाद दोनों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है। × ×पदार्थ (मैटर) और चेतना (स्पिरिट) को मैंने दो किनारों की तरह माना है जिनके भीतर जीवन का लोकोत्तर सत्य प्रवाहित एवं विकसित होता है। भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत और अणु शक्ति की सबल टाँगों पर प्रलय-वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की तर्कों-वादों में बिखरी हुई चेतना उनका सञ्चालन करने में किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सकेगी। इसलिये सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अंतश्चेतना में भी युगान्तर का होना अवश्यंभावी है।"[1]

अपनी इसी मान्यता के कारण पन्तजी, आदर्श और यथार्थ, पदार्थ और चेतना, अन्तः और बाह्य, समतल और ऊर्ध्व, मनः संगठन और लोक-संगठन, जनतन्त्रवाद और अन्तश्चेतनावाद, वैयक्तिकता और सामाजिकता, भौतिकता और आध्यात्मिकता, अद्वैतवाद और साम्यवाद तथा पूर्व और पश्चिम को परस्पर एक दूसरे का पूरक मानते हैं। इनके समन्वय से एक नवीन मानवतावाद की स्थापना करना चाहते हैं जो विश्वकल्याण के लिये आवश्यक है।

काव्य में आपने सौंदर्य की प्रधानता स्वीकार की है। साथ ही आप शिव और सत्य की अवहेलना भी नहीं करना चाहते 'आधुनिक कवि' की भूमिका में आप लिखते हैं 'सत्य, शिव में स्वयं निहित है जिस प्रकार फूल में रूप-रंग है, फल में जीवनोपयोगी रस और फूल की परिणति फल में सत्य के नियमों द्वारा ही

---

१. प्रतीक ३, शरद, पृष्ठ १००

होती है उसी प्रकार सुन्दरम् की परिणति शिवं में सत्य द्वारा ही होती है।"[1] यहाँ भी आपका समन्वयवादी दृष्टिकोण ही स्पष्ट हुआ है।

काव्य-भाषा के सम्बन्ध में आपका मत है कि—

"भाव और भाषा का सामञ्जस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्रराग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गये हों, निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हों, छुड़ाये न जा सकते हों।"[2]

वाणी को आप अयास प्रवाहित करने के पक्ष में हैं उसे अलंकरणों की आवश्यकता नहीं। उसे छन्द के बन्धन की भी आवश्यकता नहीं। वह मुक्त होकर प्रवाहित होगी।

कला के प्रयोजन के सम्बन्ध में विचार करते हुये भी पन्तजी ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण सामने रखा है। वे कहते हैं, "इस गरिमामय विराट् व्यक्तित्व के शिखर पर खड़े तब हम देख सकेंगे कि व्यक्ति और समाज, श्रेय और प्रेय, अंतर और बाह्य, स्वांतः और बहुजन कला और जीवन, एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि एक दूसरे के पूरक हैं।"[3]

गद्य-पथ के प्रथम खंड में पन्तजी की प्रकाशित काव्य कृतियों की भूमिकाओं का संग्रह किया गया है। द्वितीय खंड में कुछ निबन्ध, कुछ भाषण, कुछ संस्मरण, और कुछ वार्तायें हैं। सांस्कृतिक निबन्धों—भारतीय संस्कृति क्या है? भाषा और संस्कृति, सांस्कृतिक आंदोलन, सांस्कृतिक चेतना, कला और संस्कृति—की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। 'काव्य-संस्मरण' तथा 'मेरी पहिली कविता' ये दोनों संस्मरणात्मक लेख पन्त के हृदय की कोमलता तथा संवेदनशीलता का उद्घाटन करते हैं। 'यदि मैं कामायनी लिखता' निबन्ध एक नया प्रयोग है, जिसमें एक ही स्कूल के एक श्रेष्ठ कवि ने दूसरे महाकवि की श्रेष्ठतम कृति की अपने ढंग से आलोचना की है। इस निबन्ध में 'प्रसाद' के जीवन-दर्शन की आलोचना करते हुये पन्तजी ने लिखा है, 'श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक-जीवन की ओर नहीं लौट आये। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपेषित निदान है; किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँचकर और वह भी व्यक्तिगत रूप से?'[4]

---

१. आधुनिक-कवि, २, पृष्ठ ६ (पन्त)
२. 'आधुनिक-कवि' की भूमिका
३. गद्य-पथ, पृष्ठ १४५
४. गद्य-पथ, पृष्ठ १६२

निश्चित है कि पन्तजी जीवन के संघर्षों का समाधान वैयक्तिक रूप से नहीं चाहते। साथ ही अति सामाजिकता भी उन्हें मान्य नहीं। वे दोनों का समन्वय चाहते हैं। इसीलिये 'प्रसाद' का यह वैयक्तिक 'सामरस्य' उन्हें मान्य नहीं।

शैली और भाषा की दृष्टि से पन्त के गद्य में किसी प्रकार की विविधा नहीं लक्षित होती। उनका गद्य, काव्य की सभी विशेषताओं से युक्त है। उसमें यदि विचारों की विविधता होती तो निश्चय ही उसके स्वरूप में अनेकरूपता देखी जा सकती। ऐसा लगता है कि अब पन्तजी को कुछ नहीं कहना है। वे जीवन की समस्त विषमताओं का अन्तिम समाधान प्राप्त कर चुके हैं। उनके विचारात्मक निबन्धों में भी एक ही तथ्य अनेक रूपों में व्यक्त हुआ है।

आपकी गद्य-शैली के मुख्यतः तीन रूप देखे जा सकते हैं। (क) अत्यधिक भावात्मक (जो गद्यकाव्य से किसी तरह भिन्न नहीं होता) (ख) सामान्य रूप (जो संयमित, प्रसाद गुणयुक्त तथा प्रवाहमय होता है) (ग) विचारात्मक (जिसमें गम्भीरता एवं चिन्तन की प्रधानता रहती है)।

संस्मरणों, भाषणों तथा वार्ताओं की गद्य-शैली सामान्य और भावात्मक है। काव्य-कृतियों की भूमिका रूप में लिखा गया गद्य चिन्तन-प्रधान और विचारात्मक है। इन विचारात्मक निबन्धों में कहीं-कहीं विचार इतने सूक्ष्म एवं दार्शनिक हो गए हैं कि शब्दों की पुरानी व्यञ्जना के स्थान पर उनमें नई अभिव्यक्ति, लाई गई है। उनकी प्राचीन-मर्यादा बदल गई है। काव्यगत अलंकरण की प्रवृत्ति इस विचार-प्रधान गद्य-शैली में भी पायी जाती है। पन्तजी की सामान्य गद्य-शैली का स्वरूप कुछ इस प्रकार का है—

"आप केवल पाठ्य-पुस्तकों को रटकर ही साहित्य के अन्तस्थल में नहीं पैठ सकते, और न उसका महत्व ही समझ सकते हैं। साहित्य की ओर आकर्षित होना और उसका रस ले सकना ही पर्याप्त नहीं है। साहित्य के मर्म को समझने का अर्थ है वास्तव में मानव-जीवन के सत्य को समझना। साहित्य अपने व्यापक अर्थ में मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है।"[1]

पन्तजी के भाव-प्रधान काव्यात्मक गद्य का एक सुन्दर नमूना देखिये—

"युगवाणी में आप टेढ़ी-मेढ़ी, पतली-ठूँठी टहनियों के वन का दूर तक फैला हुआ 'वासांसि जीर्णानि विहाय', सौन्दर्य देखेंगे, जिससे नव प्रभात की सुनहली किरणें बारीक रेशमी जाली की तरह लिपटी हुई हैं; जहाँ ओसों के झरते हुये अश्रु आगत स्वर्णोदय की आभा में हँसते हुये से दिखाई देते हैं; जहाँ शाखा-प्रशाखाओं के अंतराल से—जिनमें अब भी कुछ विवर्ण पत्ते अटके हुये हैं—

---

१. गद्य-पथ, पृष्ठ २०५

छोटे बड़े, तरह-तरह के भावनाओं के नीड, जाडों की ठिठुरती-कांपती हुई महा-निशा के युगव्यापी त्रास से मुक्त होकर, नवीन कोपलों से छनते हुये नवीन आलोक तथा नवीन ऊष्णता का स्पर्श पाकर, फिर से संगीत मुखर होने का प्रयत्न कर रहे हैं।"[1]

कहना न होगा कि उपर्युक्त गद्य-खंड उपमा-उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से युक्त पूरी कविता है। केवल स्वरूप गद्य का है आत्मा कविता की। आपके विचार-प्रधान गद्य की शैली इससे भिन्न है। उसका एक संक्षिप्त उदाहरण इस प्रकार है—

"भारतीय दर्शन भी आधुनिकतम भौतिक दर्शन (मार्क्सवाद) की तरह सत्य के प्रति एक उपनयन (एप्रोच) मात्र है, किन्तु अधिक परिपूर्ण; क्योंकि वह पदार्थ, प्राण (जीवन), मन तथा चेतना (स्पिरिट) रूपी मानव-सत्य के समस्त धरातलों का विश्लेषण तथा संश्लेषण कर सकने के कारण उपनिषत् (पूर्ण एप्रोच) बन गया है।"[2]

प्राचीन शब्दों को नई मर्यादा स्थापित करने में पन्तजी को स्थल-स्थल पर समानार्थी अंग्रेजी-शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। कहीं-कहीं नया अर्थ कोष्ठ में आगे लिख देना पड़ा है। उदाहरण के लिये युग (लोक), जन संघर्ष (राज-नीतिक धरातल), सामाजिक चेतना (संस्कृति), आन्तरिक (आध्यात्मिक), मनः संगठन (संस्कार), भाग्य (भावी), बहिर्मुखी (समतल), अन्तर्मुखी (ऊर्ध्व), नवीन सामाजिकता (मानवता), स्वप्न-क्रान्त चाँदनी (चेतना), सतरंग ऐश्वर्य (विकास) आदि शब्दों के नवीन अर्थ कोष्ठों में लिख दिये गये हैं। इसी प्रकार उपनयन (एप्रोच), अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स), हेतुवाद (रेशनलिज्म), जड़-चेतन (मैटर-स्पिरिट) आदि अंग्रेजी के समानार्थी शब्दों को भी कोष्ठ में लिख दिया गया है।

वस्तुतः पन्तजी का व्यक्तित्व कवि का व्यक्तित्व है। उनका गद्य-साहित्य उनकी काव्य-कृतियों की भाव-विचार समन्वित समीक्षा है। जिसमें काव्य-तत्त्वों का पर्याप्त अंशों में समावेश हुआ है। फिर भी वह हिन्दी-गद्य-साहित्य में अपनी विशिष्टताओं के लिये महत्वपूर्ण है।

---

१. 'युगवाणी' की भूमिका
२. उत्तरा की भूमिका

महादेवी वर्मा

महादेवी का गद्य-साहित्य, उनकी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं, उनके संस्मरणों—'स्मृति की रेखायें', 'अतीत के चलचित्र', 'चाँद' की सम्पादकीय टिप्पणियों—'शृंखला की कड़ियाँ'—तथा उनके विवेचनात्मक गद्य-संग्रह में बिखरा हुआ है। महादेवी के विवेचनात्मक गद्य में 'काव्य-कला', 'छायावाद', 'रहस्यवाद', 'गीतिकाव्य', 'यथार्थ और आदर्श' तथा 'सामयिक समस्या' पर उनके विचार प्रकट हुये हैं। अपनी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं में भी उन्होंने साहित्य, काव्य और कला के सम्बन्ध में गहराई से विचार किया है। इन दोनों के आधार पर महादेवी के साहित्य-सिद्धान्त का अध्ययन अच्छी तरह किया जा सकता है।

'चाँद' की सम्पादकीय टिप्पणियाँ ही पुस्तकाकार 'शृंखला की कड़ियाँ' नाम से प्रकाशित हुई हैं। इसमें भारतीय नारी के प्रति गहरी समवेदना प्रकट हुई है। उसके जीवन की अनेक समस्याओं को प्रत्यक्ष किया गया है। वस्तुतः इसमें भारतीय नारी का समाज के प्रति आक्रोश जाग उठा है। 'अतीत के चल-चित्र' में महादेवी के जीवन में आनेवाली वे मानव-मूर्तियाँ आकार ग्रहण कर सकी हैं जिनका व्यक्तित्व मनुष्यता, सरलता और ममता से सजीव था, जिन्होंने महादेवी को समवेदना को आधार दिया है और जो अब अपनी स्थूलता में अतीत की वस्तु किन्तु सूक्ष्मता में उनकी कला के आधार हैं। 'स्मृति की रेखाओं' में साकार मानवचित्र करुण, सरल, और ममत्व पूर्ण हैं किन्तु वे अभी अतीत की वस्तु नहीं बन सके हैं।

महादेवी के चिन्तन के क्षणों ने हमें बहुत कुछ दिया है। काव्य-कला तथा साहित्य के अन्य मूलभूत तत्वों के अतिरिक्त सामयिक समस्याओं पर भी उनके विचार इन्हीं क्षणों में उद्भूत हुये हैं। संक्षेप में उनके विचारों को हम निम्न-लिखित रूप में देख सकते हैं—

काव्य और कला

महादेवी, काव्य का साध्य सत्य की उपलब्धि मानती हैं। यह सत्य अपनी एकता में असीम है और अपनी स्थिति में अखण्ड है। सौन्दर्य वह साधन है जिससे हम सत्य की अनुभूति कह सकते हैं। सौंदर्य (साधन) के माध्यम से 'सत्य' (साध्य) की अनुभूति की प्रक्रिया आनन्द-मय है। सौंदर्य, परिचय-स्निग्ध खंड है और सत्य, विस्मय भरा अखंड। इस परिचित खंड से विस्मय भरे अखंड की अनुभूति वस्तुतः आनन्द रूप है। हमारा बहिर्जगत ज्ञान-क्षेत्र है और अन्तर्जगत भाव-क्षेत्र। सत्य अपनी पूर्णता में इन दोनों सीमाओं में व्याप्त है। काव्य और कलाओं का आविष्कार

इसी पूर्ण सत्य को अभिव्यक्ति के लिये किया गया है। बाह्य जगत और अन्तर्जगत, ज्ञान-क्षेत्र और भाव-क्षेत्र, मस्तिष्क और हृदय, 'काव्य या कला' जीवन के इन उभय पक्षों का मानो सन्धिपत्र है। अतः काव्य या कला का सत्य जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य है।[1] महादेवी 'काव्य' और 'कला' को एक ही धरातल पर रखकर देखती हैं। दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं मानती। सौंदर्य के विषय में भी महादेवी की मान्यता व्यापक है। उनके अनुसार सत्य की अभिव्यक्ति देनेवाला कलागत सौंदर्य जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणिजगत की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्तर्जगत की रहस्यमयी विविधता सब कुछ सौंदर्य कोष के अन्तर्गत है।[2] काव्य या कला को बुद्धि और हृदय का सन्धिपत्र मानते हुये भी महादेवी का पूर्ण विश्वास है कि 'काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचनेवाली विशेष विचार पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।[3] महादेवी ने कला में शिव का बहिष्कार नहीं किया है वे स्वीकार करती हैं कि "कला के पारस का स्पर्श पा लेनेवाले का कलाकार के अतिरिक्त कोई नाम नहीं; साधक के अतिरिक्त कोई वर्ग नहीं, सत्य के अतिरिक्त कोई पूँजी नहीं, भाव-सौंदर्य के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं और कल्याण के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं।"[4]

छायावाद

छायावाद के विषय में महादेवी ने विस्तार से विचार किया है। वे कहती हैं "छायावाद करुणा की छाया में सौंदर्य के माध्यम से व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही है।"[5] इस परिभाषा में छायावाद के कई तत्वों का समाहार हो गया है। इन तत्वों को निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं—

"छायावादी काव्य की अनुभूति में 'करुणा', अभिव्यक्ति में 'सौंदर्य' है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण 'भावात्मक' है और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि 'सर्ववाद' की है।"

---

१. दीपशिखा की भूमिका, पृष्ठ ६

२. वही, पृष्ठ ७

३. वही, पृष्ठ १७

४. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ २४०

रहस्यवाद

महादेवी 'रहस्यवाद' को छायावाद का दूसरा सोपान मानती हैं। छायावादी कवि ने प्रकृति की अनेकरूपता में असीम चेतना की झलक पायी थी। उसने इसे अपने हृदय में ससीम कर लेना चाहा था। रहस्यवादी कवि ने इस अनेकरूपता के कारण को लक्ष्य करना चाहा फलतः उसने एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण करके उसके निकट आत्मनिवेदन करना प्रारंभ किया। आधुनिक रहस्यवाद की पृष्ठभूमि की ओर संकेत करते हुये महादेवीजी उसमें परा विद्या की अपार्थिवता, वेदान्त के अद्वैत की छाया, लौकिक प्रेम की तीव्रता तथा कबीर के दाम्पत्यभाव से मिली-जुली एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि मानती हैं। आपकी निश्चित मान्यता है कि रहस्यवाद में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं उन सबके मूलरूप हमें उपनिषदों की विचारधारा में मिल जाते हैं। रहस्य-भावना के लिये द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।[1]

यथार्थ और आदर्श

आदर्श और यथार्थ सम्बन्धी धारणा को महादेवी ने बड़े ही सरल शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहती हैं "जीवन प्रत्यक्ष जैसा है और हमारी परिपूर्ण कल्पना में जैसा है, वही हमारा यथार्थ और आदर्श है।"[2] दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यथार्थ, जिसके पास आदर्श का स्पन्दन नहीं केवल शव है और वह आदर्श जिसके पास यथार्थ का शरीर नहीं, प्रेत मात्र है। कलाकार दोनों का सामञ्जस्य उपस्थित करता है। सृजन के लिये दोनों की सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति आवश्यक है। कलाएँ मूलतः सृजनात्मक हैं अतः उन्हें आदर्श से आकार और यथार्थ से सजीवता दोनों ग्रहण करना पड़ता है। आज की एकान्त बौद्धिकता ने काव्य की स्थिति को एकांगी बना दिया है।

प्रगतिवाद

आज के 'प्रगतिवाद' को महादेवीजी मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद का काव्य में असफल अनुवाद मानती हैं। दूसरी विचारधाराओं से विरोध, भारतीय जीवन से विच्छिन्नता विदेशीय साहित्य की विशेषता और अपनी संस्कृति के सम्बन्ध में विकृत भावना इसके समर्थकों की विशेषता है। प्रगतिवादी धारा ने अपना उत्कृष्ट निर्माण सामने रखने से पहले ही उत्कृष्ट साहित्य-सृजन कर चुकनेवाली विचारधाराओं

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ १२८

२. वही पृष्ठ १०५

की अनुपयोगिता प्रमाणित करने में सारी शक्ति लगा दी। छायावादी केवल पलायनवादी हैं, सूर-तुलसी सामन्तयुग के प्रतीक हैं, कालिदास जैसे कवि राजदरबार के भाट मात्र हैं, वेदकालीन ऋषि प्रकृति पूजक के अतिरिक्त कुछ नहीं, इस प्रकार के तर्क प्रगतिवादियों के अस्त्र-शस्त्र हैं।[1] महादेवी का निश्चित मत है कि यह प्रगतिवाद रूस को भी प्रमाण माने तो भी उसे अपने दृष्टि-बिन्दु में आमूल परिवर्तन करना होगा, क्योंकि आज की हीन भावना और वासना-व्यवसाय को न रूस के व्यवहार जगत में समर्थन मिलेगा न उसके काव्य-साहित्य की समष्टि में।[2]

स्वयं महादेवी के शब्दों में 'शृंखला की कड़ियाँ' भारतीय नारी की विषम परिस्थितियों की धुँधली रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न है। महादेवी ने नारी के बन्धनों को अपनी इच्छा से स्वीकृत माना है। उसे

शृंखला की कड़ियाँ

काट फेंकने में वे किसी की अनुमति लेना आवश्यक नहीं समझतीं किन्तु अपने व्यक्तित्व की, नारी सुलभ विशेषताओं की रक्षा करते हुये वे बन्धन से मुक्ति चाहती हैं। "परन्तु इतना ध्यान रहना चाहिए कि बेड़ियों के साथ ही उसी अस्त्र से, बन्दी यदि पैर भी काट डालेगा तो उसको मुक्ति की आशा दुराशा मात्र रह जावेगी"[3] भारतीय नारी की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करते हुये आप लिखती हैं, "इस समय तो भारतीय पुरुष जैसे अपने मनोरंजन के लिये रंग-बिरंगे पक्षी पाल लेता है, उपयोग के लिये गाय या घोड़ा पाल लेता है उसी प्रकार वह एक स्त्री को भी पालता है तथा अपने पालित पशु-पक्षियों के समान ही वह उसके शरीर और मन पर अपना अधिकार समझता है।"[4] वास्तव में देश-विशेष की सामाजिक उच्चता का मापदण्ड स्त्री की सामाजिक स्थिति ही है। वैदिक-काल में भी भारतीय नारी की धार्मिक एवं सामाजिक उच्चता के बावजूद उसकी आर्थिक स्थिति सोचनीय थी। आर्थिक दृष्टि से भारतीय नारी उस समय भी परतन्त्र थी। नारी की सभी समस्याओं के मूल में यही आर्थिक स्थिति कार्य करती रही है। "जिनकी लज्जाहीनता से जीवन लज्जित है, उनमें भी अधिकांश की दुर्दशा का कारण अर्थ की विषमता ही मिलेगी।" समाज ने स्त्री के सम्बन्ध में अर्थ का ऐसा विषम विभाजन किया है कि साधारण श्रमजीवी वर्ग से लेकर सम्पन्न वर्ग की स्त्रियाँ

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ २३४-३५

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृष्ठ २४६

३. शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १७

४. वही पृष्ठ ८३

तक की स्थिति दयनीय ही कही जाने योग्य है।[1] नारी की दयनीयता का थोड़ा उत्तरदायित्व स्वयं उसके ऊपर भी है। वह जीने की कला नहीं जानती। उसके पास उच्चातिउच्च सिद्धान्तों की कमी नहीं किन्तु वह उन्हें व्यावहारिकरूप नहीं दे सकती। "जीवन का चिह्न केवल काल्पनिक स्वर्ग में विचरण नहीं है, किन्तु संसार के कंटकाकीर्ण पथ को प्रशस्त बनाना भी है। जब तक बाह्य तथा आन्तरिक विकास सापेक्ष नहीं बनते, हम जीना नहीं जान सकते।"[2]

'शृंखला की कड़ियाँ' का आक्रोश, संस्मरणों में समवेदना के रूप में बदल गया है। आक्रोश समाज के प्रति और समवेदना उन करुण और ममत्वपूर्ण मानव-मूर्तियों के प्रति है जो महादेवी के हृदय में स्थान बना चुकी हैं। रामा (नौकर), मारवाड़ी युवती विधवा, मातृहीन बालिका बिन्दा, पतित्यक्ता सबिया, पुनर्विवाहित रोगिणी विधवा, बाल विधवा माता, पितृहीन घीसा, पतिप्राणा कही जानेवाली माँ की विधवा पुत्री, नेत्रहीन अलोपी, विधुर बदलू, चिर वियोगिनी लछमा, भक्तिन, चीनी फेरीवाला, डोटियाल जग बहादुर, मुन्नू और उसकी माई, ठकुरीबाबा, बिबिया धोबिन और गुँगिया तेलिन सभी करुणा, ममता और सरलता की साकार प्रतिमायें हैं। महादेवी के करुणा-वर्णों में सिक्त होकर इनका व्यक्तित्व और भी करुण हो गया है। इनकी स्थिति समाज के लिये चुनौती है। वस्तुतः वर्णमय चित्रों में साकार ये व्यक्तित्व महादेवी की अनुपम कलाकृतियाँ हैं जिनमें हमारी सामाजिक विषमता प्राणवान हो उठी है।

अतीत के चलचित्र और स्मृति की रेखायें

महादेवी की गद्य-शैली के सामान्यतः तीन प्रकार देखे जा सकते हैं।

गद्य-शैली

(क) चिन्तन प्रधान विवेचनात्मक गद्य।
(ख) चित्रण प्रधान कलात्मक गद्य।
(ग) ओज प्रधान विचारात्मक गद्य।

चिन्तन प्रधान विवेचनात्मक गद्य का स्वरूप उनकी काव्य-कृतियों की भूमिकाओं तथा उनके विवेचनात्मक गद्य-संग्रह में देखा जा सकता है। इनमें प्रत्येक वाक्य मानो चिन्तन की गहराई लेकर उभर आया है। वाक्यों की गति संयमित है। विचार स्पष्ट हैं। वाक्यों के साथ कोरी जानकारी का परिचय नहीं अनुभूति की सच्चाई प्रकट होती है। ये कहीं चिन्तन में सिमट कर छोटे और कहीं अनुभूति में उमड़कर बड़े हो गये हैं। एक उदाहरण अप्रासंगिक न होगा।

"जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में

१. शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १०८-१०९
२. शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ १११

ही सम्भव है। काव्य या कला मानों इन दोनों का सन्धिपत्र है जिसके अनुसार बुद्धि वृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुये ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रंग रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः कला का सत्य जीवन की परिधि में सौंदर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखंड सत्य है।"[1]

चित्रण-प्रधान कलात्मक गद्य का स्वरूप उनके रेखाचित्रों में देखा जा सकता है। महादेवी केवल आकार प्रकार को ही नहीं विशिष्ट भावनाओं को आश्रय की मानसिक प्रतिक्रिया के साथ साकार कर देती है। अवज्ञा, खिसियाहट, और विवशता की एक मुद्रा देखिये—

"भक्तिन के गोल नथुने कुछ फैल जाते हैं, भृकुटियां कुछ कुञ्चित हो उठती हैं, माथे पर खिंची रेखायें सिमटने लगती हैं और ओठों के आसपास बिखरी झुर्रियां उलझ जाती हैं। पर वह उसे चाय देती है अवश्य। हां, यह सत्य है कि गिलास वही ढूंढ निकालती है जिसकी मुरादाबादी कलई के भीतर से पीतल झांकने लगी है।"[2]

बाहरी आकार प्रकार का एक प्रभावपूर्ण बिम्बात्मक चित्र देखिये—"इस बार रुककर, उत्तर देनेवाले को ठीक से देखने की इच्छा हुई। धूल से मटमैले सफेद किरमिच के जूते में छोटे पैर छिपाये, पतलून और पैजामे का सम्मिश्रित परिणाम जैसा पैजामा और कुरते तथा कोट की एकता के आधार पर सिला कोट पहने, उधड़े हुये किनारों से पुरानेपन की घोषणा करते हुये हैट से आधा माथा ढके, दाढ़ी-मूंछ विहीन दुबली नाटी जो मूर्ति खड़ी थी वह तो शाश्वत चीनी है।"[3]

ओज प्रधान विचारात्मक गद्य का नमूना 'शृंखला की कड़ियां' में देखा जा सकता है। एक संक्षिप्त उदाहरण देखिये—

"शताब्दियों की शताब्दियां आती जाती रहीं, परन्तु स्त्री की स्थिति की एकरसता में कोई परिवर्तन न हो सका। किसी भी स्मृतिकार ने उसके जीवन की विषमता पर ध्यान देने का अवकाश न पाया, किसी भी शास्त्रकार ने पुरुष से भिन्न करके उसकी समस्या को नहीं देखा।"[4]

---

१. दीपशिखा की भूमिका, पृष्ठ ६
२. स्मृति की रेखायें, पृष्ठ १०२
३. वही, पृष्ठ २१
४. शृंखला की कड़ियां, पृष्ठ १०३

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

निरालाजी का गद्य-साहित्य 'निबन्ध', 'उपन्यास', 'रेखाचित्र' तथा 'आख्या-यिका' रूप में हमारे सामने है। 'प्रबन्ध-प्रतिमा' उनके निबन्धों का संग्रह है। इसमें कुछ विचार, कुछ 'इंटर्व्यू', कुछ 'संस्मरण' कुछ अपनी कला की व्याख्या और कुछ अन्यों की कला की परख है। दो-तीन छोटे निबन्ध उपन्यासों और नाटकों के सम्बन्ध में हैं। और कुल चार निबन्ध सामाजिक समस्याओं को लेकर लिखे गये हैं। इन निबन्धों में निरालाजी का स्वाभिमान, हिन्दी के प्रति प्रेम, साहित्यिकों के प्रति उच्च भावना प्रकट हुई है। उनके कला एवं साहित्य सम्बन्धी विचार व्यक्त हुये हैं। साथ हैं उनका आलोचक या भावक का रूप भी उद्घाटित हुआ है।

साहित्य के सम्बन्ध में, प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन फैजाबाद के अधिवेशन में टण्डनजी के भाषण का जवाब देते हुये निरालाजी ने बहुत ही महत्वपूर्ण शब्द कहे हैं, "साहित्य दायरे से छूटकर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो

साहित्य

सत्य है, वह जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य, लोक से—सीमा से—प्रान्त से—देश से—विश्व से ऊँचा उठा हुआ है। इसीलिये वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का अर्थ है, 'लोक' जो कुछ देख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्यमात्र का साहित्य है, भावों से; केवल भाषा का एक देशगत आवरण उस पर रहता है।"[1] निरालाजी इसीलिये साहित्यकार को राजनीतिज्ञ, धर्मशास्त्री या समाजसुधारक से बहुत ऊँचा मानते हैं। साहित्यकारों का अपमान उन्हें कभी भी सह्य न हुआ।

निरालाजी 'काव्य-कला' को सौंदर्य की पूर्ण सीमा मानते हैं। वह केवल वर्ग, शब्द, छन्द, रस, अलंकार या ध्वनि के पृथक् सौंदर्य में सीमित नहीं हो सकती। उसका सौंदर्य इन सभी के सामञ्जस्य में है। जैसे फूल की

काव्य-कला

पूरी कला के लिये जड़, तना, डाल, पल्लव और रंग-रेणु-गन्ध सभी कुछ अपेक्षित है वैसे ही काव्य-कला के लिये शब्द, रस, ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि सभी कुछ आवश्यक है।[2] निरालाजी ने अपनी कला-कृतियों में कला की इस पूर्णता का सदैव ध्यान रखा है।

---

१. प्रबन्ध-प्रतिमा, पृष्ठ २५८
२. वही, „ २७२

कथाकार 'निराला'

कथाकार के रूप में निरालाजी का कृतित्व अधिक महिमामय है। उनका गद्य-साहित्य—'अप्सरा', 'अलका', 'प्रभावती', 'निरुपमा', 'चोटी की पकड़', 'चतुरी चमार', 'चमेली' (अधूरा) 'कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा' (रेखाचित्र), 'लिली', 'सखी' (आख्यायिका)—न केवल परिमाण में वरन् महत्ता में भी विशिष्ट स्थान का अधिकारी है। निरालाजी ने रोमैण्टिक प्रवृत्ति, नारी जीवन की उज्ज्वलता तथा रहस्यमयता एवं प्रेम के शुद्ध एवं विकृत रूपों की अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक जीवन की कुरूपता एवं विषमता पर भी अपना ध्यान केन्द्रित रखा है।

'अप्सरा' में मूलतः वेश्या की समस्या उठाई गई है। ताल्लुकदारों एवं सरकारी कर्मचारियों का वासनामय घृणित-जीवन भी चित्रित किया गया है। साथ ही सामाजिक जीवन के रूढ़िगत संस्कारों के प्रतीकों तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण के कुछ प्रतिनिधियों को भी मञ्च पर लाया गया है। कथाकार विदुषी वेश्या को किसी प्रकार भी हीन नहीं समझता। कनक सोचती है 'क्या वह मनुष्य नहीं है, अब तक मनुष्य कहलानेवाले समाज के बड़े-बड़े अनेक लोगों के जैसे आचरण उसने देखे हैं, क्या वह उनसे किसी प्रकार भी पतित है।' निरालाजी ने समाधान भी कर दिया है 'आदमी, आदमी है और ऊँचे शास्त्रों के अनुसार सब लोग एक ही परमात्मा से हुये हैं। 'अलका' में कथाकार ने जीवन की यथार्थता को विस्मृत नहीं होने दिया है। जमीदारों की वासना और अत्याचार, नारी की विवशता, किसानों की निरीहता और मजदूरों का दैन्य, सभी कुछ साकार हुआ है। भाषा स्थल-स्थल पर अधिक काव्यमय हो गई है। नारी की दिव्यता एवं उच्चता का चित्रण मनोयोगपूर्वक किया गया है। 'निरुपमा' में मूलतः बेकारी की समस्या को सामने रखा गया है। साथ ही ग्रामीण-जीवन की संकीर्णता, सामाजिक रूढ़ियाँ, ब्रह्म समाज का उदार दृष्टिकोण, विवाह की समस्या, जमींदारों का अत्याचार भी सहृदयता के साथ दिखाया गया है। उपन्यास का प्रमुख आकर्षण 'निरुपमा' की सृष्टि है। उसकी विवशता, उदारता, एवं मानसिक संघर्ष चित्रित करने में निरालाजी ने पूर्ण कलात्मकता का परिचय दिया है। किसानों का दैन्य तो मानो स्वयं अपनी आत्मकथा कहने लगा है, "किसी तरह लाज बचाये हैं, असाढ़ का महीना है, अनाज नहीं रहा; छः छः रुपयेवाले खेत के तीन साल में अठारह-अठारह रुपये पड़ने लगे। डेढ़ी का अनाज तुम्हीं से लें, नजर निगाह ऊपर से। कहाँ तक दें? खेत न जोतें तो नहीं बनता, पापी पेट!" कुमार के चरित्र की दृढ़ता भी कम आकर्षित नहीं करती। 'चोटी की पकड़' में बंगाल के जमीदारों की ऐयाशी, प्रजा पर अत्याचार, तथा महलों की रँगरेलियों का बड़ा ही सजीव वर्णन है। कथाकार ने जीवन की दोनों भूमियों—अमीरी और गरीबी—की

विषमता का सुन्दर चित्रण किया है। 'प्रभावती' ऐतिहासिक रोमान्स है। इसमें मध्ययुग के सामन्त-जीवन की झलक देखी जा सकती है। इतिहास कम कल्पना अधिक है। वीरता का वैयक्तिक रूप, वंशगत अभिमान, जातिगत उच्चता और नीचता, वीरपूजा का विकृत रूप, पुरुषों की वासना, सामन्तों की ईर्ष्या एवं अधिकार-लोलुपता, राष्ट्रीय-भावना का अभाव, नारियों का स्फुट शौर्य, प्रजा का आतंक, विदेशियों का सगठित आक्रमण आदि सभी कुछ मूर्त किया गया है। विशेषता यह है कि कथाकार आधुनिक धर्मान्धता एवं ढोंग को नहीं भूल सका है। पंडित शिवस्वरूप अपने प्रकृत रूप में प्रकट होते हैं "हे-जमुना! सब ढोंग है। × × रामनाथ-नामनाथ जितने हैं—सब, किसके घर का नहीं खाते? बेसन के लड्डू में चना नहीं है? जजमान परसते हैं, सब खाते हैं और जजमान खाते वक्त छू-छूकर परसते हैं। × × हलवाई की बनाई पूड़ी नहीं खाते?—अब छूत कुछ सरग से आती है? एक ढोंग दिखावा है।" 'चतुरी चमार' 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' में निरालाजी का यथार्थवादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो गया है। इन रेखाचित्रों में निरालाजी ने ग्रामीणों के साधारण चित्रों को असाधारण स्वाभाविकता के साथ चित्रित किया है। 'चतुरी चमार' में किसान-आन्दोलन, जमींदारों का प्रकोप, और किसानों की पराजय का चित्रण है। चतुरी कथा का नायक है। वह मुकदमें मे हार जाता है किन्तु प्रसन्न है क्योंकि उसे एक बहुत बड़ा सत्य मालूम हो गया है 'जूता और पुर वाली बात कागज मे दर्ज नहीं है।' 'कुल्ली भाट' में निरालाजी ने पूरे युग पर बड़ा गहरा व्यंग्य किया है। 'बिल्लेसुर बकरिहा' में अवध का ग्रामीण-जीवन सजीव हो उठा है। सामाजिक रूढ़ियाँ, धार्मिक ढोंग, विचार संकीर्णता एवं आर्थिक दीनता, का बड़ा ही यथार्थ रूप खींचा गया है। जो सामाजिक दृष्टि से हीन हैं वे विधवा की अबोध कन्या में लासा लगाते हैं और अन्त में उसे स्वयं विधवा छोड़कर, धर्म की रक्षा करते हुये स्वर्ग सिधार जाते हैं। या दोस्त की मृत्यु के उपरान्त उसके परिवार को अपना बना लेते हैं; और जो समाज मे ऊँचे हैं "वे सब बने हुये हैं, असल में बड़े हैं नहीं।" निरालाजी का यह अनुभव ज्ञान है। इसकी भाषा की सजीवता और व्यावहारिकता तो हिन्दी गद्य-साहित्य में अकेली है। 'चमेली' निरालाजी की अधूरी कृति है। उसका एक ही परिच्छेद प्रकाशित हुआ था। 'लिली' और 'सखी' निरालाजी की कहानियों के संग्रह हैं। कहानियाँ मौलिक और सजीव हैं। नारी-जीवन के प्रति निराला की समवेदना और ममत्व इनमें भी देखा जा सकता है। इनमें कवि हृदय की सहज भावुकता भी साफ झलकती है।

निराला के उपन्यासों में कुछ ऐसी सामान्य विशेषतायें भी हैं जो हमारा ध्यान आकर्षित कर लेती हैं। ये विशेषतायें निम्नलिखित रूपों में लक्ष्य की जा सकती हैं।

सामान्य विशेषतायें

(क) प्रायः सभी उपन्यास (चतुरी चमार, कुल्ली भाट, और बिल्लेसुर बकरिहा के अतिरिक्त) स्त्री पात्रों के नाम पर लिखे गये हैं और स्त्री पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को ही व्यक्त करते हैं।

(ख) सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान कहे जा सकते हैं। नारी चरित्र अधिक उज्ज्वल और क्रियाशील हैं।

(ग) प्रेम का प्राधान्य सामान्यतः सभी में है। शुद्ध प्रेम की उच्चता को उत्कर्ष देने के लिये वासनामय प्रेम का भी चित्रण किया गया है।

(घ) सभी में काव्यत्व का प्राधान्य है। कहीं-कहीं तो कादम्बरी के काव्यात्मक वर्णनों की याद आ जाती है।

(ङ) सभी में कथाकार की दृष्टि सामाजिक समस्याओं की ओर रही है कहीं उनका स्पर्श और संकेत मात्र है और कहीं प्राधान्य।

(च) 'चतुरी चमार', 'कुल्ली भाट' और 'बिल्लेसुर बकरिहा' में पुरुष-पात्रों का प्राधान्य है और कलाकार का दृष्टिकोण यथार्थवादी हो गया है। ये उपन्यास से अधिक स्केच हैं। स्वयं लेखक इन्हें प्रगतिशील साहित्य का नमूना मानता है। नायकत्व जीवन के सामान्य पात्रों को दिया गया है। इनमें समाज पर बड़ा गहरा व्यंग्य किया गया है।

निरालाजी की गद्य-शैली के प्रमुखतः छः रूप देखे जा सकते हैं। (क) विवेचनात्मक गद्य-शैली, (ख) विचारात्मक शैली, (ग) वर्णनात्मक शैली, (घ) काव्यात्मक शैली, (ङ) व्यंग्यात्मक शैली, (च) वक्तृता शैली।

गद्य-शैली

विवेचनात्मक शैली में लेखक ने काव्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों के सौंदर्य का प्रकाशन करना चाहा है। निराला ने जहाँ अपनी कला की व्याख्या की है या अन्य कवियों की समीक्षा, वहाँ प्रायः इसी शैली का प्रयोग हुआ है। प्रायः निरालाजी ने तुलनात्मक आलोचना का आधार लिया है पहले विवेच्य प्रसंग का सामान्य अर्थ कर लिया है, इसके बाद काव्यकला के एक-एक तत्त्वों की परख की है। एक उदाहरण देखिये—

"इन पंक्तियों में सरलता का समुद्र लहरा रहा है। भावुक कवि राधिका के पूर्वराग में भावना को ही परिस्फुट कर रहा है। वह सौंदर्य नहीं देख रहा। जिस तरह उसके हृदय में आवेश है, उसी तरह राधिका के भी हृदय में। बाला अत्यन्त लज्जित, अत्यन्त मधुर, हृदय को पार कर जानेवाली, मौनों की एक

बहुत ही बारीक रेखा हो रही है।"[1] कहना न होगा कि इस विवेचन में आचार्यत्व की गुरुता कम कवि की भावुकता एवं सौंदर्य बोध अधिक है।

विचारात्मक गद्य का स्वरूप अधिक संयत है। उसमें बुद्धि की प्रेरणा और चिन्तन का प्राधान्य झलकता है। एक नमूना देखिये।

"मनुष्यों के समाज में अधिकार-समस्या शायद सृष्टि के आरम्भ से है। बाहरी संसार को देखने के साथ-साथ शायद स्वभावतः यह अधिकारवाद मनुष्यों में पैदा हुआ था। यदि इसी अधिकार को व्यापक दृष्टि से देखेंगे, तो मालूम होगा, मनुष्य जाति की सभ्यता का मूल भी यही है। जड़ और चेतन अधिकारों में ही मनुष्यों का इतिहास, दर्शन, समाज, साहित्य राजनीति और विज्ञान आदि हैं।"[2]

वर्णनात्मक शैली का प्रयोग प्रायः उपन्यासों में किया गया है। वर्णन भी दो प्रकार के हैं। सामान्य वर्णन एवं चित्रात्मक वर्णन। उपन्यासों में कहीं-कहीं सम्वाद-शैली के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। चित्रात्मक वर्णन का एक सुन्दर उदाहरण देखिये—

"सूरज डूब गया। बिल्लेसुर की आँखों में शाम की उदासी छा गई। दिशाएँ हवा के साथ सायँ-सायँ करने लगीं। नाला बहा जा रहा था जैसे मौत का पैगाम हो। लोग खेत जोतकर धीरे-धीरे लौट रहे थे; जैसे घर की दाढ़ के नीचे दबकर पिसकर मरने के लिये। चिड़ियाँ चहक रही थीं अपने-अपने घोंसले की डाल पर बैठी हुई, रो-रोकर साफ कह रही थीं, रात को घोसले में जंगली बिल्ले से हमें कौन बचायेगा? हवा चलती हुई इशारे से कह रही थी, सब कुछ इसी तरह बह जाता है।"[1] सम्पूर्ण प्राकृतिक दृश्य में एक करुण उदासी व्याप्त है। यह उदासी, आज के गावों और ग्रामीणों की उदासी है। एक प्रकार के अवसाद, निराशा, आशंका की मलिन छाया ने सम्पूर्ण चित्र को ढक लिया है।

काव्यात्मक गद्य-शैली का नमूना तो स्थल-स्थल पर देखा जा सकता है। रेखाचित्रों को छोड़कर अन्य सभी उपन्यासों में काव्यात्मक गद्य-खंडों की भरमार है। काव्यात्मकता का आधार प्रायः मनोभावों के चित्रण, अन्तर्द्वन्द्व या सौंदर्य-चित्रण में लिया गया है। एक नमूना देखिये—

"युवती के मनोभावों की सुखस्पर्श उधेड़ बुन में कुमार को बड़ी देर हो गई। रात काफी बीत चुकी थी, पर न पी हुई उस मधु को एक बार पीकर बार-बार पीने की प्यास बढ़ती गई। आँखें न लगीं, उन विरोधी भावों में प्राणों के

---

१. प्रबन्ध-प्रतिमा, पृष्ठ १६०
२. प्रबन्ध-प्रतिमा, पृष्ठ ७४
३. बिल्लेसुर बकरिहा, पृष्ठ ४४

पास तक पहुँचनेवाली इतनी शक्ति थी कि वह स्वयं उसकी धीरे-धीरे प्राणों को आवृत करनेवाली कोमलता से मिलता हुआ परास्त हो गया।"[1]

आवेश में आने पर निरालाजी अपने निबन्धों में भी वक्ता का रूप ले लेते हैं और उनकी गद्य-शैली भाषण-शैली सी हो जाती है। देखिये—"जनेऊ के समय के दंडधर ब्राह्मण बालक का दंड कहाँ चला गया? नहीं रखने की इच्छा, तो वह स्वाँग क्यों? यह भारतीयता और शालीनता समाज के सर्वोच्च कृत्य का एक विकसित रूप है! इसी तरह की और और बातें हैं, जहाँ स्वभावतः मन विद्रोह कर बैठता है।"[2]

निरालाजी के व्यंग्य बड़े मार्मिक होते हैं। कहीं-कहीं पात्रों का परिचय व्यंग्यात्मक शैली में देते हैं और कहीं-कहीं पूर्ण परिस्थिति को ही व्यंग्यात्मक बनाकर उपस्थित करते हैं। एक पात्र का व्यंग्यात्मक परिचय देखिये—"सुरेश के पिता योगेश बाबू पचपन पार कर चुके हैं। गृहस्थी की झंझटों से फुर्सत पा घर रहकर योग-साधन किया करते हैं। ध्यान सदा सुरेश पर रहता है कि नवयुवक गृहयुद्ध के दाँव पेंच भूलकर सहानुभूति में कहीं बहक न जाय।"[3]

निरालाजी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता, उसका विषयानुकूल स्वरूप परिवर्तन है। उसका सबसे अधिक प्राणवान रूप रेखाचित्रों में देखा जा सकता है। कलाकार की मनोभूमि ग्राम्य जीवन से तादात्म्य स्थापित कर लेती है। उसका व्यक्तित्व विभिन्न पात्रों में बँट जाता है। और वह उन्हीं की वाणी में बोलने लगता है। महादेवी के रेखाचित्रों में जहाँ एक प्रकार की आभिजात्य शालीनतायुक्त कलात्मक गद्य का स्वरूप मिलता है वहाँ निराला के गद्य में लोक जीवन की पूर्ण व्यञ्जना हुई है। ठेठ अवधी के शब्दों—बकरिहा, लग्गा, उकडूँ, लगुसी, खरिका, टुरई, उर्र्र्, खटोला, बरतौनी, आगभूभूका, तीगुर, बौंड़ी, अगरासन, कोलिया—तथा मुहावरों—डोरे डालना, लासा लगाना, दूधो पूतों फलना, अरथाकर पूछना, दूध का धोया होना, सिटपिटाना—का *यथा स्थान* सुन्दर प्रयोग हुआ है। प्रत्येक पात्र अभिनयात्मक ढंग से जीवन के समस्त अनुभव को जिह्वा पर रखकर बोलता है। लोकविश्वास, लोक-चातुर्य, *तथा* लोक-जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की व्यंजना सर्वत्र हुई है। वस्तुतः निरालाजी के *व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश अप्रकाशित रह जाता, यदि ये रेखाचित्र न* लिखे गये होते। उनके समस्त गद्य-साहित्य में उनके व्यक्तित्व का प्रकाश हुआ है।

---

१. निरुपमा, पृष्ठ १२
२. *प्रबन्ध-प्रतिमा*, पृष्ठ १४७
३. निरुपमा, पृष्ठ ३६

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का पूर्ण गद्य-साहित्य अभी व्यवस्थित रूप से सामने नहीं आया है। फिर भी, जितना और जो कुछ भी सामने है, वह उनकी महत्ता का सूचक है। 'प्रभा', 'प्रताप' और 'कर्मवीर' उनके सफल सम्पादन में अमर हो चुके हैं। 'कृष्णार्जुन युद्ध' ने उन्हें हिन्दी के नाटककारों में शीर्ष स्थान पर ला बिठाया है। यह हिन्दी का सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक किन्तु रंग-मञ्चीय नाटक है। 'साहित्य-देवता' उनके भावुक हृदय तथा चिन्तनशील मस्तिष्क का समन्वित चित्र है। समय-समय पर विभिन्न संस्थाओं तथा सम्मेलनों में दिये गये उनके भाषण न केवल उनकी उच्च साहित्यिक चेतना के प्रतीक हैं वरन् उनकी अद्भुत भाषण-क्षमता के परिचायक भी हैं। इनके अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी हुई, उनकी कलात्मक एवं हास्य-प्रधान कहानियाँ, रेखाचित्र सूक्तियाँ और निबन्ध उनके व्यक्तित्व के बहुमुखी स्वरूप को प्रत्यक्ष करते हैं। इधर 'आत्म-दीक्षा' (भाषणों का संग्रह), 'कला का अनुवाद' (कहानियों का संग्रह) तथा 'कहानी कहाम और कहावत' (हास्य-प्रधान कहानियों का संग्रह) नाम से उनके गद्य-साहित्य को व्यवस्थित रूप में प्रकाशित करने का आयोजन भी किया गया है।

चतुर्वेदीजी ने अपने भाषणों तथा काव्यात्मक निबन्धों में साहित्य, कला, साहित्य के उद्देश्य तथा कला की प्रेरक शक्तियों पर भी मत प्रकाशन किया है। साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये आपने कहा है

साहित्य

"जगत, साहित्य के पीछे, अनिवार्य चला आ रहा है। जगत के ऋषियों ने लोक-जीवन में फेरफार करने के लिये जो कुछ कहा, वाणी के द्वारा; वही वाणी संगृहीत होकर साहित्य कहलाई।"[1] साहित्य की यह धारा दो रूपों में प्रवाहित हुई। एक ज्ञान (शास्त्रज्ञान) के आधार पर, दूसरी अनुभव के बल पर। प्रथम ने आचार्यों और ज्ञानियों को प्रेरणा दी, द्वितीय ने सन्तों और भक्तों को। साहित्य ने सदैव युग को मार्ग दिखाया है। आज उसके सामने तीन प्रतिद्वन्द्वी आ खड़े हुये हैं। राजनीति, मनोविज्ञान और मशीन। फलस्वरूप साहित्यकार का दायित्व बढ़ गया है। उसे युग-निर्माण के लिये अपने को मिटा देना होगा। आज हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो

---

१. अ. भा. हिन्दी-साहित्य सम्मेलन (१९४३ ई०) के अध्यक्षपद से दिया गया भाषण।

जनता में जीवन फूंक सके। साथ ही अमर भी हो सके। साहित्य के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुये आपने कहा है—"हम लिखें वह जो प्रतिभा की नवीनता और विवेचन की ज्ञान-गर्भित-शैली के कारण अनन्त वर्षों तक जीने की अपने में सामर्थ्य रखे; × × हम लिखें वह जो कोटि-कोटि नरमुण्डों के स्वप्नों का जागरण हो सके और उतरते हुये आदर्श चढ़ते हुये पौरुष, उमड़ते हुये उद्योग और समर्पित होती हुई सेवा के पथ में अपना साहित्य बनकर ठहर सके। वह राहगीरों के समय काटने का कुल्हाड़ा मात्र न हो; किंतु समय का पथ-प्रदर्शक राहगीर भी हो सके।"[1]

उद्देश्य

'कला' और 'कलाकार' के विषय में चतुर्वेदीजी ने लिखा है "कलाकार क्या है? वह अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान की प्राणवान प्रेरक और कल्पक कूंची है।"[2] किन्तु इस महान कल्पक की कूंची से चित्रित 'कला-कृति' को समझने के लिये आवश्यकता है ऐसे व्यक्तित्व की जो मुसकुराहट और बेचैनी को समझ सकता है, जो जीवन और मृत्यु को समझ सकता है। क्योंकि "कलाकार की अँगुलियों की असफल खिलवाड़ों तक में एक मनुहार, एक अपील, एक वेदना, एक झाँकी और एक बेबसी होती है।"[3] कलाकार को अपने युग की स्फूर्ति का प्रकाशक मानते हुये भी चतुर्वेदीजी उसे अतीत से विच्छिन्न नहीं देखना चाहते। अतीत की अतल गहराई में भी वर्तमान को जीवन-रस देने की प्रेरणा छिपी हुई है। इसीलिये कलाकार "सुनहले भूतकाल को भी, अपनी अन्तर की आँखों की छोरों से इसलिये छूता है कि वह शक्ति भर भूतकाल की गहराई मापकर अपनी आकांक्षा का एक माप बना ले और उसको उठाकर जब वह भविष्य की ओर रख दे और उससे कुछ आगे अपनी कला-बिन्दुओं की सीमा खींच दे तो विश्व में युग से होड़ लेती हुई उसे अपनी एक अमर पीढ़ी दिखाई दे।"[4] आपकी दृष्टि में परम्परा शताब्दियों के संचित अध्ययन और अभ्यास का ही दूसरा नाम है। कोई भी पीढ़ी भूतकाल में किये गये प्रयोगों, परिणामों और प्रकटीकरणों से उदासीन रहकर, अध्ययन की दुनिया में अथवा कला के क्षेत्र में जीवित नहीं रह सकती।

कला और कलाकार

---

१. अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १६४३, अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण
२. साहित्य देवता, पृष्ठ २६
३. साहित्य देवता, पृष्ठ २६
४. साहित्य देवता, पृष्ठ २२

कला की मूल प्रेरणा जीवन है। चतुर्वेदीजी बलपूर्वक कहते हैं, "हमारा सबसे बड़ा विद्रोह यह है कि हम 'कला' को जीवन से विमुख नहीं होने देना चाहते। यह नहीं हो सकता कि जीवन जलता रहे और कला बाँसुरी बजाती रहे।"[1] जीवन के कटक-पथ से दूर होने पर कला निष्प्राण हो जाती है। जिस दिन कलाकार संघर्षों में बढ़ते हुये युग-जीवन को अपने विश्वासों में नहीं बाँध पाता उसी दिन उसके जीवन की कालरात्रि हुआ करती है।

प्रेरणा

चतुर्वेदीजी ने अपने कला और साहित्य विषयक विचारो को अपनी कला-कृतियों में पूर्णतः उतार लिया है। विशेषतः उनका कथा-साहित्य तो जीवन के खण्ड-चित्रों का मार्मिक चित्रण है। छोटी से छोटी घटनाओ को कलाकार ने पूरी समवेदना के साथ ग्रहण किया है। कहीं-कही तो इनके माध्यम से जीवन को कुरूपताओ पर इतना गहरा व्यंग्य किया गया है कि पाठक के हृदय में उसका सीधा और अमोघ प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। प्राय कहानियाँ छोटी-छोटी हैं। बिहारी के दोहों की तरह इनमें सूक्ष्म, अनुभूति, समवेदना, व्यंग्य एवं चित्रण-कला की समन्वित अभिव्यक्ति एक साथ हुई है। अन्तर यह है कि जहाँ बिहारी के दोहे, जीवन को बँधी-बँधाई संकीर्ण धारा की रंगीनियों में ही उलझे हुये हैं वहाँ चतुर्वेदीजी की कहानियाँ गतिशील जन-जीवन की व्यापक आधार भूमि के किसी भी खंड-चित्र को लेकर सामने आती हैं। 'कच्चा-रास्ता', 'नवेली मेह-मानिन', 'मुहब्बत का रंग', 'नीलाम की चीज़', 'पगडंडी', 'कला का अनुवाद' आदि सभी कहानियों का आधार जीवन की कोई-न-कोई घटना है। इन घटनाओ ने कलाकार के मर्म को प्रभावित किया है और उसकी समवेदना के रंग में रँग कर साकार हो उठी हैं।

कलात्मक कहानियाँ

भावपूर्ण कलात्मक कहानियों के अतिरिक्त आपने छोटी-छोटी परिहासात्मक कहानियाँ भी लिखी हैं। कुछ तो इतनी छोटी हैं कि 'चुटकुलों' की सीमाओं में आ गई हैं और कुछ अपेक्षाकृत बडी हैं जो हास्य एवं व्यंग्य-प्रधान स्केच बन गई हैं। 'दाँत का दर्द', 'नाक से खा गया', 'अकलमन्दो की दुनियाँ', 'तीर्थ-यात्रा', 'शंखनाद', 'दो गप्पी', 'तू खायगा तो खाऊँगा', 'करमा और रमिया', 'मज़ाक का तरीका', 'मकान किसका था', 'हाथी ने मन्त्री ढूँढ लिया', 'खाने के वक्त', 'मुझसे शादी नहीं करती', 'काला फोटो नहीं लूँगा', क्या पढ़ा क्या लिखा', 'दवादारू

हास्य-प्रधान कहानियाँ

१. 'जीवन के मरण बिन्दुओं से काव्य की रक्षा', (रेडियो वार्ता)

की बात ठहरी' आदि कहानियाँ परिहासात्मक हैं। इनमें से कुछ का आधार तो जन-जीवन में प्रचलित कहावतें हैं और कुछ किसी घटना विशेष से सम्बद्ध हैं। परिहास यहाँ भी कुरुचि पूर्ण नहीं है। बीच-बीच में नाटकीय तत्त्वों के आ जाने से इनकी कलात्मकता बढ़ गई है।

चतुर्वेदीजी में व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व संगठन के सूक्ष्म आधार-तत्त्वों को ग्रहण कर लेने की अद्भुत क्षमता है। इसीलिये साहित्य के कुछ महिमामय समसामयिक व्यक्तित्वों को रेखाचित्रों में बाँधने का आपने सफल प्रयास किया है। स्वर्गीय श्रीगणेश शंकर विद्यार्थी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, श्री सुमित्रानन्दन पन्त, श्री जयशंकर 'प्रसाद' आदि साहित्य-साधकों के व्यक्तित्वों को आपने बड़ी सफलता से थोड़े आखरों में बाँध लिया है। श्रीगणेश शंकर विद्यार्थी के लिये आपने लिखा है "कल्पनाशील, आराधनात्मक, आत्म-समर्पण के साथ अपने मस्तक को हथेली पर लिये भारत-माता की शृंखला-ध्वनि पर जो पौरुष विधाता की नींद से जगाने के लिये ऊपर चढ़ा जा रहा हो—उसे गणेशशंकर कहते हैं।"[1]

रेखाचित्र

माखनलालजी के व्यक्तित्व में अनुभव, सूझ एवं विचार तीनों की प्रौढ़ता लक्षित होती है। इस प्रौढ़ता को लेकर जब वे किसी विषय पर मत-प्रकाश करते हैं तो प्रायः सूक्तियों में बोल जाते हैं। उनके गद्य-साहित्य में इन सूक्तियों का बहुत बड़ा महत्व है। ये सूक्तियाँ प्रायः अप्रकाशित हैं। एक सूक्ति का नमूना देखिये "लोग ईमानदारीरहित राजनीति, श्रद्धारहित प्रजासत्ता और बुद्धिरहित लोकसेवा से अपनी उन्नति और अपने देश की उन्नति के नाम पर, नरकों का निर्माण कर रहे हैं।"[2]

सूक्तियाँ

माखनलालजी ने हिन्दी-गद्य-साहित्य को बहुत थोड़ा दिया है किन्तु जो कुछ भी दिया है उसमें अपना व्यक्तित्व उतार दिया है। उनकी गद्य-शैली, हिन्दी-गद्य का गौरव है। ठाकुर रामअधार सिंह की गद्य-शैली पर अपनी सम्मति देते हुए, पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—"सच पूछिये तो मैं आपके गद्य को भी काव्य की श्रेणी में ही रखता हूँ। 'भारतीय आत्मा' माखनलाल चतुर्वेदीजी भी प्रायः वैसा ही गद्य लिखते हैं।"[3] निस्सन्देह माखनलालजी के गद्य का स्वरूप बहुत कुछ काव्यात्मक है। 'साहित्य-देवता', गद्य-काव्य-सा प्रतीत होता है। लेकिन कहानियों में

गद्य-शैली

---

१. 'संगम', अप्रैल, सन् १९५०, पृष्ठ १५
२. 'संगम' अप्रैल, सन् १९५०, पृष्ठ १२
३. माटी का फूल, भूमिका

गद्यकी शैली में आमूल परिवर्तन लक्षित होता है। गद्य में लोक-जीवन की सरलता, सरसता तथा व्यञ्जना आ गई है। वाक्य छोटे-छोटे हो गये हैं। बीच-बीच में ग्राम्य शब्दों का सजीव प्रयोग किया गया है। आवेशमय भावुकता न होकर व्यावहारिक अभिव्यञ्जना शक्ति आ गई है। स्वयं माखनलालजी ने इस प्रकार की भाषा को साहित्यिक स्वाद के लिये अधिक उपयुक्त माना है। उन्होंने लिखा है, "साहित्य में जहाँ स्वाद आता है, और भाषा जहाँ अनेकार्थवती होती है, वे स्थल हैं—मुहाविरों, पहेलियों, लोकोक्तियों और कहावतों के उपयोग के। × × भारत में भाषा का यह वैभव हमें कदाचित् गाँवों ने अधिक दिया था।"[1]

चतुर्वेदीजी की गद्य-शैली के इन प्रमुख दो रूपों के अतिरिक्त यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो व्यक्तित्व और स्थिति भेद से उसके अन्य कई रूप भी लक्षित होते हैं।

(क) भावात्मक गद्य-शैली, (ख) विचारात्मक गद्य-शैली, (ग) कलात्मक गद्य-शैली, (घ) व्यंग्यात्मक शैली, (ङ) भाषण-शैली और (च) लोक-जीवन की मधुर-शैली या ग्राम्य-शैली। साहित्य देवता में आपकी भावात्मक गद्य-शैली का पूर्ण विकास लक्षित होता है। भाषणों में विचारात्मक गद्य-शैली तथा भाषण-शैली दोनों के नमूने देखे जा सकते हैं। कहानियों में कलात्मक, व्यंग्यात्मक तथा ग्राम्य तीनों प्रकार की शैलियाँ प्रकट हुई हैं। आपके कलात्मक गद्य का एक नमूना देखिये—

"सड़क पर के बाजे ने कहा—

"फूल है, फल है, पत्री है, सुगन्ध है, स्वाद है, स्वास्थ्य है, शिव है, सौंदर्य है और सत्य दूकानों पर, मोल तोल के साथ धूम-धाम से बिक रहा है, नागर है, नागरिक है, मन है, मनोज है, मनोहरा है।"[2] पंक्तियों में पद्य का प्रवाह और अनुप्रास की बहार एक साथ देखी जा सकती है। इसी प्रकार 'कच्चा रास्ता' कहानी में ग्राम्य-शैली का उत्कृष्ट नमूना देखा जा सकता है—

"गाड़ी डबर-डबर चली जा रही थी। देहाती रास्ता था। कच्चा। तिस पर पहाड़ी। × × × × किन्तु कच्चे रास्ते में एक ही खराबी। खन्दक, खाई, गड्ढा, टीला, ऊँचक नीचक जगहें, बहूदा घुमाव, और ऐंचक, बेंचा चढ़ाव आदि। बैल जब धीरे-धीरे चलने लगते हैं, तब हाँकनेवाला टट्-टट् की ऐसी आवाज करता है जिसे हाँकने की आवाज ही कहते हैं।"

---

१. अ. भा. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, १९४३ ई० के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

२. पगडंडी कहानी से।

व्यंग्यात्मक शैली का एक बड़ा ही मार्मिक उदाहरण 'कच्चा रास्ता' कहानी के अन्त में देखा जा सकता है। "तब मैंने पूछा, तुझे हमारे आने की याद कैसे रहेगी—रामधन आँखों में आँसू भरकर, अपने मोहना बैल की पीठ पर उस जगह हाथ फेरने लगा, जहाँ मेरा डंडा पड़ा था।" आजकल के नेता लोग अपनी नेता-गिरी के अभिमान में मनुष्यता के सहज गुणों से भी हीन हो गये हैं। मनुष्यता की दृष्टि से साधारण ग्रामीण उनसे कहीं अच्छा है। इस प्रकार यह पूरी कहानी आधुनिक आडम्बरप्रिय नेताओं के ऊपर एक करारा व्यंग्य है।

माखनलालजी गम्भीर से गम्भीर तथ्यों को भी बड़े सरल ढंग से सोदाहरण कह जाते हैं। अतः उनके विचारों में जटिलता नहीं आती। वस्तुतः उनके विचार कोरे अध्ययन पर आधारित न होकर अनुभव के सहज परिणाम हैं। विचारात्मक शैली का एक नमूना देखिये—"पहुँच का दूसरा नाम निर्णय है। चाहे वह जगदीश-चन्द्र की हो, चाहे रवीन्द्र की और चाहे गांधी की। *निर्णय, साहित्य का पथ-*दर्शन, जीवन का दिशा-दर्शन, और सूझ का स्वरूप-दर्शन है × × निर्णय की तरह ही भाषा भी जीवन और सूझ दोनों की लाचारी है। उन दोनों को अपने 'व्यक्त' करने का दूसरा साधन ही नहीं है।"[1]

चतुर्वेदीजी एक कुशल वक्ता हैं। अतः भाषण-शैली का प्रभाव उनके निबन्धों तक में पाया जाता है। अतिरिक्त, उनके गद्य-साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उनके भाषणों का संग्रह है। उनके भाषणों में भावुकता, सूझ, विचार, आवेश, आत्मीयता, ओज तथा प्रवाह सभी कुछ पाया जाता है। एक उदाहरण देखिये—

"क्या हम निमित्त जमाने के बागी हैं? क्या हमने सचमुच रूढ़ि के बन्धन तोड़े हैं? किस रूढ़ि के? बागी वह, जिससे समय, आगे न बढ़ पाये। पिछड़कर समय, रुकने के लिये कहे और फिर लाचार अनुगामी, बना जिसके पीछे चला जाय। प्रतिकूलता का नाम बगावत नहीं है।"

वस्तुतः माखनलालजीकी भाषा उनके विचारों की सच्ची अनुगामिनी है। उनके विचार उनके व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं और उनका व्यक्तित्व भारतीय आत्मा का सहज प्रकाश है। अतः उसे किसी पूर्वनिश्चित दृष्टिबिन्दु से देखकर पूर्णतः नहीं समझा जा सकता।

---

१. दीक्षान्त-भाषण, १९४१, बम्बई हिन्दी-विद्यापीठ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

कवि 'दिनकर' ने अपनी गद्य-कृतियों से हमारा ध्यान सहसा आकृष्ट कर लिया है। 'मिट्टी की ओर', 'अर्धनारीश्वर', 'हमारी सांस्कृतिक एकता' और 'रेती के फूल' उनके प्रमुख गद्य-ग्रन्थ हैं। 'मिट्टी की ओर' दिनकरजी के उन निबन्धों का संग्रह है "जो छायावाद की कुहेलिका से निकलकर प्रसन्न आलोक के देश की ओर बढ़ने-वाली हिन्दी-कविता को लक्ष्य करके लिखे गये हैं।" इस निबन्ध-संग्रह के आधार पर दिनकरजी की काव्य, कला, और साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन भली-भाँति किया जा सकता है।

काव्य-कला

काव्य को आप किसी भी निश्चित सीमा में बाँध कर नहीं देखना चाहते। प्रकृति के अन्दर ऐसी कोई वस्तु नहीं जो काव्य का विषय न बन सकती हो। आपके शब्दों में "कविता तो कवि की आत्मा का आलोक है, उसके हृदय का रस है जो बाहर की वस्तु का अवलम्ब लेकर फूट पड़ती है।"[1] काव्य का सम्बन्ध सीधे हृदय से है। वह तर्क को अन्धा बना देता है। काव्य की निश्चित परिभाषा बनाकर हम किसी कवि के साथ न्याय नहीं कर सकते। 'अर्धनारीश्वर' में भी दिनकरजी कहते हैं "मैं कविता को जीवन तक पहुँचने को सबसे सीधी और सबसे छोटी राह मानता हूँ। यह मस्तिष्क नहीं हृदय की राह है।"[2] दिनकरजी कला को निरुद्देश्य नहीं मानते। वह स्वतः अपना साध्य नहीं है। वह कोई मौलिक वस्तु नहीं। वह तो प्रकृति या जीवन का अनुकरण मात्र है। कवि प्रकृति के रूप को पीकर उसे अपने हृदय के रंग में रँग कर कला के रूप में व्यक्त करता है। वह तटस्थ नहीं रह सकता। कलाकार एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज से पृथक् वैयक्तिक भूमि पर कला की प्रतिष्ठा नहीं कर सकता। दिनकरजी इतिहास के माध्य पर कहते हैं, "साहित्य के समग्र इतिहास में भी वही कवि विजयी हुआ जिसकी कृतियों में मनुष्य की संस्कृति के लिये अधिक से अधिक स्पष्ट सन्देश था।"[3] साथ ही 'कला' को उद्देश्य के बन्धन में उस सीमा तक आप बाँधना भी नहीं चाहते कि वह एक दम निर्जीव हो जाय। कलाकारों का समय के साथ चलना आप आवश्यक मानते हैं। आप कविता को छन्द के बन्धन से मुक्त करके

---

१. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४४
२. अर्धनारीश्वर, „ १४४
३. मिट्टी की ओर, „ ५१

नहीं देखना चाहते। छन्द, बन्धन नहीं, स्पन्दन है। जो समग्र सृष्टि में व्याप्त है। इस छंद-स्पन्दनयुक्त आवेग की पहली मानवीय अभिव्यक्ति 'कविता' और संगीत के रूप में हुई थी। मनोदशा और जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण, अनुकूल न होने पर पुराने छन्द छोड़े जा सकते हैं। किन्तु हमें अपने अनुरूप नये छन्दों का विधान कर लेना चाहिये ताकि हमारी अनुभूतियाँ पूरे बल और विधान के साथ प्रकट हो सकें। आपने स्पष्ट कर दिया है, "मेरे जानने, छन्द काव्य-कला का सहायक नहीं बल्कि उसका स्वाभाविक मार्ग है।"[१]

छन्द

साहित्य को आप जीवन की व्याख्या मानते हैं किन्तु जीवन और साहित्यगत व्याख्या के बीच में व्याख्याता, कवि, या कलाकार का निजी व्यक्तित्व एक माध्यम बनकर आता है। "कलाकार की मानसिक अवस्था-विशेष में जीवन अपने जिस अर्थ में प्रकट होता है, उसी के भावमय चित्रण को हम साहित्य कहते हैं।"[२] कोई भी साहित्यकार निर्लिप्त होने पर भी अपने दृष्टिकोण को नहीं भूल सकता। अतः व्याख्या में व्यक्तित्व समाविष्ट हो जाता है।

साहित्य

दिनकरजी की दृष्टि में "समालोचना काव्य की अन्तर्धाराओं का विश्लेषण है, जिसमें सफलता पाने के लिये समालोचक को काव्य की गहराई में उतरकर उस बिन्दु पर जाना पड़ता है जहाँ से कविता *या कला जन्म* लेती है। अतएव समालोचक में यह योग्यता होनी चाहिये कि *वह उन समस्त मानसिक दशाओं का अनुभव कर सके* जिनमें से होकर कवि अपनी कृति के अन्तिम बिन्दु पर पहुँच सका है।"[३] स्पष्ट है कि दिनकरजी समालोचक में 'भावक' के सभी गुणों का होना अनिवार्य मानते हैं। वे केवल गुण-दोष के सामान्य विवेचन तक ही आलोचक का दायित्व नहीं सीमित कर देते।

समालोचना

दिनकरजी ने सामयिक साहित्य की गतिविधि पर विचार करते हुये 'छायावाद', 'प्रगतिवाद' तथा 'प्रयोगवाद' सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को स्पष्ट कर दिया है। आपने 'छायावाद' में रवीन्द्र और अंग्रेजी के रोमैण्टिक कवियों का प्रभाव, जीवन की क्रान्ति, स्थूलता से दूर भागने का प्रयास, जीवन की निराशा, 'सान्त' का 'अनन्त'

छायावाद

---

१. मिट्टी की ओर, पृष्ठ १४६
२. " " १४१
३. " " १५२

से मिलने का प्रयास, 'सिन्धु' में मिलने के लिये 'बिन्दु' की बेचैनी, धर्म, राजनीति, समाज और संस्कृति का नव जागरण, सभी कुछ एक साथ देखा है। "यह एक विशाल सांस्कृतिक जागरण था जो उचित आलोचक न मिल सकने के कारण पूर्ण प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सका।"[1]

प्रगतिवाद के सम्बन्ध में दिनकरजी ने सर्वथा मौलिक विचार प्रकट किया है। प्रगतिवाद को आप छायावाद का परिपाक मानते हैं। वे कहते हैं "अधिक से अधिक उसे हम सोद्देश्य साहित्य कह सकते हैं।" प्रगतिवाद, दिनकरजी की कल्पना में "मानवात्मा की एकता का द्योतक तथा मनुष्य की प्रीति का व्यञ्जक है।"[2] वे आधुनिक रूढ़िगत अर्थ में 'प्रगतिवाद' को सीमित नहीं कर देना चाहते।

प्रगतिवाद

प्रयोगवादी कविताओं के विषय में दिनकरजी ने स्वतन्त्र, निष्पक्ष और स्पष्ट मत दिया है। इन कविताओं में वे वैयक्तिकता स्वीकार करते हैं किन्तु इन्हें समाज के प्रति दायित्वहीन नहीं मानते। आप कहते हैं "अधिक से अधिक हम यही कह सकते हैं कि इन कविताओं में समाज की समस्याओं पर सोचते रहनेवाले किसी कवि या मनुष्य की मनोदशा विशेष खण्डित होकर अभिव्यक्त हुई है। इनमें उस चेतना का प्रतिबिम्ब है जो जीवन की विरूपताओं पर विचार करनेवाले असन्तोषी मनुष्य में उत्पन्न होती है।"[3]

प्रयोगवादी कवितायें

आज के उन कवियों के प्रति जो अपने काव्य की प्रेरणा बाहर से लेते हैं दिनकर ने बड़ी मार्मिक अपील की है। "कवि, तुम्हारा जन्म मेरी कोख से हुआ है। चाहिये तो यह था कि तुम पहले मेरा पात्र भरते। मेरे पात्र से उफन कर जो रस बाहर को बह जाता वह दुनिया का होता। लेकिन हाल ठीक उलटा है। तुम पहले विश्व का पात्र भर रहे हो और उससे छिटक कर गिरा हुआ रस मुझे दे रहे हो।"[4] सचमुच दिनकर के इन शब्दों में भारत की मिट्टी बोल रही है।

'अर्धनारीश्वर' दिनकरजी का दूसरा निबन्ध-संग्रह है। इसके विषय में स्वयं लेखक का मत है "इस संग्रह में ऐसे भी निबन्ध हैं जो मनबहलाव में लिखे जाने के कारण कविता की चौहद्दी के पास पड़ते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें

---

१. मिट्टी की ओर, भूमिका, पृष्ठ ११
२. " " " ८५
३. " " " ४४
४. " " " २०८

बौद्धिक चिन्तन या विश्लेषण प्रधान है। इसीलिये, मैंने इस संग्रह का नाम 'अर्ध-नारीश्वर' रखा है, क्योंकि इसमें, अनुपात अत्यन्त अधिक और [illegible] रूप है।" निबन्ध भी '[illegible] और [illegible]', 'मंदिर और राजभवन', 'कर्म और वाणी', 'हृदय की राह', 'ईर्ष्या तू न गई मेरे मन से', '[illegible] जगत को और [illegible]', '[illegible] को भी अपनी ओर', '[illegible] का विकास' और निबन्ध कविता की चौपड़ी के पास हैं। इन निबन्धों में लेखक ने सामान्य समस्याओं के आधार पर, इतिहास के आलोक में या महापुरुषों की जीवनियों के माध्यम से जीवन को समझने की चेष्टा की है। निबन्धों के अन्त में लेखक ने प्रायः अपना निष्कर्ष भी दे दिया है। 'कर्म और वाणी' में वह कहता है "चिन्तन की ओट कर्म मात्र के अधिक समर्थ होता है।" इसी प्रकार 'हृदय की राह' में उसका निष्कर्ष है। 'जड़ मूर्तियों के फेर में पड़कर आपस में लड़नेवाले मनुष्यो! मस्तिष्क को छोड़कर हृदय की राह पकड़ो।"

विचार प्रधान निबन्धों में 'महाकाव्य की वेला', 'कविता का भविष्य', 'नई कविता के उत्थान की रेखायें', 'पाकिस्तान के पीछे साहित्य की प्रेरणा', 'समाज-वाद के अन्दर साहित्य', 'रजत और आलोक की कविता', 'कविता राजनीति और विज्ञान', 'गांधी से मार्क्स की परिणति', 'जार्ज रसेल का साहित्य चिन्तन', 'रवीन्द्र नाथ की राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता', 'महर्षि अरविन्द की साहित्य साधना', 'कला के अर्धनारीश्वर' आदि प्रमुख हैं। वस्तुतः इन निबन्धों में दिनकर-जीने गांधी, मार्क्स, रवीन्द्र, अरविन्द, जार्ज रसेल और इकबाल के व्यक्तित्व और कृतित्व को समझने की चेष्टा की है। मार्क्स और गांधी के विषय में वे कहते हैं "मार्क्स ने मानव-समाज का लक्ष्य बदल दिया। गांधीजी मनुष्य को उस लक्ष्य तक जाने की निर्मल राह बतायेंगे।"[1] रवीन्द्र के विषय में उनकी निश्चित धारणा है "मनुष्य-मनुष्य से ऊपर जो एक बड़ा मनुष्य है, रवीन्द्र की कविता की पंक्ति-पंक्ति में उसके चरणों की धारा सुनायी पड़ती है और उसके चरणों की यह धार भारतीय-साहित्य में अनन्तकाल से गूँजती आई है।"[2] जार्ज रसेल के साहित्य-चिन्तन का मूल्यांकन करते हुये दिनकरजी उन्हें भारतीय मान्यताओं के निकट मानते हैं। वे उन्हीं का उद्धरण देते हैं "मैं इस बात का विरोध करता हूँ कि केवल सुन्दरता ही कविता का लक्ष्य और उसका एक मात्र नियम है। सत्य और शिव भी कविता के वैसे ही आवश्यक उपकरण हैं और कवि के मार्ग-

---

१. अर्धनारीश्वर, भूमिका
२. „ पृष्ठ १५२
३. „ „ २०३

प्रदर्शन में उनका भी प्रबल भाग होना चाहिये।"[1] अरविन्द की साहित्य-साधना के विषय में दिनकरजी ने सबसे अधिक विचार किया है। वे उन्हें दार्शनिक काव्य अथवा काव्यात्मक बौद्धिकता का आगार मानते हैं।[2] इकबाल के साहित्य का परीक्षण करते हुये आपने उसे पाकिस्तान की मूल प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया है।

'हमारी सांस्कृतिक एकता' दिनकरजी के सांस्कृतिक निबन्धों का संग्रह है। इसमें भारतीय संस्कृति के स्वरूप, उसके मूलभूत तत्त्व तथा उसका क्रमिक विकास समझाने की चेष्टा की गई है। दिनकरजी देश की एकता में विश्वास करते हैं। भारतीय जनता की रचना में नीग्रो, ऑष्ट्रिक, द्राविड़ और आर्य जातियों का समिश्रण स्वीकार करते हैं। भारतीय संस्कृति के मूल आधारों में द्राविड़ संस्कृति की देन को महत्व देते हैं। बौद्ध और जैन मतों को वैदिक धर्म की रूढ़ियों की प्रतिक्रिया मानते हैं। और प्राचीन भारत के बौद्धिक उत्कर्ष पर गर्व करते हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति को बड़ी ही उदारता के साथ समझने और समझाने की चेष्टा की है।

दिनकरजी की गद्य-शैली के प्रमुखतः चार रूप देखे जा सकते हैं।

गद्य-शैली
- (क) अध्ययन-प्रधान वर्णनात्मक शैली।
- (ख) चिन्तन-प्रधान विवेचनात्मक शैली।
- (ग) ओज और आवेश-प्रधान भावात्मक शैली।
- (घ) अनुभूति-प्रधान काव्यात्मक शैली।

'हमारी सांस्कृतिक एकता' में अध्ययन-प्रधान वर्णनात्मक शैली के सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसमें अध्ययन की गम्भीरता इतिहास की इतिवृत्तात्मकता तथा वर्णन की अद्भुत क्षमता के दर्शन होते हैं। भाषा संस्कृत निष्ठ तथा तत्सम है। एक उदाहरण देखिये—"विन्ध्य के उत्तर को हम, सामान्यतः, आर्य एवं उसके दक्षिण को द्रविड़ देश कहते हैं। आर्य और द्रविड़ संस्कृतियों के मिलन के बाद भी, आरंभ में, हिन्दुत्व का नेतृत्व उत्तर भारत के हाथ रहा। लेकिन शंकराचार्य के समय से यह नेतृत्व निश्चित रूप से दक्षिण चला गया है और तब से हिन्दू-धर्म के प्रधान नेता, दार्शनिक और महात्मा, अधिकतर, दक्षिण में ही उत्पन्न होते रहे हैं।"[3]

---

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ १८३
२. वही " १२०
३. हमारी सांस्कृतिक एकता, पृष्ठ ४६

चिन्तन-प्रधान विवेचनात्मक शैली दिनकरजी के आलोचनात्मक निबंधों में देखी जा सकती है। 'जीवं [illegible] का साहित्य चिन्तन' शीर्षक निबन्ध में आप लिखते हैं "अपनी समाधि में फैलते-फैलते मनुष्य जब गोचर परिधि के पार जाने लगता है तब उसकी अनुभूति शब्दों में सुस्पष्ट रूप से नहीं कही जा सकती शब्द उस अनुभूति का सिर्फ संकेत भर देते हैं और उन्हीं संकेतों के बल पर ह उसे ग्रहण करना होता है।"[1]

ओज और आवेश-प्रधान भावात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण देखिये- 'अर्धनिमग्न मनुष्य! तू अपने को भूल रहा है। तुझ में बुद्धि का तेज है, जिस स्वर्ग और पृथ्वी, दोनों के लिये प्रकाश का निर्माण किया था। तुझ में राण प्रताप का प्रताप है, जिसने बन-बन मारे-मारे फिरकर भी अपने आदर्श के प्रदी को बुझने नहीं दिया। तुझ में मन्सूर की ज़िद है, जिसके मर जाने पर भ उसके मांस की बोटी-बोटी 'अनलहक' पुकारती थी।"[2]

अनुभूति-प्रधान काव्यात्मक शैली का एक सुन्दर उदाहरण 'खड्ग और वीणा शीर्षक निबन्ध में देखिये—"चलने से पहले खड्ग ने वीणा से पूछा—वीणे! क्या आज भी वही सुहाग? देश की जान पर बन आई है और तुझे चाँदनी की रागिनी से फुर्सत नहीं? होजा आज डंके की चोट और समाजा मेरी तेज चमकती हुई इस धार में। ××सच कहता हूँ बहन! आँखें निहाल हो जायेंगी और सपनों का तेज बढ़ जायगा।"[3]

वस्तुतः दिनकर का व्यक्तित्व बड़ा ही प्राणवान् है। उसमें लोक-जीवन की सरलता और सरसता, राष्ट्रीयता का ओज, कवि की उदारता और भावुकता, अध्ययन का गाम्भीर्य और संस्कृति की निष्ठा है। उनके गद्य में यह सब कुछ एक साथ साकार हो उठा है।

---

१. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ १७३

२. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ४४

३. अर्धनारीश्वर, पृष्ठ ४

जैनेन्द्र कुमार

जैनेन्द्र का कृतित्व कई रूपों में बिखरा हुआ है। 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'पूर्वोदय', 'मन्थन', 'सोचविचार' आपके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं। 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत', 'कल्याणी' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। आपकी कहानियों का संग्रह कई भागों में प्रकाशित हुआ है। 'ये और वे' नाम से आपके संस्मरण भी प्रकाशित हो चुके हैं। आपने तात्सताय और मारिस मैतरलिंक के नाटक और कहानियों का अनुवाद भी किया है। किन्तु कृतित्व की यह व्यापकता आपके व्यक्तित्व की महत्ता नहीं है। आपकी सबसे बड़ी विशेषता है: समरस, सुन्दर, समस्वर और सामञ्जस्यमयी जीवन-दृष्टि। साहित्य की परिभाषा करते हुये आपने कहा है—

"मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ और इस तरह स्वयं अपने साथ जो एक सुन्दर समंजसता, समरसता, समस्वरता (Hormony) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य-जाति की समस्त संगृहीत निधि की मूल है। × × × मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपिबद्ध है, वही साहित्य है।"[1]

आपने अपनी कृतियों में अखंड और अद्वैत सत्य को ग्रहण करने की चेष्टा की है। इस अखंड सत्य का व्यावहारिक रूप अहिंसा है। सामञ्जस्य और समस्वरता के लिये इसी अहिंसा के विस्तार की आवश्यकता है। इसमें सबसे प्रबल विरोध बुद्धि की ओर से होता है। बुद्धि भेदात्मक है। वह द्वन्द्व की सृष्टि करती है। वह श्रद्धा को खा जाती है। इसलिये बुद्धि के स्थान पर साहित्य को हृदय का प्राधान्य मान्य है। जैनेन्द्रजी, इसीलिये बुद्धिवादी दृष्टिकोण को साहित्य का श्रेय स्वीकार नहीं करते। वे लिखते हैं "मैंने एकबार स्वर्गीय प्रेमचन्द से पूछा था कि बताइये अपने सारे लिखने में आपने क्या कहा और क्या चाहा है? उन्होंने बिना देर लगाये उत्तर दिया —धन की दुश्मनी। मैं अपने से वही पूछूं तो उत्तर मिले! बुद्धि की दुश्मनी।"[2]

जैनेन्द्रजी कला में सौन्दर्य को प्रमुख और स्थूल प्रयोजन को गौण स्थान देते हैं। "कला तो अपने भीतर के आनन्दबोध द्वारा, अन्तस्थ अनुभूतियों के सूक्ष्म

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ २०

२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ १५

तन्तुओं से समस्त विश्व को छाकर उनके सहारे, सत्य को हृदयंगम करेगी।"[1] किन्तु यह सत्य न तो वैज्ञानिकों का शुष्क सत्य होगा न तत्त्वदर्शी का निरपे: सत्य और न व्यवहारवादी का अर्थ-सिद्धि करनेवाला सत्य। यह सत्य सम की अन्तरात्मा है। शिव और सुन्दर, सत्य की उपलब्धि के साधना-पथ हैं। ? स्वयं साध्य नहीं हैं, आप कहते हैं—"शिव और सुन्दर पड़ाव हैं, तीर्थ नहीं हैं इष्ट-साधन हैं, इष्ट नहीं हैं।" शिव और सुन्दर को साधना-पथ बनाकर सत्य की उपलब्धि के लिये यात्रा करनेवाले साधक को प्रेम की दीक्षा लेनी होगी। दूसरे शब्दों में उसे पूर्ण अहिंसक होना होगा। इसीलिये सत्यान्वेषी कलाकार के लिये अहिंसा की वृत्ति स्वीकार करनी होगी। विरोधी की सत्यता को प्रसन्नता के साथ स्वीकृति देनी होगी।

वर्तमान साहित्यकारों में जितना अधिक जैनेन्द्र ने सोचा-विचारा है, कदाचित् किसी अन्य कलाकार ने नहीं। व्यक्ति, समाज, राजनीति, धर्म, अध्यात्म, दर्शन, राष्ट्रीयता, संस्कृति, कला, युद्ध, प्रेम, हिंसा-अहिंसा, सौंदर्य, कर्तव्य, स्वार्थ-परमार्थ, सत्य-असत्य आदि जीवन की ऐसी कोई समस्या नहीं जिस पर आपने सोच-विचार न किया हो। सभी समस्याओं का आपके पास एक ही समाधान है—अहिंसा। आज की सभ्यता को आप राजनीतिक सभ्यता मानते हैं। यह सभ्यता अपूर्ण है। यह अधूरे जीवन को स्पर्श करती है। आप लिखते हैं "तब जरूरी है कि एक अधिक स्वस्थ, अधिक निर्भय और समन्वयशील जीवन-विधि का सूत्रारम्भ हो और वही दृष्टिकोण लोक में प्रतिष्ठित किया जाय। उसी की नींव पर सच्चा और दृढ़ और सुखी भविष्य खड़ा होगा।"[2] इसके लिये ऊपरी विरोधों के मूल में एकता देखनी ही होगी। पूँजीपति और मजदूर दोनों में ऊपरी विरोध के साथ ही दोनों में सम-सामान्य मानवता भी है। मार्क्सवाद इस सामान्य मानवता को नहीं देख पाता। इसीलिये वह श्रेणी-संघर्ष का सिद्धान्त अपनाकर चलता है। उसका अन्तिम लक्ष्य यदि शान्ति है तो व्यवहार और साधन का भी शान्तिमय होना आवश्यक है। फ्रॉयड और मार्क्स का तत्त्वचिन्तन वैज्ञानिक होते हुये भी अधूरा है। आपने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—

"मेरा मानना है कि फ्रॉयड यदि अधिक संत होते यानी आत्मविद्या के प्रश्न की ओर से अधिक मुक्त होते तो उनका अन्वेषण 'लिबिडो' के आविष्कार से और गहरा जाता। शायद आत्मा का या वहाँ परमात्मा का आविष्कार वह कर जाता। मेरी तो यह भी मानने की इच्छा होती है कि मार्क्स भी अपने बन्धु

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३६
२. प्रस्तुत प्रश्न, भूमिका

सत्य के अन्वेषण में अधिक तटस्थ और तत्पर होकर चलते तो वह भी परमात्म-तत्त्व यानी द्वैत की जगह अद्वैत तत्त्व तक पहुँचते।"[१]

जैनेन्द्रजी को गांधी-नीति में अधिक पूर्णता लक्षित होती है। इस नीति का ध्येय 'सत्य' है। इसका धर्म 'अहिंसा' है। और इसका कर्म 'सत्याग्रह' है। 'सत्य' व्यक्तिगत है। 'अहिंसा' सामाजिक है और 'सत्याग्रह' राजनैतिक। वस्तुतः एक ही जीवन-दृष्टि के ये तीन रूप हैं। यही वह दृष्टि है जिसे स्वीकार करके चलने में कहीं कोई संघर्ष नहीं है। व्यक्ति और समाज राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता, पूँजीपति और मजदूर, ऊँच और नीच सभी के ऊपरी विरोधों में इसके आधार पर सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है। गांधी के व्यक्तित्व पर अपने विचार प्रकट करते हुये जैनेन्द्रजी ने लिखा है "आप सत्य चाहते हैं, स्वत्व नहीं चाहते। सब में स्वत्व को खो देना चाहिये, यही आपकी निष्ठा है।"[२] वस्तुत. अहिंसा का यही मार्ग है। यही सच्ची जीवन-दृष्टि है।

भेद में अभेद देखने के कारण ही जैनेन्द्रजी ने साहित्य को चिरन्तन और शाश्वत भी माना है। वे समयानुसार साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन स्वीकार करते हैं परन्तु उसकी आत्मा को चिरन्तन मानते हैं। जिस प्रकार नष्ट होनेवाले प्रत्येक क्षण में एक निरन्तरता है उसी प्रकार युग-युग में परिवर्तित साहित्य-रूपों में तत्त्वगत चिरन्तनता भी है। स्थायी साहित्य के तत्त्वों पर विचार करते हुये आपने लिखा है—"जो साहित्य जितना ही उन भावनाओं को व्यक्त करता है, जो सब देश काल के मनुष्यों में एक समान है, वह उतना ही चिरस्थायी है। ऐसा वही कर सकता है जिसने अपना अहं समष्टि में खो दिया है।"[३]

जैनेन्द्रजी के व्यक्तित्व का विकास कलात्मकता से दार्शनिकता की ओर होता गया है। उनका कलाकार कहीं भी उनके विचारक रूप को छोड़ नहीं पाता। अतएव दोनों के समन्वित विकास के कारण उनके व्यक्तित्व में विशिष्टता आ गई है। श्री प्रभाकर माचवे के शब्दों में "जैनेन्द्र ऐसी सुलझन हैं जो पहेली से भी अधिक गूढ़ हों। वे इतने सरल हैं कि उनकी सरलता भी वक्र लगे। वे इतने निरभिमान हैं कि वही उनका अभिमान है। वे परिस्थितियों से ऐसे आवद्ध हैं कि उसी में उन्होंने अपनी मुक्ति मान ली है।"[४]

व्यक्तित्व की इस विशिष्टता ने उनकी शैली को भी एक विशेष रूप दे दिया है। उनका गद्य जैसे रुक-रुक कर आगे बढ़ता है। भाषा को सजाने का

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३८६
२. ये और वे, पृष्ठ २०१
३. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ३७०
४. साहित्य का श्रेय और प्रेय, की प्रस्तावना, पृष्ठ ४

उनका कोई आग्रह नहीं है। विचारों के अनुकूल शब्दों का प्रयोग होता गया है। अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये बीच-बीच में अंग्रेजी शब्द भी आ गये हैं। उर्दू के शब्दों से भी आपको कोई परहेज नहीं है। 'गैर', 'गैरियत', 'इन्सानियत', 'अमला', 'अमलदार', 'नेस्तनाबूद', 'कुदरत', 'हिमायती' आदि शब्द समय-समय पर प्रयुक्त हुये हैं। अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। प्रायः सामयिक और राजनैतिक विषयों पर लिखते समय भाषा में आवश्यकतानुसार अंग्रेजी शब्द अधिक आये हैं। भाषा के विषय में जैनेन्द्रजी का निश्चित मत है कि "अंग्रेजी से विभेद आ गया है। गाँव शहर फट गये हैं और दूर हट गये हैं। पास आये हैं तो शोषण के नाते। अंग्रेजी से हमारा घर नहीं मिला। अगर राष्ट्र एक होनेवाला है तो वह अंग्रेजी भाषा से नहीं होगा। × × हिन्दी के नाम पर जो भाषा चल रही है, उसे फकीर-दरवेश, मजूर और मुसाफिर आदि जनता के आदमियों ने ऐसा फैला दिया है कि वह कम अधिक अब भी समूचे हिन्दुस्तान में समझ ली जाती है। बस हुआ, वह अनघड़ भी हो उसमें काम चल जायगा।" [१]

विषय के स्वरूप और विचारों के स्तर-भेद के अनुसार आपकी शैली में परिवर्तन भी हुआ है। यों तो आप प्रायः सर्वत्र सोचते-विचारते चलते हैं। कहीं प्रश्न करते हुये, कहीं उत्तर देते हुये, कहीं तर्क से पुष्ट करते हुये, कहीं अनुभूति से आकर्षित करते हुये और कहीं कथन को सरलतम रूप में प्रस्तुत करते हुये आपकी विचारयात्रा चलती रहती है। सादगी और संयम आपकी शैली को सामान्य विशेषतायें हैं। विचार, सर्वत्र अनुभूति से पुष्ट प्रतीत होते हैं। वाक्य प्रायः छोटे होते हैं। आपके विचारों का क्षेत्र व्यापक है। सांस्कृतिक, साहित्यिक, दार्शनिक तथा सामयिक सभी विषयों पर आपने गहराई से विचार किया है। सांस्कृतिक विषयों पर विचार करते समय आपकी शैली में सरलता, गम्भीरता तथा संयम की मात्रा अधिक हो गई है। दार्शनिक विषयों के विवेचन में सूत्र-शैली के दर्शन होते हैं। साहित्यिक विषयों के प्रतिपादन में शालीनता अधिक है। इसी प्रकार सामयिक विषयों पर विचार करते समय आपकी शैली व्यावहारिक जीवन के अधिक निकट आ गई है। आपके विचारों का बहुत बड़ा अंश प्रश्नोत्तरों और भाषणों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। अतः संवाद तथा भाषण-शैली के सुन्दर उदाहरण भी आपको कृतियों में मिलते हैं। आपकी भाषण-शैली में कहीं भी आवेश के दर्शन नहीं होते। प्रश्नोत्तरों में प्रभावोत्पादन की पूर्ण क्षमता है। आपके संस्मरणों में भी रञ्जक घटनाओं के आकर्षक विवरणों के स्थान पर

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृष्ठ ९६

व्यक्तित्वों को परखने और समझने की प्रवृत्ति प्रधान है। इसीलिये इनमें भी विचार विश्लेषण ही अधिक हुआ है। जैनेन्द्रजी की सभी कला कृतियों के विषय में उन्हीं का एक वाक्य स्मरण रखना आवश्यक है। वे कहते हैं "लिखना मेरे लिये ऐसा चलना है जहाँ आगे राह नहीं है।"[1] इसीलिये आपका प्रत्येक अगला शब्द एक झिझक और द्विविधा लेकर प्रकट होता है। चाहे कहानी हो चाहे उपन्यास। चाहे निबन्ध हो, चाहे भाषण या वार्तालाप। आप अनुभूति की सच्चाई में विश्वास करते हैं, रीति या शैली की बनावट में नहीं। इसीलिये जो शब्द जैसा आया है, लिख दिया है और जो वाक्य जैसा बना है, बनने दिया है।

वस्तुतः अहिंसावादी जीवन-दर्शन के साहित्यिक व्याख्याता के रूप में जैनेन्द्र युगों तक स्मरणीय रहेंगे।

---

१. साहित्य का श्रेय और प्रेय, (मैं और मेरी कला) पृष्ठ ३५४

इलाचन्द्र जोशी

जोशीजी ने उपन्यासकार, कहानी लेखक, पत्रकार, सम्पादक तथा समीक्षक, इन सभी रूपों में हिन्दी-गद्य-साहित्य की श्री-वृद्धि की है। आपने देशी और विदेशी साहित्य का गहरा अध्ययन किया है और विशेषतः फ्रेंच तथा बंगला साहित्य से प्रभावित भी हैं। आपका अधिक ध्यान कथा-साहित्य की ओर है; और इसे आप बहुत गम्भीर, महत्त्वपूर्ण तथा व्यापक विषय मानते हैं। समीक्षक के रूप में आप मनोविश्लेषणवादी हैं। साहित्य में आप अज्ञात चेतना-लोक में संचित होनेवाली मानव-प्रवृत्तियों को, मानव के वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक सम्बन्धों की संचालिका मानते हैं। आप अन्तर्जीवन को बाह्यजीवन की प्रतिच्छाया मात्र नहीं मानते। उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं और आज के पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद के विस्तार के पीछे भी मनोवैज्ञानिक कारणों की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में आपने "वास्तविक बाह्य-प्रगति तथा अन्तरीय प्रगति को समान-समन्वयात्मक रूप से" अपनाया है। आपने विश्वास पूर्वक कहा है—"जब तक कोई लेखक अवचेतन मन के छाया-स्वप्नों को चेतन मन की निहाई पर रखकर विवेक के हथौड़े की चोटों से उनका नव-निर्माण नहीं करता तब तक वह वास्तविक अर्थ में साहित्य निर्माता हो नहीं सकता और न उसका कच्ची अवस्था में दिया हुआ साहित्य-पदार्थ स्वस्थ और मांगलिक ही हो सकता है।"[1] आप मार्क्सवाद और फ्रॉयडवाद को इसी समन्वयात्मक दृष्टिकोण के कारण, एक दूसरे का पूरक मानते हैं। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के 'छायावादी' और 'प्रगतिवादी' दोनों काव्यधाराओं को इसी सामञ्जस्य की कमी के कारण आप एकांगी मानते हैं। 'छायावाद', आपकी दृष्टि में, बिना चेतन मन के विश्लेषण के अवचेतन मन के भीतर से अन्धवेग से प्रस्फुरित हुई कला है। और 'प्रगतिवाद' बाह्य-जगत की विचारधारा के साथ केवल सचेत मन की ऊपरी सतह के टकराहट की उपज है।

आपकी सर्जनात्मक कृतियों का मूल्यांकन करते समय इस सामञ्जस्य मूलक दृष्टिकोण को समझ लेना आवश्यक है। फ्रॉयड के सिद्धान्तों के अनुसार कला का दमित वासनाओं से सीधा सम्बन्ध स्वीकार करते हुये भी, जोशीजी जीवन की बाह्य एवं यथार्थवादी समस्याओं को साहित्य के क्षेत्र से पृथक् नहीं करना चाहते। उन्होंने अपने 'युग-समस्यायें और साहित्यकार' शीर्षक निबन्ध में लिखा है—

---

(१) विवेचना, पृष्ठ २२।

"साहित्य का अर्थ ही वह कला है जो जीवन के सहित अर्थात् साथ हो। इसीलिये आज के अभाव और साहित्य के युग में यदि सच्चे साहित्य का प्रतिष्ठापन करना हो तो उन सब उपकरणों को बटोरना होगा जो यथार्थ जीवन की प्रगति के साथ हैं। जनता की भूख-प्यास और आर्थिक संकट की समस्याओं को अपनाकर उन्हें प्रतिभा के रासायनिक स्पर्श से साहित्यिक रस में परिणत करना होगा और फिर साहित्यिक रस का उपभोग सामूहिक मानव-हित के उद्देश्य से करना होगा।"[1]

जनता की आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं का साहित्यिक रस में परिणत करने के लिये आपने प्रतिभा के जिस रासायनिक स्पर्श की बात कही है, वह और कुछ नहीं मनोवैश्लेषिक उपाय मात्र है। आपने विश्वासपूर्वक कहा है—

"बड़े-से-बड़े राजनीतिक सत्य को पहले वेष बदलकर अंतर्जगत् में प्रवेश करना होगा, तभी वहाँ से वह मनोवैश्लेषिक उपायों से साहित्यिक सत्य के रूप में बाहर प्रस्फुटित हो सकता है।"[2]

जोशीजी केवल बाहरी संघर्षों के चित्रण को निर्जीव औपन्यासिकता मानते हैं। आपने अपने सभी उपन्यासों—'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'लज्जा', 'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी'—में सप्राण तथा अन्तर्द्वन्द्वमय पात्रों की सृष्टि की है। 'प्रेत और छाया' की भूमिका में आपने अपना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुये कहा था—"आदि काल से—जब मनुष्य इस पृथ्वी पर पशु की अवस्था में चार पावों के बल चला फिरा करता था तब से, बल्कि उसने भी पहले से—लेकर आज तक के विकास काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्य नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व-मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गईं उनमें समयानुक्रम से (और सृष्टि के उसी अज्ञात, रहस्यमय नियम के क्रम से) संस्कार-परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारम्भिक वृत्तियों का संस्कार हुआ वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना-लोक में संचित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ, और इस नये परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिपकर अज्ञात ही रूप से संचित हो गईं। यह क्रम आज तक बराबर प्रवर्तित होता चला गया है। इस अपरिमित दीर्घ काल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और भरे पड़े हैं। आधुनिक मनुष्य ने

१. आलोचना, वर्ष १, अंक ३, पृष्ठ ५२
२. विवेचना, पृष्ठ १२४

सभ्यता के ऊपरी संस्कारों के लेप से अपने सचेत मन में अवश्य सफेद पोती कर ली है। पर जिस पर्दे पर वह सफेद पोती की गई है वह इतना झीना है कि जरा जरा-सी बात से वह फट जाता है, और उसमें तनिक भी छिद्र पैदा होते ही उसके नीचे दबी पड़ी पशु-प्रवृत्तियाँ परिपूर्ण वेग से विस्फुटित होने लगती हैं। × × × अन्तर्मन के अतल में दबी पड़ी ये प्रवृत्तियाँ वैयक्तिक, (और फलस्वरूप सामूहिक) मानव के आचरणों, तथा पारिवारिक और सामाजिक संगठनों को किस हद तक युगों से परिचालित करती आई हैं और आज भी कर रही हैं, इसका यदि खाना तैयार किया जाय तो आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना पड़ेगा।"

सम्भवतः अपने उपन्यासों में जोशीजी ने कुछ इसी प्रकार के खाने तैयार किये हैं जिन्हें देखकर वस्तुतः आश्चर्य से स्तब्ध रह जाना पड़ता है। कदाचित् चेतना की अतल गहराई में दबी हुई पशु प्रवृत्तियों के प्रस्फुटन के कारण ही *'संन्यासी'* में नन्दकिशोर *'शांति'* और *'जयन्ती'* दो नारियों के जीवन को व्यर्थ कर देता है। **'पर्दे की रानी'** में इन्द्रमोहन प्रेमिका 'निरंजना' की उपलब्धि के लिये अपनी स्त्री 'शीला' की हत्या कर देता है। और अन्त में 'निरंजना' के साथ भी जीवन निर्वाह न कर सकने पर गाड़ी से कूद कर आत्म-हत्या कर लेता है। **'प्रेत और छाया'** में पारसनाथ, *अनेक स्त्रियों के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करता है। अन्त में एक दरिद्र कन्या 'मंजरी' को प्यार करता है। मंजरी के गर्भ* रह जाने पर उससे विरक्त होकर 'नन्दिनी' के साथ लखनऊ भाग आता है। वहाँ नंदिनी को छोड़कर उसकी छोटी बहन 'हीरा' को लेकर कलकत्ते चला जाता है। यह यह सब इसलिये करता है कि 'तिब्बती दानव' ने उसे झूठी सूचना दी थी कि उसकी माँ का किसी वैद्य से सम्बन्ध था और वह (पारसनाथ) उसी का पुत्र है। इस सूचना ने उसे क्षुब्ध कर दिया था। अन्त में जब पारसनाथ के पिता उसे सच्ची सूचना देते हैं कि उसकी माँ सती साध्वी थी और वह उन्हीं का पुत्र है तो उसकी पशुबुद्धि मर जाती है और वह हीरा के साथ विवाह करके कायदे का जीवन व्यतीत करता है। *'निर्वासित' में महीप तथा परिवार की तीन लड़कियों से प्रेम करता है।* और लक्ष्मीनारायण सिंह तो कितनी ही कुमारियों का जीवन नष्ट कर देते हैं। 'लज्जा' में भी डाक्टर कन्हैयालाल 'लज्जावती' तथा 'कमलिनी' दो स्त्रियों से प्रेम करते हैं। 'जिप्सी' में नृपेन्द्ररञ्जन भी 'मनिया' को प्यार करते हैं फिर 'शोभना भाभी' के साथ *रंगरेलियाँ करते हैं और अन्त में मजबूरन सर्वो* (मनिया के ही परिवर्तित रूप और व्यक्तित्व) से स्नेहसूत्र जोड़ते हैं। 'मुक्तिपथ' में प्रेम-प्रदर्शन की इस प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते। 'राजीव' और 'सुनन्दा' एक साथ रहते हुये भी, एक दूसरे के कार्यों में पूरा सहयोग देते हुये भी, प्रणय-सूत्र में नहीं बँधते। 'सुनन्दा'

इस स्थिति से ऊब कर राजीव से विरत हो जाती है। वह पार्थिव जीवन के विकास के साथ भीतर के भाव-जीवन के विकास की ओर भी सचेष्ट रहना चाहती है। 'राजीव', अन्त में, अपनी भूल स्वीकार करता है किन्तु 'सुनन्दा' उसे छोड़कर चल देती है।

'सुबह के भूले' में ऐसा लगता है कि उपन्यासकार ने पार्थिव जीवन के विकास के साथ भाव-जीवन के विकास पर भी ध्यान दिया है। इसीलिये 'गिरिजा' अन्त में अपने बाल सहचर 'किशन' को ही अपना हृदय अर्पित करती है। अपने ज्ञान और जीवनस्तर में क्रमिक विकास के साथ प्रारम्भ में वह किशन की उपेक्षा करती है किन्तु अन्त में इसे वह 'सुबह की भूल' मानती है। 'मुक्ति-पथ' और 'सुबह के भूले' में मनोविश्लेषण की प्रवृत्ति भी कम हो गई है।

जोशीजी ने अपने उपन्यासों में सामूहिक कल्याण की योजनायें भी रखी हैं। जिप्सी में वे कन्हाई बाबू तथा मणिमाला (मनिया) के सहयोग से 'जन संस्कृति-समन्वय-केन्द्र' की स्थापना कराते हैं। जिसका उद्देश्य विश्व-जन-संस्कृति को एक समन्वयात्मक रूप देना तथा भारतीय जन-जीवन में एक नयी सांस्कृतिक चेतना जगाना है। 'मुक्ति-पथ' में 'मुक्ति-निवेश' की स्थापना कराई गई है, जिसका उद्देश्य है "सबकी समचेतना, सबके सम-योग, सबके सम-उद्योग, सबके सम-अधिकार और सबकी सम-शक्तियों के सम-सामूहिक विकास द्वारा सम-कल्याण की चरमतम परिस्थिति की ओर सबकी सम-प्रगति।"[1]

'सुबह के भूले' में भी 'मातृ-मन्दिर' की स्थापना हुई है, किन्तु इसका उद्देश्य सामूहिक जन-कल्याण की कोई योजना न होकर व्यक्तिगत भावुकता की तुष्टि है। इन योजनाओं की व्यावहारिक उपयोगिता के विषय में लेखक पूर्ण आस्थावान है और उसकी समझ में नहीं आता कि विश्व के महानेताओं की चेतना में समता और समन्वय का यह दृष्टिकोण क्यों नहीं आता?

अपने मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण की समीचीनता सिद्ध करते हुये जोशीजी ने कहा है—

"चूंकि वर्तमान युग में अहंवाद और बुद्धिवाद का संघर्ष व्यक्तियों के भीतर उसी भीषण रूप में चल रहा है जिस प्रकार बाह्यजगत में महायुद्ध के रूप में सामूहिक अहंवाद और बुद्धिवाद का अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष, इसलिये उपन्यासकार को अत्यन्त जटिल प्रकृति पात्रों का विश्लेषण अत्यन्त गहरे स्तर की मनोवैज्ञानिकता के आधार पर करना पड़ता है।"[2] जोशीजी व्यक्ति के अहंभाव के एकांगीय विकास को समाजघाती ही नहीं आत्मघाती भी मानते हैं। इसीलिये उन्होंने

---

१. मुक्तिपथ, पृष्ठ ३५३
२. विवेचना, पृष्ठ १२३

सिद्धान्त की दृष्टि से 'अश्क'जी समन्वयवादी हैं। हिन्दी के आलोचकों ने कदाचित इसीलिये प्रायः 'अश्क' की चर्चा 'यशपाल' के साथ की है। इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक जीवन की रूढ़ियों पर 'अश्क' ने भी 'यशपाल' की भाँति करारी चोट की है किन्तु 'यशपाल' की-सी निर्ममता उनमें नहीं है। साथ ही 'यशपाल' को सिद्धान्तों का आग्रह अधिक है। सिद्धान्तों के उभर आने से उनकी कला अनेक स्थानों पर दब गई है। 'अश्क' में प्रारंभ में रोमानी प्रवृत्ति अधिक थी। इधर हास्य और व्यंग्य का प्राधान्य हो गया है। सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये आपने इन वैयक्तिक विशेषताओं की हत्या नहीं की है। यशपाल जीवन की रूढ़िग्रस्त धार्मिक, नैतिक एवं आर्थिक भित्ति को धक्का देकर गिरा देना चाहते हैं किन्तु 'अश्क' इस गिरती हुई भित्ति को देख रहे हैं। जीवन के नवीन मूल्यों की स्थापना 'अश्क' भी करना चाहते हैं किन्तु कोरे सिद्धान्त-प्रचार के बल पर नहीं।

'अश्क'जी की गद्य-शैली प्रेमचन्द की परम्परा का विकसित रूप है। उसमें प्रवाह है, अभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता है, किन्तु क्लिष्टता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। वह पूर्णतः व्यावहारिक है। वर्णन की अद्भुत क्षमता तथा व्यंग्य की स्वस्थ प्रवृत्ति ने इनके गद्य को बड़ा ही आकर्षक बना दिया है। पंजाबी शब्दों और मुहावरों को बीच-बीच में डालकर आपने न केवल हिन्दी-गद्य की शक्ति में वृद्धि की है वरन् हिन्दी-भाषा के शब्द-भण्डार को भी बढ़ाया है। आवश्यकता के अनुसार 'अश्क'जी ने उर्दू के प्रचलित-अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। उर्दू से हिन्दी के क्षेत्र में आने के कारण यह स्वाभाविक भी है। अंग्रेजी शब्दों के ग्रहण में भी आपने हिचक नहीं दिखाई है। आपके गद्य में न तो बौद्धिक सूक्ष्मता है और न काव्यात्मक अलंकारिता। वह पूर्णतः व्यावहारिक एवं चलता हुआ है।

इस प्रकार 'उपन्यास', 'नाटक', 'कहानी' तथा 'एकाकी' गद्य-साहित्य के इन सभी क्षेत्रों में 'अश्क'जी ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। हिन्दी में हास्य एवं व्यंग्य की कमी को पूरा करके उन्होंने ऐतिहासिक महत्व का कार्य किया है। वे बड़ी तेजी से लिख रहे हैं। इस विस्तार में कला की रक्षा करने में वे कहाँ तक सफल हो सकेंगे? इसका निर्णय तो भविष्य के गर्भ में ही है।

अज्ञेय

श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' 'जीवन के गहनतर स्तरों को उज्ज्वलतर आलोक मे विशदतर रूप में प्रतिभासित करनेवाले साहित्य के खोजी हैं।'[1] आपकी यह खोज हिन्दी-गद्य-साहित्य में 'कहानी', 'उपन्यास', 'निबन्ध', 'यात्रा-साहित्य' तथा पत्र-सम्पादन आदि कई माध्यमों से प्रकट हो चुकी है। 'शेखर: एक जीवनी' (दो भागों में) तथा 'नदी के द्वीप' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'विपथगा', 'कोठरी की बात', 'जय दोल' तथा 'अमरवल्लरी और अन्य कहानियाँ' नाम से प्रकाशित हुए हैं। 'त्रिशंकु' आपके निबन्धों का संग्रह है। 'अरे यायावर रहेगा याद ?' हिन्दी के यात्रा सम्बन्धी साहित्य में एक नई देन है। इसमें आपने जीवन को यायावर का चिरन्तन पथ स्वीकार किया है। अज्ञेयजी ने 'सैनिक', 'आरती', 'विशाल-भारत' तथा 'प्रतीक' जैसे पत्रों का सम्पादन भी किया है। 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (निबन्ध-संग्रह) तथा 'तार सप्तक' (कविता-संग्रह) और 'दूसरा सप्तक' (कविता-संग्रह) आप द्वारा सम्पादित ग्रंथ हैं।

'अज्ञेय'जी ने समय-समय पर कला और साहित्य के विषय में मत-प्रकाश किया है। उनकी एतद्विषयक स्थापना के आधार पर निम्नलिखित तथ्यों की उपलब्धि होती है—

(क) कला और साहित्य की सृजन-चेष्टा के मूल्य में एक अपर्याप्तता की भावना कार्य करती रही है।[2]

(ख) नवीन साहित्य प्राचीन परम्पराओं से पूर्णतः विच्छिन्न होकर नहीं जी सकता। उसकी प्रगति प्राचीन मर्यादाओं के खडन में नहीं वरन् उन्हें उदार बनाने में है।[3]

(ग) कला न तो उद्देश्यहीन सौंदर्योपासना है और न समाज के अंग विशेष के लिये है; वह 'स्वान्तः सुखाय' भी होती है और यह सुख कलाकार के लिये आत्मदान का सुख है।

(घ) "साहित्य आकाश बेल नहीं है। जिस धरती से वह उगता है, जिस मिट्टी से रस ग्रहण करता है, जिस पानी से लहलहाता है, जिस आतप में हरा

---

१. प्रतीक, अंक १ (ग्रीष्म) की भूमिका से

२. देखिये, 'कला का स्वभाव और उद्देश्य' निबन्ध।

३. प्रतीक, अंक १, भूमिका

होता है, जिस समीरण से फूलता है—और जिस लूह से वह झुलसता, जिस पाले से मरता अथवा जिन व्याधियों से ग्रसित होता है—वे सब कृष्टि (संस्कृति) से सम्बद्ध हैं और उनका अध्ययन, विवेचन, मापन, ग्रहण, प्रसार, प्रचार, नियमन और निराकरण साहित्य कर्म का अनिवार्य अंग है।"[1]

(ङ) कला के क्षेत्र में भी शोधक अनुसंधान द्वारा उन्नति करने का अधिकारी है।[2]

(च) प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्यतः नैतिक उद्देश्य (Ethical value) निहित है।[3]

(छ) काव्य एक व्यक्तित्व की नहीं; एक माध्यम की अभिव्यक्ति है।

'अज्ञेय' की उपर्युक्त स्थापनायें किसी सीमा तक मान्य हो सकती हैं, किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि इन मान्यताओं की उपलब्धि के मूल में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण कार्य करता रहा है। 'कला' और 'साहित्य' के सम्बन्ध में यह एक दृष्टिकोण, एक पक्ष मात्र हो सकता है। इससे अधिक नहीं। मुख्यतः 'अज्ञेय'जी के अन्तिम तीन निष्कर्षों के विषय में आपत्ति स्वाभाविक है। जब आप यह मानकर चलते हैं कि कला की सृजन-चेष्टा के मूल में अपर्याप्तता की भावना कार्य करती रही है तो फिर अनुसन्धान किसका? पर्याप्तता या पूर्णता का ही न? यह पूर्णता स्वयं कलाकार के व्यक्तिगत जीवनदर्शन के अतिरिक्त और क्या होगी? और कलाकार का व्यक्तिगत जीवन-दर्शन पलायनवादी भी हो सकता है, सुधारवादी भी हो सकता है और विद्रोही भी। फिर अनुसंधान की स्वस्थता और उपादेयता पर विश्वास कैसे किया जाय? सम्भवतः इसका उत्तर 'अज्ञेय'जी इस प्रकार देना चाहते हैं—"यदि अपनी अनुभूति के प्रति उसकी (कलाकार की) आलोचक बुद्धि जाग्रत है, यदि उसने धैर्य-पूर्वक अपनी आन्तरिक माँग का सामना किया और उसे समझा है, यदि उसके उद्वेग ने उसमें प्रतिरोध और मुक्ति की भावनायें जगाई हैं, उसे वातावरण या सामाजिक गति को तोड़कर नया वातावरण और नया सामाजिक संगठन लाने की प्रेरणा दी है, तभी उसकी रचनाएँ महान् साहित्य बन सकेंगी।"[4] किन्तु परीक्षा करने पर स्वयं 'अज्ञेय' को प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, श्रीमती कमला चौधरी, महादेवी वर्मा, जयशंकर 'प्रसाद' आदि किसी कलाकार में 'महान् साहित्य' का दर्शन नहीं हुआ। केवल सियारामशरण गुप्त के लिये ही अज्ञेयजी ने खुले दिल से स्वीकार किया है, "उनकी आत्मा ने कर्मण्यता की ही प्रेरणा पाई है। यह

---

१. प्रतीक, अंक १, (भूमिका)
२. प्रतीक, अंक १, (भूमिका)
३. त्रिशंकु, पृष्ठ २८
४. त्रिशंकु, पृष्ठ ५३

ध्वनि उनकी रचनाओं में सर्वत्र मिलेगी उनके लिये आत्मा चिर यात्री है, पर उसके पथ पर चलना है, मांगना नहीं।[1] ऐसी स्थिति में व्यक्तिगत अन्वेषण का इतना आग्रह क्यों? परीक्षित सत्यों को स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है? मानवता की सहज भूमि स्वयं सबसे बड़ा सत्य है। जीवन के मूल्यों को परखने की कसौटी उसे ही क्यों न माना जाय? हमारा सांस्कृतिक इतिहास साक्षी है, कि जब-जब समाज रूढ़िग्रस्त हुआ है, नैतिक मूल्यों का पतन हुआ है, हमारे विचारकों ने सहज मानवता की भूमि पर ही जीवन के सत्य की उपलब्धि की है। गौतम, गोरख, कबीर आदि सभी ने मानवता की भूमि पर ही जीवन-सत्य की उपलब्धि की थी। रूढ़िग्रस्त एवं पथ-भ्रष्ट सामाजिक गति को तोड़कर नया सामाजिक संगठन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है, किन्तु इसके लिये भूमि तैयार करने की आवश्यकता होती है। वैयक्तिक विद्रोह उच्छृंखलता है, क्रान्ति नहीं। 'शेखर' का विद्रोह ऐसा ही विद्रोह है। उसे घोर बुद्धिवादी का वैयक्तिक विद्रोह कह सकते हैं। सम्भावना की सीमा पार कर जाने पर कोई भी वस्तु अपना प्रभाव खो देती है।

"प्रत्येक शुद्ध कला-चेष्टा में अनिवार्य रूप से एक नैतिक उद्देश्य निहित रहता है।" अज्ञेयजी के इस कथन को स्वीकार कर लेने का तात्पर्य तो यह हुआ कि अपर्याप्तता की भावना के प्रति व्यक्ति के सभी विद्रोह उचित एवं न्याय्य हैं। कलाकार की आत्मचेतना स्वयं उसके कृतित्व की आलोचिका हो सकती है, किन्तु यह आलोचना तभी नैतिक मूल्यों की रक्षा कर सकेगी जब कलाकार की चेतना का पूर्ण परिष्कार हो गया हो। वह संकीर्णताओं से परे हो। अन्यथा नहीं। अभावों की अनुभूति एवं फलस्वरूप विद्रोहात्मक दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति सदैव परिष्कृत आत्म-चेता कलाकार में ही होती है, यह कैसे कहा जा सकता है?

काव्य को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति न मानकर माध्यम की अभिव्यक्ति मानना तो और भी आपत्तिजनक है। टी० एस० इलियट के आधार पर अज्ञेयजी ने अपनी इस मान्यता की व्याख्या करते हुए कहा है—"कवि-मानस भी किन्हीं विभिन्न अनुभूतियों पर असर डालकर उसके मिश्रण और संगम का माध्यम बनता है; उस संगम से एक कला वस्तु निर्मित होती है जो विभिन्न तत्त्वों की जोड़ भर नहीं, उसमें कुछ अधिक है, एक आत्यन्तिक एकता रखती है, और जो बिना कवि-मानस के माध्यम के अस्तित्व नहीं प्राप्त कर सकती थी।[2] यह ठीक है कि कलावस्तु या काव्यवस्तु कवि-मानस के माध्यम के बिना अस्तित्व नहीं रख सकती। यह भी ठीक है कि कला-वस्तु में आत्यन्तिक एकता होती है। किन्तु कवि-मानस कोई

---

१. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ५५

२. 'त्रिशंकु', पृष्ठ ३७

जड़ वस्तु नहीं है जो सर्वथा असम्पृक्त रहकर तटस्थ माध्यम रह सके। और कलाकृति उससे सर्वथा भिन्न रूप में अस्तित्व ग्रहण कर सके। 'अनुभव करनेवाला प्राणी' और 'रचना करनेवाला मन' दोनों मूलतः भिन्न कैसे हो सकते हैं? यदि इसे मान भी लिया जाय तो स्वयं 'अज्ञेय' जी की यह स्थापना कि "कला एक प्रकार का आत्मदान है", किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? जब अनुभव करनेवाला 'कवि', रचना करनेवाला 'कवि-मानस' और 'रचना' या 'कला' अलग-अलग हैं तो आत्मदान कैसा? इसके अतिरिक्त अनुभव करनेवाला प्राणी यदि अलग हो भी तो उसके अलगाव का प्रमाण? 'तुलसी' की इयत्ता उनकी रचनाओं से पृथक् यदि कुछ है? तो वह कैसे जानी जा सकती है? रचना करनेवाला मन यदि अलग रचना करता रहता है तो 'रचना' या सृजन से अनुभव करनेवाले प्राणी को आत्मतोष कैसे होता है? अज्ञेयजी की इस मान्यता को स्वीकार कर लेने से ऐसे अनेक प्रश्न उठ सकते हैं? मुझे तो ऐसा लगता है कि 'अज्ञेय'जी की वैयक्तिकता उस सीमा तक पहुँच गई है कि वह अपनी ही रचना का दायित्व स्वीकार नहीं करना चाहती है।

'नदी के द्वीप' में "अनुभव करनेवाले प्राणी 'अज्ञेय'" की नहीं, "रचना करनेवाले 'अज्ञेय'-मन" को 'रेखा' कहती है—"पर भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो, वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी वह नहीं है; पर निर्णायक भी वह नहीं है।"[1] व्यक्ति को इतना अधिक महत्व क्यों दिया जाय कि सही और प्रासंगिक सामाजिक दृष्टि का निर्णय भी उसे मान्य न हो। श्री त्रिलोचन शास्त्री ने 'नदी के द्वीप' की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "'नदी के द्वीप' के हम प्रशंसक हैं। इसमें 'अज्ञेय' की शैली का निखार हुआ है। इतने अधिक और मौलिक जीवनानुभूतियों का इसमें एकीकरण है जितना नर-नारी सम्बन्ध विषयक हिन्दी के और किसी उपन्यास में नहीं। इसके पात्र अभिजात हैं। वे एक दूसरे से कवियों की भाषा में अपने अन्तःस्वरों की अनुगूंज सुनते और सुनाते हैं। साधारण पाठक तो इन बहुभाषाविद् और बहुरूप पात्रों से परिचय पाने का साहस ही खो बैठेगा।"[2] यदि पात्रों का आभिजात्य, कवियों की भाषा में अपने अन्तः स्वरों की गूंज सुनाना, साधारण पाठक के लिये अगम्यता तथा शैली का निखार ही एक महान् कलाकृति का लक्षण है तो 'नदी के द्वीप' के हम भी प्रशंसक हैं। किन्तु वस्तुतः उपर्युक्त सभी विशेषतायें घोर बौद्धिक दृष्टिकोण तथा अति वैयक्तिकता के फलस्वरूप हैं। जिनका स्वागत कोई भी सामान्य सामाजिक प्राणी नहीं कर सकता।

---

१. 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २७८

२. आलोचना, अंक ४, पृष्ठ ६२

शैली के निखार की दृष्टि से 'अज्ञेय' का कृतित्व अवश्य महत्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को बौद्धिक सूक्ष्मता प्रदान की है। वह सूक्ष्मतम अनुभूतियों को व्यक्त करने में सफल हुआ है। उसकी शक्ति प्रसारकता में नहीं निगूढ़ता में है। 'अज्ञेय' का महत्व एक अन्य दृष्टि से भी है। उन्होंने हिन्दी में पाश्चात्य साहित्य की नवीनतम चेतना की अवतारणा की है। अपने युग के महान् कलाकारों से प्रेरणा लेना निन्द्य नहीं है। स्वयं प्रेमचन्द ने तॉल्स्तॉय, गोर्की, डिकेन्स आदि कलाकारों से प्रेरणा ग्रहण की थी। विचारणीय है कि प्रेरणा का यह स्रोत भारतीय जन-चेतना का परिष्कार करने में सहायक सिद्ध होगा या नहीं? 'अज्ञेय' की प्रेरणा के स्रोत टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस, बॉदलेयर, मलार्मे, प्रूस्त, इज़रा पाउण्ड, जीन पाल सार्त्रे आदि कलाकार हैं।[1] इनसे प्रेरणा लेकर 'अज्ञेय' ने जो कुछ हिन्दी-साहित्य को दिया है, उसका स्वागत न तो 'प्रगतिशील आलोचक' कर रहे हैं और न 'रस-वादी'। भारतीय मनोभूमि के लिये उनका कृतित्व, परिस्थितियों को देखते हुए अधिक उपादेय नहीं कहा जा सकता।

---

१. आलोचना, अंक २, पृष्ठ ७

यशपाल

मार्क्सवादी कथाकारों में यशपाल सर्वाधिक सशक्त हैं। वे अपने विचारों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं। अध्ययन और अनुभव ने उनके विचारों को प्रौढ़ और उनके व्यक्तित्व को आकर्षक बना दिया है। 'मनुष्य के रूप', 'दादा कामरेड', 'दिव्या', 'देशद्रोही', 'पक्का कदम', 'पार्टीकामरेड', उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'अभिशप्त', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'धर्मयुद्ध' 'उत्तराधिकारी', 'चित्र का शीर्षक', 'तुमने क्यों कहा था मैं सुन्दर हूँ', उनकी कहानियों के संग्रह हैं। स्वयं यशपाल इन कहानियों को समय-समय पर विचार-वस्तु के लिये उपयोगी माध्यम मानते हैं। इनमें अनुभूति-प्रधान निबन्ध भी हैं और शब्द-चित्र भी जो अपनी मनोरञ्जकता में कहानियों के निकट आ गये हैं। 'मार्क्सवाद', 'चक्करक्लब', 'न्याय का संघर्ष', 'रामराज्य की कथा', 'देखा, सोचा, समझा !', 'बात-बात में बात', 'शोषक श्रेणी के प्रपञ्च या गांधीवाद की शव परीक्षा', 'लोहे की दीवार के दोनों ओर', यशपाल के प्रसिद्ध राजनैतिक निबन्ध-संग्रह हैं। 'सिंहावलोकन' नाम से दो भागों में आपने अपनी जीवनगाथा भी प्रस्तुत की है। 'नशे नशे की बात !' नामक आपका एक नाटक भी है। वस्तुतः इस समस्त कृतित्व के माध्यम से उनकी मान्यताओं एवं विचारों की व्याख्या ही प्रस्तुत हुई है। आपकी दृष्टि में "उद्देश्यों, आदर्शों और विचारों की कलापूर्ण अभिव्यक्ति या विचारार्थ समस्याओं की ओर कलापूर्ण ढंग से ध्यान दिलाना ही साहित्य है।"[1] 'कला मात्र' के लिये वही साहित्य हो सकता है जो विचार-शून्य हो। यदि जीवन संघर्ष है और कला जीवन की भावना की अभिव्यक्ति है तो कला संघर्ष की द्योतक हुये बिना नहीं रह सकती।[2] जो लोग साहित्य को सौंदर्य की अनुभूति मानते हैं वे यह भूल जाते हैं कि सौंदर्य पदार्थों और भावों का गुण है। प्रकृति का सौन्दर्य भी मनुष्य के लिये ही है और उसे भी हम अपनी कल्पना के रंग में रंग कर ही देखते हैं।

प्राचीन साहित्य में भी श्रेणी संघर्ष की भावना स्पष्ट है। वाल्मीकि ने ब्राह्मण के तपस्या अथवा आध्यात्मिक चिन्तन के अधिकार की ठेकेदारी और

---

१. बात-बात में बात !, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ २८

शूद्र के लिये सेवा धर्म व्यवस्था का प्रचार किया है। सीता के सतीत्व की महिमा का गान करके स्त्री के लिये पति की दासता का प्रचार किया है। सत्य हरिश्चन्द्र का ब्राह्मण को सन्तुष्ट करने के लिये अपनी स्त्री तक को बेच देना तथा स्वामि-भक्ति निभाने के लिये पुत्र की मृत्यु पर बिलखती माता के शरीर से आधी साड़ी फड़वा लेना, शासक और शोषक श्रेणी के अधिकारों का समर्थन नहीं तो और क्या है? कालिदास ने रघुवंश में जिन राजाओं की तेजस्विता का गुणगान किया है, उनके भोग-विलास का चित्र देखकर आज अनास्था उत्पन्न हो जाती है; ऐसी स्थिति में कालिदास को शासक वर्ग का समर्थक नहीं तो क्या कहा जाय? ऐसा साहित्य आज समाज के लिये हितकर नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में 'शाश्वत साहित्य' जैसी कोई वस्तु नहीं।

साहित्य की रचना स्वान्तः सुखाय नहीं होती। ऐसा कहनेवाला साहित्यकार जो चाहता है वह पा नहीं सकता तो न पाने को ही सुख समझना चाहता है। आपकी दृष्टि में प्रगतिशील साहित्य का काम है "समाज के विकास के मार्ग में आनेवाली अन्ध-विश्वास और रूढ़िवादी की अड़चनों को दूर करना, समाज को शोषण के बन्धन से मुक्त करने के कार्य क्रम में प्रगतिशील क्रान्तिकारी सर्वहारा श्रेणी का सबल साधन बनना।"[1] और यशपाल अपनी कृतियों के माध्यम से यही कर रहे हैं। उन्हें अपने विश्वासों में पूर्ण आस्था है। वे स्पष्टतः स्वीकार करते हैं—"मैं सर्वसाधारण जनता को शोषित और अन्याय-पीड़ित समझता हूँ। इस अन्याय से जनता की मुक्ति का उपाय कम्युनिज्म की द्वन्द्वात्मिक भौतिकवादी विचारधारा को मानता हूँ।"[2]

आज मानवता का रूप विकृत हो गया है। उसमें विषमता है। मानव, मानव को घृणा करता है। शक्तिशाली, निर्बल को चूसता है। न्याय, सरकार, पुलिस, रक्षा के अन्य साधन सभी अमीरों के लिये हैं। धर्म एक प्रवञ्चना है। इसी की आड़ में साम्राज्यवादी और पूँजीवादी शक्तियाँ जन-साधारण को धोखे में रखती हैं। गांधी की सत्य और अहिंसा ने भी देश में चलनेवाले राजनैतिक आन्दोलन की स्वाभाविक गति को रोककर पूँजीवाद की रक्षा की थी। इस प्रवञ्चना को हटाकर हमें ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि करनी है "जिसमें मनुष्य शिश्नोदर की अतृप्ति और तृष्णा से पशु न बना रहे और मनुष्य-समाज श्रेणियों और राष्ट्रों के संघर्ष से आत्महत्या न करता रहे।"[3] ऐसे समाज की सृष्टि,

---

१. बात-बात में बात!, पृष्ठ २७
२. देखा, सोचा!, समझा, पृष्ठ १०८
३. देशद्रोही की भूमिका, पृष्ठ ६

सौंदर्य और तृप्ति के साधनों की उत्पत्ति से ही सम्भव है। साहित्यकार भावना और संकेत द्वारा ऐसी परिस्थिति के निर्माण में सहायता पहुँचा सकता है जिसमें सौंदर्य और तृप्ति के साधनों का प्राचुर्य हो सके। इसलिये "विकास और पूर्णता के सामाजिक प्रयत्न की इच्छा और उत्साह उत्पन्न करना और उस उत्साह को विवेक और विश्लेषण की प्रवृत्ति द्वारा सजग और सचेत रखने की भावना जगाना साहित्य के कलाकार का काम है।"[1]

यशपालजी ने भाषा के प्रश्न पर भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। ये विचार महत्त्वपूर्ण हैं। *आपका दृढ़मत है कि एक राष्ट्रीयता में किसी समय भी अनेक भाषायें नहीं हो सकतीं। वस्तुतः अंग्रेज अपनी पुलिस शासन-व्यवस्था* के प्रति हिन्दुओं और मुसलमानों के संयुक्त विरोध से भयभीत थे। "उन्होंने अपनी नौकरशाही का काम चलाने के लिये एक जटिल भाषा गढ़ डाली और इसके लिये फारसी लिपि नियत कर इसका नाम उर्दू रख दिया।"[2] इसीलिये आप ने यू० पी० प्रगतिशील लेखक संघ की प्रान्तीय समिति में अपना प्रस्ताव *उपस्थित करते हुये कहा था "हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा की, जिसका परम्परागत नाम हिन्दी है, दो साहित्यिक शैलियाँ हैं।"*[3] इसी सिद्धान्त को मानते हुये आपने अपनी कृतियों में भाषा-सम्बन्धी दृष्टिकोण बड़ा ही उदार रखा है। जन-बोली में प्रचलित शब्दों से लेकर उर्दू और अंग्रेजी के शब्द भी आवश्यकतानुसार आपकी भाषा में बराबर प्रयुक्त हुये हैं। पात्र, परिस्थिति तथा अनुभूति और विचारों के अनुसार भाषा को सजीव और सशक्त बनाने के लिये सभी प्रकार के *शब्दों को आपने बिना किसी हिचक के ग्रहण किया है।* इसीलिये 'दिव्या' में प्राचीन सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि के लिये 'आस्थानागार', 'अग्रहार', 'आयुध-जीवी', 'कापिशायिनी', 'जेट्ठक', 'मेरय', 'विष्टर', 'शौल्किक' जैसे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को भी आपने स्थान दिया है। और दूसरी ओर 'मनुष्य के रूप' में ठेठ जन-जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुये आपने 'ढाँप','कलरव', 'कटड़ी', 'पछोर', 'छाज', 'मोढ़ा', 'बलियाणी', 'तिहाजू', 'बटुर', 'जग' (यज्ञ), जैसे ठेठ *शब्दों का भी प्रयोग किया है।* इसी प्रकार 'गमी में खुशी' कहानी में लखनऊ के नवाबी जीवन को सजीव करने के लिये,'कोहदिक्न', 'वाल्दा', 'तुर्वत', 'जश्न', 'मरहूम', 'मसरूफ़', 'नामुराद', 'चश्मबद्दूर', 'दिलपज़ीर', 'नाउज़बिल्ला', जैसे अप्रचलित उर्दू शब्दों को भी ग्रहण किया गया है। कहीं-कहीं अभिव्यक्ति की

---

१. देशद्रोही की भूमिका, पृष्ठ ६
२. *नयापथ, सितम्बर १९५३, पृष्ठ ६८*
३. *नयापथ, अक्टूबर १९५३, पृष्ठ १३१*

पूर्णता के लिये हिन्दी के समानान्तर अंग्रेजी शब्दों को भी आपने उद्धृत किया है। सब मिलाकर आपकी भाषा-नीति बड़ी ही उदार कही जा सकती है। और इस नीति ने हिन्दी को सजीव और सशक्त किया है।

यशपालजी के सुलझे हुये व्यक्तित्व ने हिन्दी-गद्य-शैली को भी एक नई दिशा दी है। विचारों की स्पष्टता, अनुभव की विविधता, भावों की सरसता, चित्रों की रम्यता, व्यंग्य की तीव्रता, हास्य की मधुरता तथा विवरण की विशदता और सभ्यता ने मिलकर आपकी गद्य-शैली को बड़ा ही आकर्षक एवं प्रभावशाली बना दिया है। आपकी शैली में कहीं भी रुक्षता नहीं आ सकी है और बोधगम्यता तो उसकी सहज विशेषता है। वार्तालाप शैली में युक्ति और तर्क देखने बनते हैं। आपने कहीं-कहीं प्रकृति के बड़े ही मनोरम चित्र खींचे हैं। अनेक स्थलों पर आप का गद्य काव्यात्मक हो गया है। ऐसे स्थलों पर आपने जीवन में बड़ी ही सटीक उपमायें प्रस्तुत की हैं। प्रकृति का एक सुन्दर चित्र देखिये—

"ढोरों के गले की घंटियों का शब्द। कुछ समतल से घाटों पर खेत दिखाई दिये। खेतों के परे, छतों पर धूप में सुखाने के लिये बिछाई गई लाल-पीली मक्का के दानों से ढँकी काली-काली झोंपड़ियाँ। उनके चारों ओर एक पहाड़ी कुअन्न 'बीयू' के खेत। खेत पक गये थे। बीयू के पत्ते पीले पड़ गये थे और बालें मुर्गे की कल्गियों की तरह सुर्ख हो रही थीं। उमड़ते बादल भी विचार बदल चुके थे। अस्तोन्मुख सूर्य की किरणें अन्तिम भेंट के लिये पहाड़ियों के माथे, झोंपड़ियों और खेतों पर झुक रही थी। अब जान पड़ा, प्रकृति मुस्करा रही है।"[1]

यशपाल के गद्य में शक्ति है। उसमें प्रतिभा है। उन्हें जीवन की अनेक ऊँची-नीची भूमिओं का अनुभव है। और वे इन सबका उपयोग जीवन को सुन्दर बनाने के लिये कर रहे हैं। सौंदर्य, समता में है और समता? मार्क्सवादी जीवन-दर्शन में। आधुनिक जीवन की समस्त कुरूपतायें मानवकृत हैं। मार्क्सवाद उनका एक मात्र समाधान है। अतः उसका प्रचार-प्रसार कलाकार का कर्तव्य है। यशपाल अपनी कृतियों से उसी के लिये पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

१. देखा, सोचा, समझा, पृष्ठ २८

राहुल सांकृत्यायन

राहुल सांकृत्यायन का गद्य-साहित्य आलोचना, उपन्यास कहानी, निबन्ध, भाषा-विज्ञान, यात्रा, राजनीति, इतिहास, संस्कृति आदि अनेक विषयों को समेटने में समर्थ हो सका है। साहित्यिक व्यक्तित्व की इस विशालता के मूल में उनका विस्तृत जीवन-अनुभव, गम्भीर अध्ययन एवं प्रखर बुद्धि कार्य करती रही है। निश्चय ही वे महाप्राण और महा पंडित हैं। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में उनके पांडित्य के दो पक्ष हैं—एक पुरातत्व का व्यापक और गम्भीर ज्ञान, दूसरा आधुनिक समाजवादी दर्शन, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, का ठोस व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञान। मैं समझता हूँ इन दोनों से अधिक मूल्यवान् राहुलजी का विस्तृत अनुभव-ज्ञान है। वे एक सच्चे घुमक्कड़ हैं। उनके जीवन का अधिकांश घूमने में व्यतीत हुआ है। जीवन की अनेक यात्राओं से उन्होंने बहुत कुछ सीखा है। फलतः उनका स्वतन्त्र जीवन-दर्शन बन चुका है जो किसी भी मतवाद में घिर कर नहीं रह सकता। उन्होंने स्वयं लिखा है—"सच्चा घुमक्कड़ धर्म, जाति, देश-काल सारी सीमाओं से मुक्त होता है, वह सच्चे अर्थों में मानवता के प्रेम का उपासक होता है।"[1] राहुलजी सहज मानवता के पुजारी हैं। इसके पोषक तत्त्व उन्हें जहाँ भी मिलते हैं वे ग्रहण कर लेते हैं; चाहे वह मार्क्सवाद हो या बौद्ध दर्शन या सिद्ध-नाथ साहित्य। इसीलिये किसी एक निश्चित आधार पर उनके विचारों की परीक्षा करने पर असंगतियाँ दिखाई देती हैं। डॉ० नगेन्द्र को भी, इसीलिये, राहुलजी द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और बुद्ध प्रतिपादित अनात्मवाद, दोनों की स्वीकृति में असंगति प्रतीत हुई है। सन् १६४७ ई० में प्रगतिशील साहित्य के सम्बन्ध में भाषण देते हुये राहुलजी ने कहा था—"प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रुँधे रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद, कलाकार की स्वतन्त्रता का नहीं, परतन्त्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम-रोम में भीग गई है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गई है, वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है।" प्रगतिवाद की यह व्याख्या उनके स्वतन्त्र विचारों का द्योतन करती है।

पैंतीसवें हिन्दी-साहित्य सम्मेलन (१६४७ ई०, बम्बई) में दिये गये अपने महत्वपूर्ण भाषण में आपने समालोचक के कर्तव्य की ओर संकेत करते हुये कहा था —

---

१. किन्नर देश में

"आज का साहित्यकार अपनी रचनाओं में एक पक्ष पर प्रहार करते हुये बहुत अति में चला जाता है और उसे उसके कोई गुण नहीं दिखाई देते, दूसरा साहित्यकार दूसरे पक्ष की ओर जाता है। इस तरह दोनो ही वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं। समालोचक ही उनके इस अतिचार को दिखलाते हुये वास्तविकता के पास ला सकता है।"

समालोचक का यह रूप किसी भी सकीर्ण सैद्धान्तिक मतवाद के भीतर नही रखा जा सकता। वैसे, आपके जीवन-दर्शन के विकास में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की छाप स्पष्ट लक्षित की जा सकती है। राजतन्त्र और अध्यात्मवाद दोनो को एक ही सिद्धान्त के दो रूप मानना, पुत्र को पिता का परलोक मानना, प्राचीन गणतन्त्रों के प्रति आस्था प्रकट करना आदि अनेक मान्यतायें भौतिकवादी जीवन-दर्शन के अनुकूल ह। किन्तु यह आपको वहीं तक मान्य है, जहाँ तक आपके विचारों का पोषण करता है। आपका व्यक्तित्व इसी की सीमा में घिरकर नहीं रह गया है।

आपका भाषा विषयक दृष्टिकोण भी बड़ा ही सन्तुलित और उदार है। आप पारिभाषिक शब्दो को अँगरेजी से ज्यों का त्यों ले लेने के पक्ष में नहीं हैं। साथ ही नैत्यिक जीवन में प्रचलित अँगरेजी शब्दो को आप गिन-गिन कर निकालने की सम्मति भी नही देते। भाषा की सार्वदेशिकता को ध्यान में रखकर आप हिन्दी-व्याकरण के नियमो में भी अनुकूल और उचित परिवर्तन करना चाहते हैं।[1]

आपके कृतित्व का बहुत बड़ा अश उपन्यास साहित्य है। 'भागो नही बदलो', 'जादू का मुल्क', 'जीने के लिये', 'सोने का ढाल', 'शैतान की आँखें', 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न' आदि अनेक उपन्यास आपकी लेखनी से प्रसूत हो चुके हैं। इस क्षत्र में विशेष ख्याति आपको 'सिंह सेनापति' 'जय यौधेय' तथा 'मधुर-स्वप्न' के कारण प्राप्त हुई है। इन ऐतिहासिक उपन्यासों में आपका जीवन विषयक दृष्टिकोण भी स्पष्ट हुआ है।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के लिये आप ऐतिहासिक सामग्री का पूर्ण अनुशीलन आवश्यक मानते हैं साथ ही इसके लिये भौगोलिक ज्ञान की अनिवार्यता पर भी आपने बल दिया है। आप लिखते हैं—"ऐतिहासिक कथाकार को हमेशा ध्यान रखना चाहिये कि हमारी एक-एक पाती पर एक बड़ा निष्ठुर मर्मज्ञ-समूह पैनी दृष्टि से देख रहा है। हमारी जरा भी गलती वह बरदाश्त नहीं करेगा, वह हमारी भारी

---

१. देखिये, 'मुंगेर साहित्य सम्मेलन' के सभापति पद से दिया गया भाषण।

यह कहलायगा।"[1] अपने उपन्यासों में आपने इस कथन की सत्यता के निर्वाह का प्रयत्न भी किया है। प्राचीनता की प्रतीति के लिये शब्दों के 'प्राकृत' रूपों का प्रयोग भी आपने किया है। यह प्रवृत्ति अधिक शोभन नहीं प्रतीत होती। एक ओर तो प्राकृत के शब्दों का प्रयोग किया गया है और दूसरी ओर एकाध स्थल पर अंग्रेजी के शब्द भी आ गये हैं। इसी तरह प्राचीनता के कलेवर में अनेक स्थलों पर आधुनिक युग की प्रेरणाओं और परिस्थितियों से निर्मित, लेखक की निजी मान्यतायें भी उभर आई हैं।

कला की दृष्टि से राहुलजी के उपन्यास अधिक सफल नहीं माने जा सकते हैं। वे मूलतः विवरणात्मक हो गये हैं। न तो कथा-विकास में नाटकीयता आ सकी है और न पात्रों में अन्तर्द्वंद्व उभर सका है। कथा और चरित्र दोनों का विकास पूर्व निश्चित दिशा में सीधी रेखाओं में हुआ है। बीच-बीच में ऐसी अनेक बातें वर्णित हैं जिनकी स्थिति ऐतिहासिक औचित्य के आधार पर कम लेखक की निजी मान्यताओं की पुष्टि के लिये अधिक हुई है। मांस-मदिरा के अत्यधिक प्रचार, पुरोहितों की धूर्तता, गणतन्त्रों की सुव्यवस्था तथा उनमें वर्णभेद का अभाव, सम्मिलित-सम्पत्ति तथा सम्मिलित-पत्नी-व्यवस्था आदि की जो विस्तृत चर्चा राहुलजी ने की है, उसे इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या न कहकर भौतिकवादी मान्यताओं का इतिहास पर आरोप कहा जायगा।

लोक-जीवन, लोक-भाषा और लोक-साहित्य के प्रति राहुलजी का अत्यधिक अनुराग है। आपने स्वयं भोजपुरी में कई एकांकी नाटकों की रचना भी की है। आपका स्पष्ट मत है कि—"भाषा, साहित्य, कला, संगीत के मूल में अगर घुसकर देखा जाय तो मालूम होता है कि इस सबकी सृष्टि जनगण ने की है, और उसे प्रारम्भिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जनगण की सृष्टि बड़ी मनमोहक, मधुर और गम्भीर होती है यह आप आज भी जनकाव्य से समझ सकते हैं।"[2]

जन बोलियों की शक्ति में आपको अटूट विश्वास है। आप कहते हैं—"शायद पुरानों ने मंत्र-तंत्र की शक्ति से प्रेरित होकर वाणी को वज्र बतलाया है, लेकिन आज तो वह खुले अर्थों में वज्र है।" इसी विश्वास को बल देते हुये आपने कहा है—

"यदि हम अपने राजनीतिक या सामाजिक विचारों को जनगण के हृदय तक पहुँचाना चाहते हैं, यदि सामाजिक क्रान्ति के लिये उनमें चेतना लाना चाहते हैं,

---

१. आलोचना, अंक १३, उपन्यास विशेषांक, पृष्ठ १७१

२. नयापथ, अगस्त १९५३, पृष्ठ २७

तो सब तरह का मोह छोड़कर जन-भाषा को माध्यम के तौर पर अपनाना होगा।"[1]

इस प्रकार राहुलजी का साहित्यिक व्यक्तित्व अनेक तत्त्वों से सगठित तथा अनेक दिशाओं में विकसित हुआ है। बौद्ध-दर्शन, मार्क्सवाद, जीवन के व्यक्तिगत अनुभव तथा सिद्धों और योगियों की बानियों के सम्मिलित प्रभाव से आपकी जीवन-दृष्टि का निर्माण हुआ है। मातृभाषा और मातृभूमि दोनों के प्रति आपका अत्यधिक अनुराग है। इन सारे प्रभावों को लेकर आपने हिन्दी-साहित्य को जो कुछ भी दिया है। वह विशालता और गम्भीरता दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

---

१. नयापथ, पृष्ठ २६

पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

मिश्रजी का व्यक्तित्व अन्वेषक, सम्पादक, आलोचक और टीकाकार के रूप में हमारे सामने आता है। 'पद्माकर-पञ्चामृत', 'भूषण-ग्रंथावली', 'घनानन्द-कवित्त', 'रसखानि-ग्रंथावली', 'घनानन्द-ग्रंथावली', 'केशव-ग्रंथावली' आदि महत्वपूर्ण कृतियों का आपने वैज्ञानिक सम्पादन किया है। इन कृतियों के प्रारम्भ में दी हुई विस्तृत भूमिकायें आपके अनुसन्धान एवं आलोचना के स्वरूप को प्रकट करती हैं। 'काव्यनिर्णय', 'रसिक-प्रिया' तथा 'कवितावली' गीतावली' की आपकी टीकायें प्रसिद्ध हैं। 'रामचरितमानस' की टीका प्रकाशित नहीं हुई है। 'वाङ्मय-विमर्श' सम्पूर्ण हिन्दी-वाङ्मय पर आपके समान अधिकार की सूचना देता है। 'काव्यांग-कौमुदी' का प्रचार विद्यार्थी वर्ग में कम नहीं है। 'प्रेमचन्द की कहानी कला', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'बिहारी' आपकी व्यावहारिक समीक्षा का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। 'हिन्दी का सामयिक-साहित्य' आपके समय-समय पर लिखे गये लेखों का संग्रह है जिनका सम्बन्ध आधुनिक कवियों, लेखकों या साहित्य-प्रवृत्तियों से है। इसमें आधुनिक हिन्दी-साहित्य के अंगों और प्रवृत्तियों के विषय में आपके विचार भलीभाँति प्रकट हुये हैं। 'सनातनधर्म' तथा 'वर्णाश्रम धर्म' पत्रों का सम्पादन भी आपने किया था। इधर आचार्य शुक्ल की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसमीमांसा' का सम्पादन भी आपने किया है। इस प्रकार हिन्दी-गद्य-साहित्य को आपकी बहुमुखी देन स्तुत्य है।

मिश्रजी ने हिन्दी-रीति-काल के स्वच्छन्दतावादी कवियों के सम्बन्ध में विशेष अनुसन्धान एवं अध्ययन किया है। इन कवियों का अध्ययन, आपने शोध का विषय बनाया था। खेद है कि जिस रूप में इसे प्रस्तुत होना चाहिये था उस रूप में यह बहुमूल्य अध्ययन हमारे सामने नहीं आया; फिर भी जिस रूप में आप इसे *प्रकाशित कर रहे हैं, हिन्दी के लिये उसकी महत्ता कम नहीं है*। घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम, रसखानि आदि कवियों के अध्ययन के अभाव में हमारे शृंगार-युग का अध्ययन अधूरा रह जाता है।

विचारों की दृष्टि से आपको चिरन्तनवादी कहा जा सकता है, किन्तु चिरन्तनता को आप सदैव गतिशील मानते हैं। आप यह नहीं स्वीकार करते कि वर्तमान, भूत से सर्वथा अलग है या भविष्य, वर्तमान का आधार लिये बिना अपना स्वरूप स्थिर कर सकता है। हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्ति-विकास को भी आप *इसी अर्थ में सनातन और चिरन्तन मानते हैं*। आधुनिक काव्य को आप रीति-

कालीन काव्य-परम्परा से विच्छिन्न नहीं मानते। आपकी दृष्टि में रीतिकालीन, स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रभाव 'भारतेंदु' के काव्य में तथा 'भारतेंदु' का प्रभाव 'प्रसाद' के काव्य में लक्ष्य किया जा सकता है।

आपकी दृष्टि में काव्य का सीधा सम्बन्ध हृदय से है मस्तिष्क से नहीं। उसका लक्ष्य हृदय का परिष्कार है। उसका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में सभी ललित कलाओं से है और उसका विकास समाज में मंगल का विधान करने के लिये होता है। वह जीवन को उसकी समग्रता या अखंडता में देखना चाहता है। वह शील से च्युत होकर लक्ष्य-भ्रष्ट हो जाता है। उसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों के लिये स्थान है। पर-भाव में स्व-भाव का लोप भारतीय साहित्य को सदैव अभीष्ट रहा है। यह एक प्रकार की भाव-साधना है। व्यष्टि साधक है और समष्टि साध्य। प्रबन्ध-ग्रंथों में समष्टि का ध्यान अधिक रखा जाता है। उसमें शील के निर्माण के लिये अधिक क्षेत्र होता है। इसीलिये मुक्तकों की तुलना में प्रबन्ध काव्य श्रेष्ठ माना जाना चाहिये। साहित्य अपने विशुद्ध रूप में न कभी पलायनवाद का समर्थन कर सकता है और न रूढ़ियों का पोषण।

समीक्षा के मानदंड के लिये 'रसवाद' को आप सर्वथा उपयुक्त मानते हैं। आप मूलतः रसवादी आलोचक हैं। आपकी दृष्टि में 'रस' कोई अलौकिक वस्तु नहीं, एक सामाजिक प्रक्रिया है। साहित्य के निर्माण में कर्त्ता, वर्ण्य और ग्राहक इन्हीं तीन की आवश्यकता होती है। कर्त्ता की अनुभूतियों को ग्राहक ग्रहण करता है। आपके शब्दों में "वर्ण्य की जिस भाव-धारा का प्रवाह कर्त्ता की वाणी से फूटता है वह ग्राहक के हृदय-प्रदेश में प्रवाहित होकर एक वृत्त बनाता है। भारतीय आचार्य इसे ही रस कहते हैं।"[1] इस प्रकार भाव-व्यञ्जना से ही रस संभव है। भाव-व्यञ्जना के लिये शब्द और अर्थ की स्थिति अनिवार्य है। 'शब्द' का सम्बन्ध कर्त्ता से, अर्थ का वर्ण्य से और भाव का ग्राहक से होता है। 'शब्द' समाज की देन है। 'वर्ण्य' भी समाज से ग्रहण किया जाता है और 'भाव' की स्थिति समाज के अभाव में सम्भव नहीं। इस प्रकार रस-प्रक्रिया के सभी अनिवार्य तत्व सामाजिक हैं। 'रस-सिद्धान्त में औचित्य का आग्रह सामाजिकता का आग्रह है। अनौचित्य की स्थिति में आचार्यों ने रसाभास माना है। औचित्य और अनौचित्य का निर्णय सामाजिक मर्यादा के अनुसार होता है। अतः यह क्यों न कहा जाय कि 'रस-प्रक्रिया' में सामाजिकता प्रमुख है। औचित्य-विचार का दूसरा नाम सामाजिकता विचार है।"[2] इसी आधार पर, आप की दृष्टि में, समाजवादी और

---

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृष्ठ १२६
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृष्ठ २१६

गतिवादी साहित्य का मूल्यांकन भी रसवाद के आधार पर किया जा सकता है। ापने लिखा है—'जो कहते हैं कि प्राचीन रस-प्रक्रिया समाज के काम की नहीं न्हें उसको समझने का अभ्यास डालना चाहिये।"[1]

मिश्रजी ने हिन्दी की आधुनिक काव्य-धाराओं पर भी विचार किया है। गतिवादी काव्यधारा के पूर्व आप 'स्वच्छन्दतावाद' (रोमांटिसिज्म), 'रहस्यवाद' मिस्टीसिज्म) और 'छायावाद, (एक्सप्रेशनिज्म) काव्य की इन तीन धाराओं की ्यति मानते हैं। स्वच्छन्दतावाद में सामाजिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना धान थी। रहस्यवाद में सांसारिक या परिमित जीवन से अतृप्ति की भावना प्रमुख । और छायावाद में प्राचीन काव्य-शैली का विरोध ही प्रधान था। आगे लकर नये रूप-रंग की सभी रचनायें 'छायावाद' के अन्तर्गत मान ली गईं। ागतिवाद' को आप रहस्यवाद की प्रतिक्रिया मानते हैं। आपकी दृष्टि में रहस्यवादी कवि जीवन की कठोरता से व्यथित होकर 'उस ओर' गये थे। ी स्थिति में 'इस ओर' को सामने लानेवालों की आवश्यकता होने लगी थी ार फलस्वरूप 'प्रगतिवाद' के भीतर ऐसी रचनायें होने लगीं जो साहित्य को र वास्तविक जीवन से जोड़ने में संलग्न हुई।"[2] 'रहस्यवाद' को आप भारतीय ाव्य-परम्परा की वास्तविक धारा नहीं मानते।

सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी विचारात्मक निबन्धों के अति-क्त आपने कुछ संस्मरणात्मक निबन्ध भी लिखे हैं 'महावीर तीर्थ की यात्रा', । मैथिके !' आदि इसी कोटि के निबन्ध हैं। इन संस्मरणों में घटनाओं का ा बिम्ब आ गया है।

भाषा के सम्बन्ध में आपके विचार बहुत सुलझे हुये और स्पष्ट हैं। आप दी के तीन रूप स्वीकार करते हैं। 'हिन्दी बोली', 'हिन्दी प्रान्त भाषा' और न्दी राष्ट्र भाषा'। 'हिन्दी-बोली' से आपका तात्पर्य खड़ी बोली से है। 'हिन्दी त भाषा' से आपका तात्पर्य उच्च हिन्दी, या विशुद्ध हिन्दी या संस्कृत बहुला ी से है। 'राष्ट्र भाषा हिन्दी' का स्वरूप व्यापक है। उसमें बंगाली, मराठी, राती, तेलगू आदि भाषाओं के शब्द भी मिल गये हैं, मिल रहे हैं।

मिश्रजी की विवेचन-पद्धति मूलतः व्याख्यात्मक है। एक सफल अध्यापक के नाते आपका विवेचन स्पष्ट और सुलझा हुआ है। आचार्य शुक्ल की र आपके स्वर में भी दृढ़ता और आत्मविश्वास की मात्रा अधिक है। यदि जी की दृढ़ता इस रूप में प्रकट होती है कि "तुम मानो या न मानो मेरा

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ, २२२
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य पृष्ठ, ८९

कथन सोलहो आने ठीक है।" तो आपका विश्वास इस रूप में मुखरित होता है है कि 'मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ तुम समझने की चेष्टा तो करो।' विषय-विवेचन के उपरान्त आप भी शुक्लजी की ही भाँति निष्कर्ष देने की चेष्टा करते हैं। 'तात्पर्य यह कि', 'यह स्पष्ट हो गया होगा कि', 'बात यह थी कि', आदि वाक्य-खंडों के उपरान्त आप निश्चित मत दे देते हैं।

आपकी भाषा विशुद्ध हिन्दी है। बीच-बीच में संस्कृत के उद्धरण, आप बराबर देते चलते हैं। आपके शब्द-प्रयोग मे पर्याप्त संयम है। प्रत्येक वाक्य नपा-तुला और प्रत्येक शब्द सधा होता है। व्यर्थ का आडम्बर न होकर, आपकी भाषा में विचारों का घनत्व देखा जा सकता है। संस्मरणों की भाषा में मूर्त-विधायिनी शक्ति अधिक है। 'उन्होने नमस्कार के बाद छूटते ही कहा', 'केडिया-जी उछल पड़े', इस प्रकार के वाक्यों से क्रियाओं को मूर्त किया गया है। आप बीच-बीच में व्यंग भी कर देते हैं। व्यंगात्मक शैली का एक उदाहरण देखिये—"साहित्य का उद्देश्य गम्भीर है, तुकबन्दी, शब्द की तोड़-मरोड़ से बने लेखों, भाटों के कट्ट-फर्र-ट्ट आदि को या दरबारी लोगों की 'झुन-झुन टुन-टुन, रजन-गंजन-भंजन को ही जो साहित्य समझ बैठे हो उनकी बात निराली है।"[1] किन्तु यह आपकी प्रकृत शैली नही है। आपकी विवेचनात्मक शैली का सहज रूप निम्न-लिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"साहित्य की विभिन्न शाखाओं में जीवन के बाह्य और आभ्यंतर दोनों पक्षों की योजना किसी-न-किसी रूप में बराबर रहती है, केवल मात्रा का भेद होता है। जीवन के बाह्य पक्ष से कार्य-कलाप या वस्तु का संग्रह किया जाता है और आभ्यंतर पक्ष में हृदय तथा बुद्धि का योग रहता है। वस्तु या घटनाओं से सामग्री सज्जित होती है, हृदय अनुभूति की सरलता लाता है और बुद्धि विचार का मार्ग उद्घाटित करती है।"[2]

मिश्रजी जैसे प्रौढ़, स्पष्ट, और सुलझे हुये साहित्यिक से हिन्दी-साहित्य को अभी बहुत कुछ प्राप्त होना है। शोध, सम्पादन और समीक्षा इन तीनों क्षेत्रो में समान गति से बढ़ते हुये आप हिन्दी-गद्य की गरिमा में महत्वपूर्ण योग प्रदान करेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

---

१. हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृष्ठ २१५ .
२. हिन्दी का सामयिक साहित्य, पृष्ठ १३३

सम्प्रदाय के 'आत्मानुभव' की एकता और भिन्नता को थोड़े विस्तार से स्पष्ट कर देना चाहिये था। किसी भी युग में कोई भी कवि दूसरों के भावों को पूर्णतः तटस्थ रहकर कैसे व्यक्त कर सकता है ? साथ ही आज के कवि के वे ऐसे कौन से अपने भाव हैं जो अपने रूप में व्यक्त हुये हैं। ऐसी 'स्वानुभूति' जो इस सीमा तक वैयक्तिक है कि दूसरों की हो नहीं सकती, किसी भी युग में काव्य की आत्मा कैसे हो सकती है ? उसमें साधारणीकरण के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। उसकी अभिव्यक्ति पाठकों को रसात्मक न सही, रमणीय भी कैसे लग सकती है? साथ ही डॉ० साहब की यह मान्यता, समस्त मानवता में भावगत एकता के सिद्धान्त के आगे भी प्रश्न का चिह्न लगा देती है। विश्वास है, डॉ० साहब अपनी काव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अन्य कृतियों में इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विशद विचार प्रस्तुत करेंगे।

काव्य के मूल्यांकन सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा करते समय आपने उदार और सन्तुलित दृष्टिकोण सामने रखना चाहा है। आप लिखते हैं "विचार पूर्वक देखने से सिद्धान्त एकदम नवीन कभी नहीं निकला करते। जो नवीन सिद्धान्तों के रूप में युग-युग में हमारे सामने उपस्थित हुआ करते हैं, वे यथार्थतः प्राचीन सिद्धान्तों की युग के अनुकूल आवश्यक और नवीन व्याख्यायें हैं।"[1] स्पष्ट है कि आप प्राचीन काव्य-शास्त्रीय मान्यताओं की आधुनिक युग की आवश्यकताओं के अनुकूल व्याख्या करना उचित मानते हैं। उनकी अवहेलना न आवश्यक है और न सर्वथा उचित ही।

आपने हिन्दी काव्य में प्रचलित आधुनिक वादों पर भी विचार किया है। आपकी दृष्टि में इनमें कोई भी काव्यशास्त्र का प्रमुख और अनिवार्य अंग नहीं बन सकता। 'छायावाद' काव्य की आत्मा और स्वरूप दोनों में सूक्ष्मता ला सका है। अतः इसका सीधा सम्बन्ध काव्य-शास्त्र से है। किन्तु "विचार करने पर इसमें नवीन सिद्धान्त के योग्य कोई नवीन मान्यता भी नहीं है। अतः काव्य-शास्त्र से सम्बन्ध रखने की योग्यता रखते हुये भी उसमें इसे स्थान नहीं मिला।"[1] इसी प्रकार 'प्रगतिवाद' के अन्तर्गत आनेवाली बातें भी, आपकी सम्मति, में 'हमारे काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के प्रयोजन में पहले से ही व्यक्त हो चुकी है।" अतएव काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत इसका भी महत्वपूर्ण स्थान नहीं हो सकता।

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ४३०
२. वही, पृष्ठ ४२६।
३. वही, पृष्ठ ४३६।

मिश्रजी के विचारों और मान्यताओं पर ध्यान देने से यह प्रत्यक्ष है कि आप प्राचीन एवं नवीन सभी मान्यताओं के उचित एवं उपयोगी तत्वों को ग्रहण करने के पक्ष में है। अतः सिद्धान्त की दृष्टि से आप को 'औचित्यवादी' कहा जा सकता है। वैसे 'रस-सिद्धान्त' पर आपकी पूर्ण आस्था है। इस विषय पर आपने पर्याप्त चिन्तन भी किया है आपकी देखरेख में रससिद्धान्त के आधार पर आधुनिक हिन्दी-काव्यों का अध्ययन भी हो रहा है। सम्भव है, निकट भविष्य में आलोचना के मानदंड के विषय में आपके विचार और अधिक स्पष्ट होकर व्यक्त होंगे।

आपके निबन्धों में क्रमशः प्रौढ़ता परिलक्षित होती है। 'अध्ययन' में संगृहीत निबन्धों में कुछ साधारण कोटि के निबन्ध भी हैं किन्तु 'साहित्य साधना और समाज' के निबन्धों में आपका अध्ययन और चिन्तन अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित रूप में साकार हो सका है। आपकी दृष्टि से साहित्य की साधना जीवन की पूर्णता के लिये अधिक आवश्यक है। उसके द्वारा समाज का मानसिक और आध्यात्मिक विकास होता है। सत्साहित्य का सृजन एक प्रकार की साधना है जिसका उद्देश्य सामाजिक उन्नयन है। आपके इधर के निबन्ध इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर प्रस्तुत हुये हैं।

विकासशील व्यक्तित्व से बड़ी आशायें भी की जाती हैं। हमें विश्वास है कि आप अनुसन्धान और आलोचना, इन दोनों क्षेत्रों में हिन्दी-गद्य-साहित्य को बहुत कुछ दे सकेंगे।

डॉ० नगेन्द्र

हिन्दी के वर्तमान आलोचको मे दृष्टिकोण की उदारता, अध्ययन की व्यापकता और गम्भीरता, विचारों की प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति की प्राञ्जलता तथा मानदण्ड के औचित्य, सभी दृष्टियों से डॉ० नगेन्द्र ने पाठकों का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया है। आपके निबन्ध--'काव्य चिन्तन', 'विचार और अनुभूति', 'विचार और विवेचन' में संगृहीत—भी प्रायः आलोचनात्मक हैं। अतः मुख्यतः आपका साहित्यिक व्यक्तित्व, आलोचक का है।

नगेन्द्रजी शब्द और अर्थ के माध्यम से आत्म की निश्छल अभिव्यक्ति को साहित्य मानते हैं। आप 'आत्म' को अहं का पर्याय मानते हुये उसे समस्त वृत्तियों की समष्टि के रूप में स्वीकार करते हैं। आत्माभिव्यक्ति से लेखक के अहं का संस्कार होता है और उसे एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है। आपकी दृष्टि में यही साहित्य की सबसे बड़ी उपयोगिता है। 'आत्म' की अभिव्यक्ति को प्रधानता देकर आप समष्टि की उपेक्षा नहीं करते वरन् आपका निश्चित मत है कि अहं (आत्म) का उन्नयन या संस्कार समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही सम्भव है। इसीलिये आप सामाजिक और नैतिक मूल्यों को भी महत्व देते हैं किन्तु मानवीय मूल्यों का अपेक्षाकृत अधिक महत्व स्वीकार करते हैं। मानवीय मूल्यों का सम्बन्ध युग-युग की चेतना से है, जब कि सामाजिक और नैतिक मूल्य देश-विशेष और युग-विशेष से सम्बद्ध होते हैं।[1]

'विचार और विवेचन' की भूमिका में नगेन्द्र ने अपने को रसवादी बताया है। 'रस' के स्वरूप और स्थिति पर आपने विस्तार से विचार किया है, प्राचीन रस सम्बन्धी मान्यताओं का आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुशीलन किया है। 'काव्यानन्द' को आप ऐन्द्रिय, बौद्धिक, और आध्यात्मिक तीनों प्रकार के आनन्दों से भिन्न स्वीकार करते हैं। और अपना मत देते हुये उसमें ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्वों का लवण-नीर संयोग मानते हैं। काव्य की अनुभूति में न तो ऐन्द्रिय अनुभूति की स्थूलता और तीव्रता होती है और न बौद्धिक अनुभूति की अरूपता।[2] कवि का कार्य अपनी अनुभूति को इस प्रकार

---

१. देखिये, 'प्रतीक' अंक ४, वर्ष १, १६४७ में प्रकाशित 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति, शीर्षक निबन्ध।

२. 'विचार और विवेचन', पृष्ठ २१

अभिव्यक्त करना है कि वह सभी के हृदय में समान अनुभूति जगा सके। कवि की इसी शक्ति को आप साधारणीकरण की शक्ति मानते हैं और इसे ही उसकी सफलता का मूल आधार मानते हैं।

अपनी समीक्षा-पद्धति में नगेन्द्र ने भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों का समन्वय स्थापित किया है। भारतीय काव्य-शास्त्र में काव्यानुभूति का सूक्ष्म विवेचन है और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र कवि की मनःस्थिति तथा उसके निर्माण में प्रेरणा देनेवाले सामाजिक प्रभावों का विस्तृत विश्लेषण करता है। आप लिखते हैं—"इस प्रकार से दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर सहायक या पूरक हैं। इनके तुलनात्मक अध्ययन की सबसे बड़ी उपयोगिता यह हो सकती है कि इनका समन्वय करके एक पूर्णतर काव्यशास्त्र का निर्माण किया जाय, जिसमें स्रष्टा और भोक्ता के पक्षों का व्यापक विवेचन हो।"[1] दर्शन और मनोविज्ञान को भी आप काव्यशास्त्र की पूर्णता के लिये आवश्यक मानते हैं। अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में नगेन्द्र ने इन सभी तत्त्वों का आधार ग्रहण किया है। आपकी आलोचना शैली का परिचय देते हुये डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र ने लिखा है—"उन्होंने आलोचना की जो शैली अपनायी है, वह वाजपेयीजी की अपेक्षा शुक्लजी के अधिक निकट है।"[2] जहाँ तक भारतीय तथा पाश्चात्य समीक्षा पद्धतियों के समन्वित आधार-ग्रहण का प्रश्न है, नगेन्द्रजी शुक्लजी के निकट माने जा सकते हैं, किन्तु इनका ग्रहण का ढंग निश्चय ही शुक्लजी से भिन्न है। शुक्लजी भारतीय सिद्धान्तों की पूर्णता पर अधिक विश्वास करते हैं अतः पाश्चात्य सिद्धान्तों को बड़ी छान-बीन के उपरान्त संकोच के साथ स्वीकार करते हैं। उनका नीतिवादी दृष्टिकोण अधिक प्रबल है; और वे मनोविश्लेषण की गहराइयों में भी नहीं उतरे हैं। नगेन्द्रजी की समीक्षा-पद्धति में विस्तार अधिक है किन्तु शुक्लजी की गहराई को अभी वह नहीं छू सकी है। हाँ, हमें यह स्वीकार करने में तनिक भी आपत्ति नहीं कि अभिव्यक्ति की प्राञ्जलता, नगेन्द्र में, आज, हिन्दी के किसी भी आलोचक से अधिक है।

डॉ० नगेन्द्र के कृतित्व की एक बहुत बड़ी देन अन्वेषण और अनुसन्धान सम्बन्धी भी है। अन्वेषण के सम्बन्ध में आपके विचार बड़े ही स्पष्ट और मौलिक हैं। आपने अन्वेषण के प्रमुखतः छः रूप स्वीकार किये हैं। अज्ञात का ज्ञान, अनुपलब्ध की उपलब्धि, उपलब्ध का शोधन, विचार या सिद्धान्त का अन्वेषण, शैली या रूप-विधान-विषयक अन्वेषण, तथा भाव-प्रसंग अथवा प्रबन्ध-कल्पना

---

१. 'विचार और विवेचन', पृष्ठ १७

२. हिन्दी-आलोचना; उद्भव और विकास, पृष्ठ ४७७

विषयक अन्वेषण। अन्वेषण के सम्बन्ध में इस व्यापक दृष्टिकोण के कारण ही आप मौलिक आलोचना को भी अन्वेषण कहते हैं और जीवित साहित्यकारों के अध्ययन को भी अनुसन्धान का विषय मानते हैं।[1] इधर 'हिन्दी-अनुसंधान-परिषद' की स्थापना करके आपने इस दिशा में ठोस कदम उठाया है। इसी परिषद् के तत्त्वावधान में प्रकाशित होनेवाले 'हिन्दी-काव्यालंकार सूत्र', 'हिन्दी-वक्रोक्ति जीवित', 'हिन्दी-काव्य मीमांसा', 'हिन्दी-अभिनव भारती' तथा 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' ग्रन्थों के सम्पादन तथा भूमिका लेखन का उत्तरदायित्व भी आपने लिया है। 'हिन्दी काव्यालंकार सूत्र' प्रकाशित हो चुका है। इसकी भूमिका अपने में पूर्ण एक स्वतन्त्र कृति है। विश्वास है कि इन सभी ग्रंथों के प्रकाशित हो जाने पर न केवल संस्कृत के मान्य काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ हिन्दी में सुलभ हो जायेंगे वरन् इनकी भूमिकाओं और व्याख्याओं के आधार पर हिन्दी का प्रौढ़ और सर्वमान्य काव्यशास्त्र भी निर्मित हो सकेगा।

नगेन्द्र की शैली मूलतः विवेचनात्मक है। विवेचनोपरान्त आप क्रम से नम्बर डालकर उसका निष्कर्ष भी प्रस्तुत कर देते हैं। कभी-कभी अन्य विद्वानों के मतों का विवेचन करते समय, पहले क्रम से उनका उल्लेख कर देते हैं और फिर एक-एक को लेकर उस पर विचार करते हैं। व्यावहारिक आलोचनाओं में आलोच्य कृति की प्रमुख विशेषताओं को भिन्न-भिन्न शीर्षकों में रखकर देखते हैं। विवेचन की पूर्णता और स्पष्टता के लिये तुलना और व्याख्या का आधार भी ग्रहण करते हैं। इस प्रकार किसी भी कृति या प्रवृत्ति के विषय में आपका मत पाठक के सामने स्पष्ट रूप से आ जाता है। विषय को मनोरञ्जक बनाने के लिये, आपने वार्तालाप या स्वप्नकथा की पद्धतियों को भी अपनाया है।

आपके निबन्ध प्रायः विचारात्मक हैं किन्तु उनमें भावुकता का पुट बराबर मिलता है। कभी-कभी आलोच्य विषय की अनुकूलता के कारण भी आपकी शैली भावात्मक हो जाती है। 'कवीन्द्र के प्रति' निबन्ध श्रद्धा-प्रेरित होने के कारण भावात्मक हो गया है। इसी प्रकार 'प्रसाद' के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए आपने पूर्ण भावुकता से काम लिया है। आप लिखते हैं—

"शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरंगों को दबाकर धूप में मुसकरा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झञ्झा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ 'प्रसाद' का व्यक्तित्व था।"[2]

---

१. अनुसंधान का स्वरूप, पृष्ठ १०७

२. विचार और अनुभूति

अध्ययन की गम्भीरता के साथ-साथ यह भावात्मक शैली दबती जा रही है। कदाचित् इसीलिये 'विचार और अनुभूति' के पश्चात् दूसरे निबन्ध-संग्रह का नाम आपने 'विचार और विवेचन' रखा है। इधर के अनुवादित और सम्पादित संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों की सैद्धान्तिक भूमिकाओं में आपकी गम्भीर विवेचनात्मक शैली ही स्पष्ट हुई है। आपकी विवेचनात्मक शैली का एक नमूना देखिये—'साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव उसके लिये यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण' परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त जो कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। आत्म और अनात्म' चूंकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिये हमने इन्हें को ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अन्तर से इन्हें ही जीव और जगत—आध्यात्मिक मनोविज्ञान में अहं और इत्यं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है।"[1]

आपकी भाषा तत्सम प्रधान है। अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिये विदेशी शब्दों का प्रयोग भी कर देते हैं। पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करते समय आप समानान्तर अंग्रेजी शब्द भी देते जाते हैं। इससे शब्दार्थ ग्रहण करने में भ्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती। वाक्य प्रायः छोटे होते हैं किन्तु कहीं-कहीं पाँच या छः पंक्तियों तक के वाक्य भी मिल जाते हैं।

---

१. 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' शीर्षक निबन्ध, प्रतीक, अंक ४, वर्ष १।

उपसंहार

भारतेन्दु की प्रतिभा के प्रकाश में जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता तथा नवयुग की साहित्य-चेतना की एक साथ अभिव्यक्ति-क्षमता प्राप्तकर हिन्दी-गद्य ने अपना स्वरूप स्थिर किया। द्विवेदी-युग की सुधारवादिता तथा नैतिकता ने उसे प्रौढ़, परिमार्जित और परिष्कृत किया। छायावादी कलाकारों ने उसे अलंकृत किया। और आज, प्रयोगवादी सत्यान्वेषक उसे बौद्धिक सूक्ष्मता तथा प्रगतिवादी लेखक जीवन-शक्ति दे रहे हैं। इस स्वरूप-विकास के साथ उसकी विविध-विधायें—उपन्यास, नाटक, कहानी, निबन्ध, आलोचना, गद्य-गीत, एकांकी, रेखाचित्र, पत्र-साहित्य, यात्रा-साहित्य, जीवनी साहित्य, तथा उपयोगी साहित्य आदि—भी इसी सीमित अवधि में उद्भव और विकास कर सकी हैं। अब, हिन्दी के राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन हो जाने के उपरान्त हिन्दी-गद्य का दायित्व बढ़ गया है। उसे समस्त भारत-राष्ट्र की चेतना का भार वहन करना है। विभिन्न राज्यों में उसका प्रचार-प्रसार भी हो रहा है। अत: एक ओर जहाँ उसकी शक्ति बढ़ती जा रही है वहाँ दूसरी ओर उसकी एकरूपता खतरे में है। ज्ञान की अनेक धाराओं को समेटने के प्रयत्न में नये-नये शब्द बन-बिगड़ रहे हैं। हिन्दी में इतर प्रान्तों के लोग अपनी सुविधा के अनुसार उसके रूप को ढाल रहे हैं। अगले कई दशक हिन्दी-गद्य के लिए भीषण संक्रान्ति लेकर आयेंगे। हिन्दी-गद्य-साहित्य को आज ऐसे प्रान्तों की जन-चेतना का भी प्रतिनिधित्व करना है, जो विकास एवं प्रगति की दृष्टि से हिन्दी-प्रदेश से सैकड़ों वर्ष आगे हैं। आज हमें प्रत्येक चरण के साथ वर्षों की गति लेकर चलना है। साथ ही अपना प्रत्येक पग फूंक-फूंक कर रखना है। कहीं ऐसा न हो कि विश्व-चेतना के साथ चलने के प्रयत्न में हम अपने युग-युग के संस्कारों को ही खो दें। हिन्दी-साहित्य का अभ्युदय युग और जीवन के क्रियाशील एवं विकासमान तत्वों के अनिवार्य तकाज़े से हुआ है। वह 'वैदिक संस्कृत', 'संस्कृत', 'पाली', 'प्राकृत' तथा 'अपभ्रंश' भाषाओं की सहस्रों वर्षों की विशाल परम्परा को समेट कर आगे बढ़ा है। उसकी अपनी निजी प्रवृत्ति है। विकास-विस्तार और शक्ति सञ्चय के इस युग में हमें उसकी प्रवृत्तियों की रक्षा भी करनी है। उसके विशिष्ट संस्कारों को अक्षुण्ण रखना है और उसकी चेतना को स्वस्थ एवं सन्तुलित रखना है। यह भार आज की पीढ़ी पर है। यह दायित्व हमारा है।

परिशिष्ट—१

पत्र-पत्रिकाओं का संक्षिप्त इतिहास

हिन्दी-पत्रकारिता का जन्म हिन्दी-प्रदेश से दूर कलकत्ता नगरी में हुआ। प्राप्त सामग्री के आधार पर हिन्दी का पहला पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' था। इसका प्रकाशन ज्येष्ठ वदी ९ सं० १८८३, ता० ३० मई १८२६ को हुआ था।[1] लगभग डेढ़ वर्ष चलने के बाद यह बन्द हो गया। यह पत्र साप्ताहिक था। सन् १८२६ से लेकर १८७२ तक हिन्दी पत्रकारिता शैशवावस्था में थी। इस अवधि में निकलने वाले उल्लेख्य पत्र निम्नलिखित हैं।

'वंगदूत' (१८२९), 'प्रजामित्र' (१८३४), 'बनारस अखबार' (१८४५), 'मार्तण्ड' (१८४६), 'ज्ञानदीप' (१८४६), 'मालवा अखबार' (१८४९), 'जगदीपक भास्कर' (१८४९), 'सुधाकर' (१८५०), 'साम्यदंड मार्तण्ड' (१८५०), 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), 'ग्वालियर गज़ेट' (१८५३), 'समाचार सुधावर्षण' (१८५४), 'प्रजाहितैषी' (१८५५), 'सर्वहितकारक' (१८५५), 'सूरज प्रकाश' (१८६१), 'जगलाभ चिन्तक' (१८६१), 'सर्वोपकारक' (१८६१), 'प्रजाहित' (१८६१), 'लोकमित्र' (१८६५), 'तत्त्वबोधिनी पत्रिका' (१८६५), 'ज्ञान प्रदायिनी पत्रिका' (१८६६), 'सोम प्रकाश' (१८६६), 'सत्यदीपक' (१८६६), 'वृत्तान्त विलास' (१८६७), 'ज्ञानदीपक' (१८६७), 'कविवचन सुधा' (१८६७), 'धर्मप्रकाश' (१८६७), 'विद्याविलास' (१८६७), 'वृत्तान्तदर्पण' (१८६७), 'विद्यादर्श' (१८६९), 'ब्रह्मज्ञान प्रकाश', (१८६९), 'पापमोचन' (१८६९), 'जगदानन्द' (१८६९), 'जगत प्रकाश' (१८६९), 'अलमोड़ा अखबार' (१८७०), 'आगरा' अखबार, (१८७०), 'बुद्धिविलास' (१८७०), 'हिन्दूप्रकाश' (१८७१), 'प्रयागदूत' (१८७१), 'बुन्देलखंड अखबार' (१८७१), 'प्रेमपत्र' (१८७२), 'बोधा समाचार' (१८७२)[2], उपर्युक्त पत्रों में दैनिक पत्र केवल एक था 'समाचार सुधावर्षण।' शेष मासिक या साप्ताहिक थे। प्रायः ये पत्र दो या अधिक भाषाओं में निकलते थे। पत्रकारिता का क्षेत्र आगरा हो गया था। इनका सम्बन्ध प्रायः सुधारवादी आन्दोलनों से था। इनकी भाषा-सम्बन्धी कोई निश्चित नीति न थी। 'बनारस अखबार' (१८४५) काफी जोरदार था। उसकी भाषा-नीति का विरोध 'सुधाकर' (काशी) तथा 'प्रजाहितैषी' (आगरा) कर

---

१. समाचार पत्रों का इतिहास, अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी पृष्ठ ९३।

२. 'आलोचना' इतिहास विशेषांक, पृष्ठ ३२, डॉ० रामरतन भटनागर।

रहे थे। 'कवि वचन सुधा' (१८६७), भारतेन्दु की प्रतिभा से प्रकाशित होकर नये युग की सूचना दे रही थी।

हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु का आगमन एक ऐतिहासिक घटना थी। १८७३ ई० में 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' का प्रकाशन हुआ। इसके प्रकाशन के साथ हिन्दी-भाषा को एक निश्चित रूप मिला। भारतेन्दु ने 'श्री हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' (१८७४), 'बालाबोधिनी', 'स्त्री जन को प्यारी' (१८७४) आदि अन्य पत्रिकाओं द्वारा पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। १८७३ ई० से लेकर १९०० ई० तक हिन्दी पत्रकारिता उन्हीं के आदर्शों पर चलती रही। इस अवधि के अन्तर्गत निम्नलिखित महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित हुईं।

'भारतमित्र' (१८७७), 'हिन्दी प्रदीप' (१८७७), 'उचित वक्ता' (१८७८), 'सार सुधानिधि' (१८७८), 'सज्जन कीर्ति सुधाकर' (१८७८), 'आनन्द कादम्बिनी' (१८८१), 'प्रयाग समाचार' (१८८२), 'भारतेन्दु' (१८८२), 'देवनागरी प्रचारक' (१८८२), 'हिन्दोस्थान' (१८८३), 'ब्राह्मण' (१८८३), 'पीयूष प्रवाह' (१८८४), 'भारत जीवन' (१८८४), 'शुभचिन्तक' (१८८८), 'हिन्दी बंगवासी' (१८९०), 'कवि व चित्रकार' (१८९१), 'साहित्य-सुधा-निधि' (१८९४)। इन पत्रों में 'भारतमित्र' अधिक प्रभावशाली था। 'हिन्दोस्थान' १८८५ में कालाकांकर से निकलने लगा। इसके पहले वह लन्दन में हिन्दी-अंग्रेजी दो भाषाओं में निकलता था। प्रारम्भ में यह कांग्रेस का समर्थक था किन्तु अंत तक उसका साथ न दे सका।[1] अन्य पत्रों में 'ब्राह्मण' बड़ा तेजस्वी था। १८९५ ई० में काशी से 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' तथा १९०० ई० में प्रयाग से 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में नया अध्याय जुड़ा। १९०२ ई० में 'समालोचक', १९०५ में 'इतिहास' और १९०९ में 'इन्दु' के प्रकाशन से हिन्दी में गम्भीर साहित्य की सृष्टि होने लगी।

१९०० से १९२१ तक साहित्यिक और राजनैतिक जागरण के समानान्तर प्रवाह के कारण साहित्यिक और राजनैतिक पत्रों की दो धारायें हो गईं। राजनीतिक क्षेत्र में 'अभ्युदय' (१९०५), 'प्रताप' (१९१३), 'कर्मयोगी' (१९१४), 'कलकत्ता समाचार' (१९१४), 'विश्वमित्र' (१९१६), 'स्वतन्त्र' (१९२०), 'आज' (१९२०), अग्रणी थे। द्वितीय महायुद्ध के कारण इनमें अधिक उत्साह आ गया था।

१९२१ ई० के बाद साहित्यिक क्षेत्र में 'माधुरी' (१९२३), चाँद (१९२३), 'मनोरमा' (१९२४), 'समालोचक' (१९२४), 'कल्याण' (१९२६), 'सुधा'

१. समाचार पत्रों का इतिहास, पृष्ठ ३३१।

परिशिष्ट २

सहायक सामग्री

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की भूमिका : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पं० रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास : कामताप्रसाद जैन
राजस्थानी भाषा और साहित्य : मोतीलाल मेनारिया
फोर्ट विलियम कालेज : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक हिन्दी-साहित्य : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
भारतेन्दु युगीन निबन्ध : शिवनाथ एम० ए०
महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग : डॉ० उदयभानु सिंह
आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास : डॉ० श्रीकृष्णलाल
हिन्दी-साहित्य : डॉ० भोलानाथ
भारतेन्दु-युग : डॉ० रामविलास शर्मा
द्विवेदी युगीन निबन्ध साहित्य : गंगाबख्श सिंह
हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ : राजकमल प्रकाशन
हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
हिन्दी-आलोचना : उद्भव और विकास : डॉ० भगवत स्वरूप मिश्र
हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास : डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल
हिन्दी उपन्यास : शिवनारायण श्रीवास्तव
हिन्दी नाटक-साहित्य का विकास : डॉ० सोमनाथ गुप्त
हिन्दी पुस्तक-साहित्य : डॉ० माताप्रसाद गुप्त
हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० दशरथ ओझा
हिन्दी गद्य-शैली का विकास : डॉ० जगन्नाथ शर्मा
हिन्दी निबन्धकार : जयनाथ 'नलिन'
हिन्दी नाटककार : जयनाथ 'नलिन'
एकांकी एकावली : प्रो० रामचन्द्र वर्मा
आधुनिक साहित्य : पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास : डॉ० भगीरथ मिश्र
हिन्दी सेवी संसार : प्रेमनारायण टंडन
समाचार पत्रों का इतिहास : पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

बाबू श्यामसुन्दरदास (अप्रकाशित) : श्री राजकिशोर रस्तोगी
प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन : किशोरीलाल गुप्त
जयशंकर प्रसाद : पं० नंददुलारे वाजपेयी
प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन : डॉ० जगन्नाथ शर्मा
प्रेमचन्द : जीवन और कृतित्व : हंसराज रहबर
आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : शिवनाथ एम० ए०
समीक्षा की समीक्षा : प्रभाकर माचवे
रूपक रहस्य : बाबू श्यामसुन्दरदास
कबीर ग्रंथावली (प्रथम सस्करण) : बाबू श्यामसुन्दरदास
भारतेंदु-ग्रंथावली–भाग ३ : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
चिन्तामणि, भाग १ : २ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द
विचार वितर्क : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
कल्पलता : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी
सिद्धान्त और अध्ययन : बाबू गुलाबराय
मन की बातें : बाबू गुलाबराय
दीपशिखा : महादेवी वर्मा
आधुनिक कवि : महादेवी वर्मा
महादेवी का विवेचनात्मक गद्य : सं० गंगाप्रसाद पाण्डेय
शृंखला की कड़ियाँ : महादेवी वर्मा
स्मृति की रेखायें : महादेवी वर्मा
अतीत के चलचित्र : महादेवी वर्मा
युगवाणी : सुमित्रानन्दन पन्त
उत्तरा : सुमित्रानन्दन पन्त
गद्य पथ : सुमित्रानन्दन पन्त
प्रबन्ध प्रतिमा : पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
बिल्लेसुर बकरिहा : पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
निरुपमा : पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
साहित्य देवता : पं० माखनलाल चतुर्वेदी
कला का अनुवाद : पं० माखनलाल चतुर्वेदी
आकाश दीप : जयशंकर प्रसाद
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : जयशंकर प्रसाद
विशाख : जयशंकर प्रसाद

मिट्टी की ओर : दिनकर
अर्द्धनारीश्वर : दिनकर
हमारी सांस्कृतिक एकता : दिनकर
साहित्य का श्रेय और प्रेय : जैनेन्द्र कुमार
प्रस्तुत-प्रश्न : जैनेन्द्र कुमार
मैं और मैं : जैनेन्द्र कुमार
विवेचना : इलाचन्द्र जोशी
त्रिशंकु : अज्ञेय
नदी के द्वीप : अज्ञेय
छींटे : उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
बात बात में बात : यशपाल
देखा सोचा समझा : यशपाल
विचार और अनुभूति : डॉ० नगेन्द्र
विचार और विवेचन : डॉ० नगेन्द्र
अनुसन्धान का स्वरूप : डॉ० सावित्री सिनहा
माटी का फूल : प्रो० रामअधार सिंह
परशुराम चतुर्वेदी : एक परिचय : प्रस्तुतकर्ता, रामस्वरूप चतुर्वेदी
सिन्दूर की होली (भूमिका) : पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र
द्विवेदी-पत्रावली : सं० बैजनाथ सिंह 'विनोद'

पत्र-पत्रिकायें

विशाल भारत (कलकत्ता)
आलोचना (दिल्ली)
ज्ञान शिखा (लखनऊ विश्वविद्यालय)
अवन्तिका (पटना)
प्रतीक (प्रयाग, दिल्ली)
संगम (प्रयाग)
संगम (लखनऊ)

हमारे अन्य हिन्दी प्रकाशन

[illegible]
संपादक–प्रो० आनंद प्रकाश दीक्षित ५)

श्री चन्द्रावली नाटिका
संपादक–डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय १०)

भारत-दुर्दशा (नाटक)
संपादक–डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ३)

रीतिकालीन हिन्दी कविता और सेनापति
लेखक–रामचन्द्र तिवारी १०)

रीतिकालीन हिन्दी कविता
लेखक–रामचन्द्र तिवारी ॥)

मुद्रिका (नाटक)
लेखक–प्रो० सद्गुरुशरण अवस्थी १)

कला का अनुवाद (कहानी-संग्रह)
लेखक–पं० माखनलाल चतुर्वेदी २)

[illegible] (कविता-संग्रह)
कवि–पं० माखनलाल चतुर्वेदी ४)

नाव के पाँव (कविता-संग्रह)
कवि–डॉ० जगदीश गुप्त २॥)

रचनानुवाद कौमुदी
लेखक–डॉ० कपिलदेव द्विवेदी १)

प्रारम्भिक रचनानुवाद कौमुदी
लेखक–डॉ० कपिलदेव द्विवेदी १)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर